श्री गुरुजी समग्र
खंड
२

खंड १ : आदरांजलि

श्री गुरुजी का जीवन पट और महापुरुषों को दी गई श्रद्धांजलि।

खंड २ : संघ मंथन

प्रतिबंध के बाद नागपुर व उत्तरप्रदेश में दिए भाषण। सिंदी, इंदौर व ठाणे की चिंतन बैठकों में दिये गए भाषण।

खंड ३ : प्रबोधन

कार्यकर्ताओं को दिशादर्शन, बैठकें, प्रेरक पाथेय और कार्यक्रमों में दिए उद्‌बोधन।

खंड ४ : प्रशिक्षण

संघ शिक्षा वर्गों में १९३८ से १९७२ तक के बौद्धिक।

खंड ५ : समाजोद्‌बोधन

विविध संस्थाओं में दिए भाषण, विजयादशमी के बौद्धिक, उत्सवों पर दिए बौद्धिक।

खंड ६ : लेखन-कार्य

लेख, संस्थाओं की अभ्यागत–पुस्तिकाओं में अंकित अभिप्राय, पुस्तकों के लिए लिखी प्रस्तावनाएँ, छात्रकालीन पत्र, अंतिम तीन पत्र, सारग्राही आश्रम की दैनंदिनी।
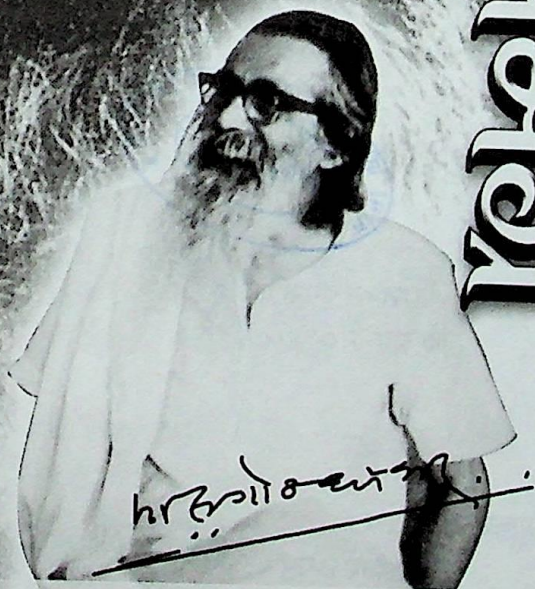
श्री गुरुजी समग्र
खंड
२
संघ मंथन

स्वत्वाधिकार :

डा. हेडगेवार स्मारक समिति
डा. हेडगेवार भवन,
महाल, नागपुर-४४००३२

प्रकाशक :

सुरुचि प्रकाशन
देशबंधु गुप्ता मार्ग,
नई दिल्ली-११००५५

प्रथम संस्करण :

माघ कृष्ण एकादशी युगाब्द ५१०६
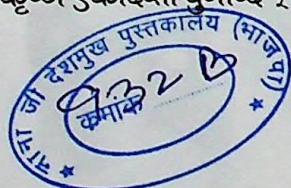
मुद्रक :

गोपसन्स पेपर्स लि.,
नोएडा-२०१३०१

मूल्य प्रति संच :

दो हजार रुपए
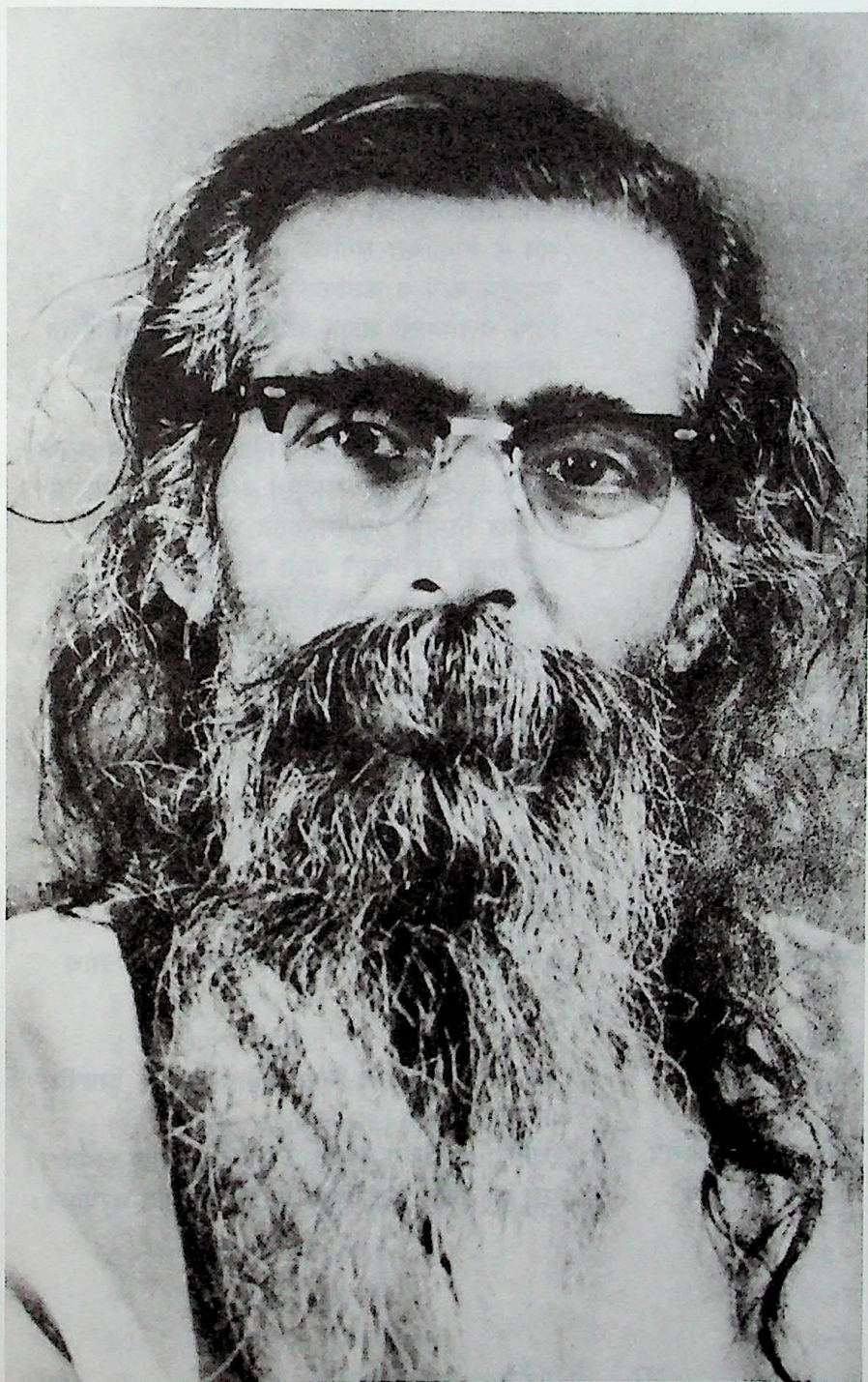
पारिभाषिक शब्द

सरसंघचालक	–	संघ के मार्गदर्शक।
सरकार्यवाह	–	संघ के निर्वाचित सर्वोच्च पदाधिकारी।
संघचालक	–	स्थानीय कार्य व कार्यकर्ताओं के पालक।
मुख्यशिक्षक	–	नित्य चलनेवाली शाखा के कार्यक्रमों को संचालित करनेवाला।
कार्यवाह	–	शाखा क्षेत्र का प्रमुख।
गटनायक	–	शाखा क्षेत्र के एक छोटे भौगोलिक भाग का प्रमुख।
प्रचारक	–	संघकार्य हेतु पूर्णतः समर्पित अवैतनिक कार्यकर्ता।
शाखा	–	संस्कार निर्माण हेतु नित्यप्रति का एकत्रीकरण।
उपशाखा	–	एक स्थान पर चलने वाली विभिन्न शाखाएँ।
बैठक	–	विचार-मंथन व सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया हेतु एकत्र बैठने की प्रक्रिया।
बौद्धिक	–	वैचारिक प्रबोधन का कार्यक्रम, भाषण।
समता	–	अनुशासन के प्रशिक्षण हेतु शारीरिक कार्यक्रम।
संपत्	–	कार्यक्रम प्रारंभ करने हेतु स्वयंसेवकों को निश्चित रचना में खड़ा करने की आज्ञा।
विकिर	–	शाखा-कार्यक्रम की समाप्ति की अंतिम आज्ञा।
दंड	–	लाठी।
चंदन	–	एक साथ मिल-बैठकर जलपान करना।
सहभोज	–	अपने-अपने घर से लाए भोजन को एक साथ मिल-बैठकर करना।
शिविर	–	कैंप।
संघ शिक्षा वर्ग	–	संघ की कार्यपद्धति सिखाने हेतु क्रमबद्ध त्रिवर्षीय प्रशिक्षण योजना।
सार्वजनिक समारोप	–	शिविर तथा वर्ग का अंतिम सार्वजनिक कार्यक्रम।
खासगी समारोप	–	वर्ग का केवल शिक्षार्थियों के लिए दीक्षांत कार्यक्रम।

अनुक्रमणिका

नागपुर भाषणमाला

ध्येयदर्शन (उत्तरप्रदेश)

सिंदी

इंदौर

ठाणे

खंड - २

संघ-मंथन

संघकार्य के बारे में संपूर्ण विचार करने के लिए समय-समय पर विचार-मंथन करना संघ की अपनी विशेषता रही है। श्री गुरुजी के कार्यकाल में इंदौर, सिंदी व ठाणे में इस प्रकार के शिविर हुए थे। वैसे ही सन् १९४८ में संघ पर लगा प्रतिबंध हटने के पश्चात् नागपुर व उत्तरप्रदेश में कार्यकर्ताओं को उनके द्वारा आगामी कार्यविषयक दिया गया मार्गदर्शन विशेष महत्त्व रखता है। इनको कालक्रमानुसार इस खंड में दिया गया है।

नागपुर-भाषणमाला

शासन द्वारा १२ जुलाई १९४९ को संघ पर लगाए गए सारे प्रतिबंध हटा लिए जाने के बाद १३ जुलाई से संघ का दैनिक कार्य पुनः प्रारंभ हुआ। १८ से २२ अक्तूबर १९४९ तक प्रतिदिन सायंकाल नागपुर के सभी प्रमुख स्वयंसेवकों के सामने श्रीगुरुजी द्वारा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मूलभूत विचार रखा गया। प्रतिबंध-काल में संघ का दैनिक कार्य स्थगित हो गया था। वायुमंडल में विरोधी विचारों का तांडव नृत्य हो रहा था। प्रतिबंध की उस पृष्ठभूमि में स्वयंसेवकों को योग्य विचार करने तथा संघकार्य के लिए अथक परिश्रम करने की प्रेरणा देनेवाली प्रस्तुत भाषणमाला का अनन्य महत्त्व था। यह उन पाँच भाषणों का प्रतिवृत्त है।

---

१. चिरंतन की ओर ध्यान

(१८ अक्तूबर १९४९)

बीच में एक ऐसा कालखंड बीता कि अनेकों को निश्चितता से भिन्न-भिन्न विचार-प्रवाहों का मूलगामी अध्ययन करने का अवसर मिला। मैं सोचता हूँ कि उन्होंने इस बात पर भी विचार किया होगा कि उन विचार-प्रवाहों की पृष्ठभूमि में अपने कार्य का स्थान क्या है या उन विचार-प्रवाहों के रहते अपने कार्य की आवश्यकता है भी या नहीं। अकर्मण्यावस्था में विचारों की ऐसी प्रेरणा होना, अपने आचरण पर उसका

प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। साथ ही यह बात भी दृष्टिगोचर होती है कि अपनी दैनिक कार्यपद्धति के कारण जो स्वाभाविक रचना बनती गई, वह भी इस कालखंड में नहीं रही। संपर्क भी कम हो गया। कार्यक्रमों के कारण उत्पन्न होनेवाले कुछ गुण अनभ्यास से कम हो गए। जब फिर से कार्य की रचना करने का अवसर प्राप्त हुआ, तब अनेक अड़चनें और अनेक समस्याएँ सामने आईं।

भिन्न-भिन्न विचारप्रवाहों के चिंतन के परिणामस्वरूप अपने कार्य के विषय में पहले जो एक दृढ़ धारणा थी, उसपर अनेक प्रकार के आघात होने लगे। हाल ही में कार्यकर्ताओं की जो प्रदीर्घ बैठकें हुईं, उनमें इस आघात का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हुआ। अनेक प्रश्न पूछे गए। उनके संकलित उत्तर देने का प्रयास भी हुआ। बीच के कालखंड में इस प्रकार का जो आघात अपनी धारणाओं पर हुआ, उसपर विचार करने के लिए वास्तव में ऊपर कहे गए कार्यक्रम हुए। उनका फल क्या होगा, यह कहना कम से कम मेरे लिए कठिन है। इसमें कोई संदेह नहीं कि निष्कर्ष निकलना ही चाहिए कुछ न कुछ विचार दृढ़ होना ही चाहिए। परंतु इस अवस्था में मैं मात्र स्वाभाविकता से सोचता हूँ कि ऐसी क्या बात हुई है, जिससे भिन्न-भिन्न विचार अनेकों के मन में पैदा होकर मतभेदों को अवकाश मिला। मैंने बहुत सोचा, परंतु अब तक मुझे कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं मिला है। साधारणतः एक विचार आता है कि अनेकों के अंतःकरण में यह शंका आती हो कि अपने देश की परिस्थिति को देखते हुए पूर्व-पद्धति से काम करने की कुछ आवश्यकता है या नहीं, क्या हमें इसका विचार नहीं करना चाहिए?

परिस्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है?

इस बारे में प्रथम प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या अपने देश की परिस्थिति में सचमुच परिवर्तन हुआ है? मेरी दृष्टि से तो परिस्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं हुआ है। एक स्थूल परिवर्तन मात्र अवश्य दिखता है। पहले यहाँ विदेशियों का प्रत्यक्ष राज्य था; वे अब चले गए, इसलिए अनेकों को यह आभास होता है कि परिस्थिति में परिवर्तन हुआ है। यहाँ जो विदेशी सत्ताधारी थे, वे आज नहीं हैं, यह घटना सत्य है, इसके विषय में कोई विवाद नहीं है। इस घटना का अप्रत्यक्ष परिणाम क्या होगा, यह धीरे-धीरे ज्ञात होगा ही। जनसाधारण पिछले दो वर्षों से विदेशी सत्ता का निर्मूलन करने संबंधी स्तुति-स्तोत्र गाने में मशगूल है। परंतु इस विषय पर

भी जन-साधारण में अनेक बार परस्पर-विरोध दिखाई देता है। उदाहरणार्थ- १५ अगस्त १९४७ को स्वतंत्रता-दिवस मनाया गया। उस अवसर पर एक स्थान पर एक फलक पर लिखा हुआ था- 'युद्ध किए बिना हमें स्वतंत्रता मिली है, रक्त की एक बूँद भी बहाए बिना हमने स्वतंत्रता प्राप्त की। विश्व के इतिहास में हमने अभूतपूर्व कार्य कर दिखाया है।' दूसरी ओर यह कहा जा रहा था कि पराक्रम, अपने त्याग और रुधिराभिषेक से हमने स्वतंत्रता प्राप्त की। इन परस्पर विरोधी विधानों की ओर क्षण-भर दुर्लक्ष्य कर, एक बात जन-साधारण अभिमान से बार-बार कह रहा है कि विदेशी सत्ता का निर्मूलन हुआ है। उस वायुमंडल के कारण ऐसा लगता है कि परिस्थिति में परिवर्तन हुआ है। पहले के समान प्रत्यक्ष रूप से विदेशी सत्ता आज अपने मार्ग में रोड़ा नहीं बन सकती है।

परंतु इसके सिवा परिस्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है? संघ-स्थापना के प्रारंभ में देश में जो अवस्था थी, उसमें से यह स्थूल रूप में हुआ एक परिवर्तन घटा दिया जाए, तो बाकी परिस्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है? हिंदुस्थान में रहनेवाले समाज वे ही हैं। उनके साथ के संबंधों में भी परिवर्तन नहीं हुआ है। लोगों के कहने का अभिप्राय है कि परिवर्तन हुआ है, परंतु उसे मैं मानने को तैयार नहीं हूँ। इतना ही कह सकते हैं कि ५० वर्ष पूर्व भिन्न-भिन्न समाजों के एक हो जाने के भ्रामक दृश्य और वातावरण का प्रभाव इतना बढ़ा था कि हकीम अजमल खान रहीम एक राजनैतिक हिंदू संस्था हिंदू महासभा के स्वागताध्यक्ष नियुक्त हुए थे। अंग्रेजों के सार्वभौम शासन के कारण एक राष्ट्र-भावना के निर्माण होने का जो दृश्य उस समय दिखता था, वह झूठा साबित हुआ। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे लोगों को उसकी असत्यता अनुभव होती गई। आज वही ५० वर्ष पूर्व का भ्रामक दृश्य दिखाई दे रहा है। यहाँ रहनेवाले भिन्न-भिन्न समाजों को आपस में लड़ने के लिए उद्युक्त करनेवाले अंग्रेज चले गए हैं। इस आशा से कि अब सब कुछ ठीक हो जाएगा, ऐसा मानना बड़ी भारी भूल होगी कि समाज-संबंधों में परिवर्तन हुआ है। इस समस्या का फैसला तो कालगति द्वारा होगा। परिस्थिति में परिवर्तन हुआ है, यह भ्रामक धारणा ही अपने हृदय में जड़ जमा बैठी है। यदि वास्तविकता का ज्ञान हमें नहीं हुआ तो यह दिखावटी एकता छिन्न-विच्छिन्न होने का पुराना दृश्य हमें पुनरपि देखने को मिलेगा और पुराने अनुभव की पुनरावृत्ति होगी। समाजों-समाजों के परस्पर संबंधों में कम से कम मुझे तो किसी तरह का परिवर्तन दिखाई नहीं देता।

इसके साथ ही संघ-स्थापना के समय जो अन्य समस्याएँ थीं, वे ज्यों की त्यों हैं। वे समस्याएँ क्या हैं यह आप भली-भाँति जानते हैं। अपने समाज में एक राष्ट्रीयत्व की कल्पना पैदा नहीं हुई है। इस विश्व में अपना भी एक विशिष्ट जीवन है, इसका ज्ञान नहीं है। ज्ञानशून्य, आशाशून्य, अपराक्रमी वृत्ति सारे समाज में दिखती है। यदि ऐसा कहा जाए कि जिन दुर्गुणों के कारण अपना समाज निःसत्व और दुर्बल बना, उनमें से प्रत्येक दुर्गुण ज्यों का त्यों है, तो अतिशयोक्ति- प्रमाद नहीं माना जाएगा। २५ वर्ष पूर्व जिस परिस्थिति में संघकार्य की आवश्यकता मालूम हुई, उसमें और आज की परिस्थिति में यदि कोई अंतर है, तो वह यह है कि उस समय यह आवश्यकता समझनेवाला एक ही पुरुष था और आज उसका विचार करनेवाले अनेक लोग सर्वत्र दिखाई देते हैं। यदि यह सच है कि परिस्थिति में दृश्य मात्र का अंतर है, मूलभूत ऐसा कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, तो मन पर जो आघात- प्रत्याघात होते हैं, संदेह-पटल निर्मित होते हैं उनका मूल कारण क्या है, इस विषय पर गंभीरता से सोचने की आवश्यकता है– इसमें कोई संदेह नहीं।

मन में संदेह और शंकाएँ निर्माण होना कोई बुरी बात नहीं है, परंतु अपने प्रश्नों का उत्तर खोजने की दृष्टि से उनकी ओर देखा जाए और उनपर विचार किया जाए, जिसे हम परिवर्तित परिस्थिति मानते हैं, क्या उसमें यह दिखाई देता है कि हममें एकता और राष्ट्र-भावना निर्माण हुई है? क्या समाज के परस्पर संबंधों पर वास्तविक दृष्टि से सोचने की क्षमता निर्माण हुई है। क्या विशुद्ध राष्ट्रवृत्ति निर्माण हुई है? क्या सुसंगठित समाज-जीवन निर्माण हुआ है? इस प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 'नहीं' में है। अवांच्छित बातों को दूर कर, सुव्यवस्थित, सुसंगठित, राष्ट्रीय भाव से ओतप्रोत ऐसी समाज-रचना, समाज के व्यक्तियों का हृदय-परिवर्तन और उसपर आधारित व्यवहार निर्माण करना, इसमें से कोई एक बात भी पूरी हुई है क्या? अंशतः सफलता मिली है, ऐसा आभास होता है। कुछ आशा पैदा होती है, परंतु यह सत्य है कि पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई है। अतः अपने मन को विचलित करनेवाले भिन्न-भिन्न आघात क्यों होते हैं? मेरे मत से इसका एक संभावनीय कारण यह दिखता है कि दैनिक जीवन की समस्याओं को हाथ में न लेकर, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं का ज्ञान होने पर भी उनकी ओर दुर्लक्ष्य कर, उन्हें अपने व्यवहार की सीमा के परे रखकर काम चालू रखना सफलता-प्राप्ति की दृष्टि से कहाँ तक

लाभदायी होगा, इस विचार से आघात होता होगा। इन कारणों का सम्यक् विचार होना चाहिए।

सम्यक् विचार-विश्लेषण हो

पहली बात यह है कि जब अपना कार्य प्रारंभ हुआ, क्या तब आर्थिक और राजनैतिक समस्याएँ या वर्तमान विविध विचार प्रणालियाँ नहीं थीं। ये समस्याएँ हल करने के प्रयत्न में ही फल-प्राप्ति है ऐसा सोचनेवालों और उपदेश देनेवालों की उस समय कमी थी क्या? मुझे स्मरण होता है कि विविध कार्यों के लिए उस समय संघ को आवाहन किया जाता रहा कि 'तुम लोगों में नेतृत्व के योग्य कोई न हो तो हम नेता होने को तैयार हैं, हमारे पीछे आओ– ऐसा कहनेवाले अनेक लोग थे। आज भी उनकी कमी नहीं है। उस समय प्रत्यक्ष विदेशी शासन था जिसे बर्दाश्त करना किसी भी राष्ट्रभक्त के लिए असंभव था। इसलिए राजनैतिक समस्याएँ तथा अन्य समस्याएँ आज से भी अधिक उग्र रूप में सामने थीं। फिर भी उन समस्याओं का प्रत्यक्ष विचार न कर काम करना उस समय उचित लगा। आज तो विदेशी शासन नहीं रहा है, फिर यह नई भावना अपने अंतःकरणों में क्यों पैदा हुई है?

संभवतः दो कारणों से यह भावना आई हो। एक तो आज चारों तरफ सत्ता के लिए स्पर्धा हो रही है। इतने वर्षों तक कठिन परिस्थिति में काम करने के बाद हम उस स्पर्धा से क्यों दूर रहें; सत्ता ग्रहण करने का प्रयास क्यों न करें, ऐसा विचार मन में आता हो। परंतु इससे अधिक अच्छा दूसरा भी विचार रह सकता है– अपने सिवाय सत्ता का सदुपयोग करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, इसलिए हमें सत्ता ग्रहण करनी ही चाहिए। यह दूसरा विचार बड़ा रोचक और मन को संतोष देनेवाला लगता है। उसका विश्लेषण मैं आज नहीं करूँगा। आप सोचें और तय करें कि यों संसार से ही पृथक रहनेवाले, सत्ता-यंत्र विशुद्ध रखनेवाले, परंतु कठिन समय पर सत्ता ग्रहण कर समाज-धारणा करनेवाले जो महापुरुष हैं, उनके समान अपनी योग्यता है क्या? अपना व्यवहार इतना विशुद्ध है क्या? यह आप ही ठीक से सोचें।

अब इस भावना में से मन में भिन्न-भिन्न तरंगें उत्पन्न हो सकती हैं। ऐसा भी लग सकता है कि अपने कार्यक्षेत्र में प्रगति के लिए अब गुंजाइश नहीं है। एक अच्छे स्वयंसेवक ने मुझसे कहा था– 'अब रास्ता तो

बंद हो गया है। मानो हम एक बंद गली के मुहाने पर आ पहुँचे हैं और इधर-उधर मार्ग ढूँढे बिना अब हम आगे जा ही नहीं सकते।' भिन्न-भिन्न कार्यप्रणालियों को स्वीकार कर काम किए बिना हम आगे जा ही नहीं सकते। मैंने पूछा– 'तो क्या फिर अपने कार्य को ताला लगाकर बंद कर डालें?' उसने कहा– 'वर्तमान स्वरूप बंद कर कबाड़खाने में डाल देना ही उचित होगा। वह समाप्त होना चाहिए।' बहुतों ने यह मत प्रकट किया है कि अन्य पद्धतियाँ और विचार-प्रणालियाँ स्वीकार करना आवश्यक है। आज ही यह मत व्यक्त हो रहा है, ऐसा नहीं, ५-६ वर्षों से यह मत व्यक्त किया जा रहा है। उन्हें लगता है कि आज की कार्यपद्धति द्वारा काम करने से प्रगति नहीं होगी। उन लोगों को लगता है कि परिस्थिति ५-६ वर्ष पूर्व ही बदल चुकी है, केवल दो वर्ष पूर्व नहीं। विचार करने के इस पहलू का भी हमें निरीक्षण करना है।

विचारार्थ प्रश्न

आज एक प्रश्न मैं आपके विचारार्थ रखता हूँ। जिन समस्याओं को समाज के प्रश्न के नाते सामने रखकर हमने कार्य का प्रारंभ और प्रसार किया, उन्हें राजनैतिक या आर्थिक विचारधाराओं के आघात के फलस्वरूप अपनी कार्यप्रणाली में परिवर्तन कर क्या दूर कर सकते हैं, क्या सामाजिक अवगुणों का विनाश करके आवश्यक गुण समाज में पैदा कर सकते हैं? इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह है कि संघ की कार्यप्रणाली द्वारा वे गुण कितनी मात्रा में पैदा होते हैं? समाज में सब दूर दिखाई देनेवाले अप्रामाणिकता आदि अवगुण क्या अपने में नहीं हैं? यह प्रश्न मुझसे पूछा गया है। २४ वर्षों से संघकार्य चल रहा है। संघ के अनेक कार्यकर्ता हैं, परंतु सर्वसाधारण स्वयंसेवकों के जीवन में संघ ने कोई परिवर्तन लाया है? इन प्रश्नों का रुख यही रहता है कि वर्तमान कार्यप्रणाली से ये गुण पैदा नहीं होते हैं। फिर तुरंत फलदायी, तत्काल सफलता देनेवाली अन्य कार्यप्रणाली का सहारा हम लोग क्यों न लें? इन प्रश्नों का विचार हमें करना है। उसमें जो कहा गया है, वह सत्य ही होगा, स्वयंसेवक की ओर देखने का एक दूषित दृष्टिकोण उसमें नहीं होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आप भी उसका विचार करें। जिन विशिष्ट गुणों के बारे में हम कहते आए हैं कि वे स्वयंसेवकों में पैदा होने चाहिए, वे इन २४ वर्षों की अवधि में कुछ अंश तक पैदा हुए हैं क्या? या अन्यत्र दिखाई देनेवाला दूषित

और अवगुणों से भरा हुआ वायुमंडल यहाँ भी दिखाई देता है, कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ? केवल प्रवाह में गिर पड़े, इसलिए एक प्रवाह-पतित के समान जीवन जी रहे हैं? सही क्रियाशील जीवन अन्य मार्ग पर चले बिना पैदा नहीं होगा, यह सच है क्या? समाज के अन्य लोग स्वार्थी, झगड़ालू, केवल एकाध बार उत्साह से घोषणा करने के अतिरिक्त देश के प्रति उदासीन हैं। क्या अपने स्वयंसेवक भी उनके समान हैं? इन सारी बातों का विचार करो। यदि आप इस निष्कर्ष पर पहुँचें कि २४ वर्षों में इस दृष्टि से कुछ भी सफलता नहीं मिली है तो यह कार्यप्रणाली निरुपयोगी है, यह कहना ठीक होगा और फिर अन्य कार्यप्रणालियों की बात सोची जाएगी।

और एक बात विचारणीय है। मनुष्य कार्यपद्धति का मूल्यांकन इस कसौटी पर करता है कि वह तुरंत फलदायी है या नहीं। वह सोचता है कि वर्तमान समस्याएँ हल करने में ही कृतार्थता है, अतः कार्य की रचना ऐसी हो, जिससे व्यावहारिक समस्याएँ हल करने में सफलता मिल सके। परंतु क्या इन तात्कालिक समस्याओं पर ही राष्ट्र का सारा जीवन निर्भर है? भीषण गरीबी, आर्थिक विषमता आदि अनेक समस्याएँ सामने हैं। उन्हें हल करने के लिए राजनैतिक शक्ति के प्रयोग और उपभोग की प्रवृत्ति पैदा होती है, परंतु उसके कारण क्या सभी समस्याएँ हल होंगी? ये वर्तमान समस्याएँ हल भी हुईं तो क्या राष्ट्र के सामने और समस्याएँ नहीं रहेंगी? समस्याएँ बदलेंगी, रोज नई उपाय-योजना करनी पड़ेगी। परंतु प्रयत्न करने की परंपरा न हो तो वह कैसे संभव होगा? प्रयत्न करने की अविच्छिन्न परंपरा निर्माण करने के प्रयासों में ही अंतिम कल्याण है या नहीं? यदि उसमें कल्याण न हो तो सारे परिश्रम व्यर्थ हैं। फिर तात्कालिक लाभ के लिए जो-जो उपयोगी हो, वह करते हुए जीवन बिताना तथा उसमें से अपने-आप कुछ परंपरा निर्माण हुई तो हुई, उसकी ओर ध्यान देने की जरूरत नहीं, ऐसी भूमिका स्वीकार करनी पड़ेगी।

ये सर्वसाधारण प्रश्न अनुभव से मैंने आपके सामने रखे हैं। आप ही बतला सकेंगे कि इसमें से कितने गलत हैं और कितने सही हैं? परंतु मूलभूत प्रश्न यह है कि कार्य-पद्धति में परिवर्तन आवश्यक है क्या? अपनी पद्धति सफल हुई है क्या? परिस्थिति में परिवर्तन हुआ है क्या? प्रास्ताविक के रूप में मैंने ये प्रश्न विचारार्थ रखे हैं।

२. यह हिंदूराष्ट्र है

(१६ अक्तूबर १६४६)

अपने स्वयंसेवकों के मन में जो विचार आते होंगे, उनकी कल्पना कर, उन्हें आप लोगों के सामने रखने का मैंने प्रयत्न किया है। जब सर्वसाधारण रीति से आपके मन में भिन्न-भिन्न विचार आ रहे हों, तब श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान की बातें कहने के बजाए अपने कार्य के बारे में एक बार पुनर्विचार करना फलदायी होगा। विद्वत्तापूर्ण रीति से विभिन्न विचारों का खंडन-मंडन करते हुए संघ-तत्त्वज्ञान बतलानेवाले अन्य लोग हैं ही। मैं नया विशेष कुछ बतलानेवाला नहीं हूँ। परंतु जिस प्रकार हम लोग आज तक विचार करते आए हैं, उसी प्रकार फिर से एक बार विचार करने का प्रयत्न करें।

संघ की आवश्यकता क्या है? पहले यह प्रश्न पूछा जाता रहा और आज अधिक आग्रहपूर्वक यह पूछा जाता है। इसका उत्तर अनेक प्रकार से पहले दिया गया था और आज भी दिया जाता है। जब संघकार्य का प्रारंभ हुआ, तब भिन्न-भिन्न संस्थाएँ राजनैतिक क्षेत्र में कार्य कर रही थीं। राजनैतिक विचार करनेवालों की उस समय कोई कमी नहीं थी। इसके उपरांत भी भिन्न-भिन्न राजनैतिक क्षेत्रों का प्रत्यक्ष अनुभव लेकर, समस्त पहलुओं का परिपूर्ण विचार कर इस संघ की स्थापना हुई।

नकारात्मक राष्ट्रबोध

वह कौन-सी बात है, जिससे इस कार्य की आवश्यकता अनुभव हुई? इस प्रश्न का एक पहलू यह दिखता है कि जब संघ की स्थापना हुई, तब चलनेवाले भिन्न-भिन्न कार्य राष्ट्र के नाम पर तो चलते थे, परंतु राष्ट्र के बारे में सुस्पष्ट मूर्त चित्र किसी की आँखों के सामने नहीं था। उस समय विदेशी सत्ता का विरोध राष्ट्रीय कल्पना का आधार था। उस कल्पना में प्रत्यक्ष राष्ट्रीय भावना है या नहीं, इसका विचार नहीं था, तो अपरोक्ष रीति से, अर्थात् विदेशी सत्ता के चंगुल में जकड़े हुए सभी की, सर्वसाधारण की, यही धारणा दिखती थी कि राष्ट्रीय और विदेशी सत्ता का विरोध करना ही राष्ट्र-कार्य है। बहुतों को लगता है कि नकारात्मक रीति से कभी-कभी राष्ट्र प्रेम पैदा होता है। इससे भी एक कदम आगे जाकर अनेक विद्वानों ने ऐसा कहा है कि सर्वसाधारण संकट की कल्पना राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधती है और राष्ट्र-भावना जागृत करती है। इससे अगली सीढ़ी, अर्थात् इस प्रकार के विचार की राष्ट्रीय एकता और शक्ति स्थायी रखने के लिए

सर्वसाधारण संकट की कल्पना जागृत रखना आवश्यक है– यह विचार अपने देश में भी फैला और उसकी पकड़ में से अब भी सर्वसाधारण जनता का मन मुक्त नहीं हुआ है। राष्ट्र-कल्पना सत्यस्वरूप में सामने न रहने के कारण भारत में विदेशी सत्ता के भक्ष्य बने हुए समाज के परस्पर संबंध कैसे भी हों; उन्हें एक राष्ट्र का अंग माना जाए, यही सही व उदार दृष्टिकोण है, यह मानने का रिवाज अपने देश में चल पड़ा। उसके परिणामों का विचार अभी करने की आवश्यकता नहीं है। परंतु विचार करने की उस पद्धति में से यह धारणा पैदा हुई है कि हिंदुस्थान में विदेशी सत्ता प्रस्थापित होने के बाद से ही राष्ट्र-भावना का यहाँ उदय हुआ है, अर्थात् पहले वह यहाँ नहीं थी। आज भी हमें यही सुनने को मिलता है कि पाश्चात्यों के संपर्क से हम देशभक्ति सीखें। 'ए न्यू नेशन इन द मेकिंग', 'ए नेशन न्यू बॉर्न' इस तरह के शब्द-प्रयोग होते हैं। यहाँ राष्ट्रीय भावना नई है, पहले वह भावना नहीं थी। इस धारणा से काम करना, यह नया विचार राष्ट्र आत्मसात करे– इसके लिए इतिहास भूलने को बाध्य करना या नया इतिहास निर्माण करने की बात कहना, उन्होंने सुविधाजनक माना।

प्राचीन एकसूत्र राष्ट्रजीवन

परंतु जो विचारवान थे, वे यह नहीं भूल सके कि यह विशिष्ट भारतीय राष्ट्रजीवन है तथा विदेशी सत्ता के आगमन के पूर्व भी वह था। ऐसा कहकर कि इतिहास भूल जाओ, इतिहास द्वारा किए गए संस्कार अंतःकरण से कदापि नहीं मिट सकते। वे संस्कार प्रकट होने ही चाहिए। विदेशियों के कारण भारतीय राष्ट्रजीवन निर्माण हुआ है, इस बात को अस्वीकार कर; वह प्राचीन है, अतः किसी नवीन राष्ट्र-कल्पना की आवश्यकता नहीं है– ऐसा उन विचारकों के मन में आना स्वाभाविक ही था। यह भारतीय राष्ट्रजीवन क्या है? यह भारतीय राष्ट्रजीवन, अर्थात् हिंदूराष्ट्र है। अपने समाज में नानाविध भेद, संप्रदाय, गुणावगुण रहने के उपरांत भी वह प्राचीन, एकसूत्र राष्ट्रजीवन है। उसमें संस्कृति का समान सूत्र है। हृदय के सूक्ष्म संस्कारों का समीकरण, राष्ट्रीय जीवन को प्रेरणा देनेवाली जीवनशक्ति संस्कृति है। इस देश में अनादि काल से जो समाज-जीवन रहा उसमें अनेक महान व्यक्तियों के विचार, गुण, तत्त्व, समाज-रचना के सिद्धांत तथा जीवन के छोटे-छोटे सामान्य अनुभवों से जो जीवन-विषयक एक स्वयंस्फूर्त स्वाभाविक दृष्टिकोण निर्माण होता है, वही सर्वसाधारण दृष्टिकोण, संस्कृति है। यह संस्कृति अपने राष्ट्र की

जीवन-धारणा है, विश्व की ओर देखने की पात्रता देनेवाली प्रेरणाशक्ति है, एक सूत्र में गूँथनेवाला सूत्र है। भारत में आसेतुहिमाचल यह संस्कृति एक है, उससे भारतीय राष्ट्रजीवन प्रेरित हुआ है। भारतीय राष्ट्रजीवन, अर्थात् हिंदू राष्ट्रीय जीवन है। प्रकट रूप से सब लोग यह बात स्वीकार न करते हों, कदाचित् राजनैतिक चाल की दृष्टि से अलग भाषा का प्रयोग करते हों, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि हर-एक को वही बात स्वीकार्य है। एक जाने-माने श्रेष्ठ विरोधी विचार रखनेवाले व्यक्ति के साथ हुए संभाषण के समय मुझे इसी बात का अनुभव हुआ। हिंदू राष्ट्रजीवन भारतवर्ष की वास्तविकता है। इस विषय में किसी भी प्रकार की मत-भिन्नता रहने का कोई कारण नहीं है। राष्ट्र की अस्पष्ट कल्पना— यहाँ जो आएगा और रहेगा तो भी उसे राष्ट्र-घटक मानने की अव्यवहारी कल्पना, बिल्कुल आज भी कोई पराया आकर यहाँ रहा तो भी वह राष्ट्रीय होगा— इस सीमा तक विचारों की अस्पष्टता है। ऐसी अवस्था में उस समय सुस्पष्ट और निर्भयपूर्वक अंततोगत्वा मान्य होनेवाली स्वाभाविक राष्ट्रीयता की कल्पना सामने रखने की आवश्यकता प्रथमतः संघ को ही प्रतीत हुई।

उस समय भी लोगों ने संघ को जातीय, सांप्रदायिक, संकुचित कहा और आज भी कहते हैं। केवल हिंदुओं के विषय में विचार करना अंतःकरण की संकुचितता का लक्षण है, यह धारणा बन जाने से हिंदूपन के प्रति एक लज्जा का भाव भी पैदा हुआ। हर बार, दुनिया क्या कहेगी, लोग क्या कहेंगे, इसका विचार किया जाए; विश्व की आँखों में अभिनंदन का भाव प्रकट होता हो तो वह बात की जाए, इस तरह की अंतःकरण की परावलंबी दासवृत्ति दिखाई दे रही थी। उस समय, संघ ने ही यह घोषणा की कि हिंदू राष्ट्रीय हैं, यही सत्य है, फिर अन्य समाज देश में हों या न हों। 'हिंदू' शब्द जातिवाचक नहीं है। अनादि काल से यहाँ का यह समाज अनेक संप्रदायों को उत्पन्न कर, परंतु एक मूल से जीवन ग्रहण करता आया है। उसके द्वारा यहाँ जो समाजस्वरूप निर्माण हुआ है, वह हिंदू है। यह व्यापक कल्पना संघ ने सबके सामने रखी।

यह विशाल हिंदू-समाज अनादि काल से यहाँ अपना जीवन बिता रहा है। भले ही यहाँ अलग-अलग राजा हों, राज्य हों, संप्रदाय हों, भासमान भिन्नता हो, परंतु सांस्कृतिक एकता है, एकसूत्र व्यावहारिक जीवन है। यहाँ यही राष्ट्रीय जीवन रहेगा। इतिहास की ओर इस दृष्टि से देखने की योग्यता निर्माण हो और हिंदू के नाते इस प्रकार का संपूर्ण साक्षात्कार हम

करें– यह राष्ट्र की आवश्यकता थी। वह आज भी है। संघ ने प्रथमतः इस बात का साक्षात्कार किया। स्वयं को हिंदू कहलानेवाली अन्य संस्थाएँ थी, परंतु केवल हिंदू-हित को खतरा पैदा न हो, दूसरों को अमर्याद लाभ न मिलने पाएँ इतना ही प्रतिक्रियात्मक विचार वे करती थीं। हिंदू राष्ट्रजीवन के विषय में इस प्रकार की निर्भय घोषणा कि यह हमारा राष्ट्र है, किसी ने नहीं की। दुनिया चाहे जो कहे, परंतु यह सत्य है तथा दुनिया को कल वह मानना पड़ेगा– ऐसा कहने का साहस उनमें नहीं था।

अस्पष्ट राष्ट्रकल्पना, अज्ञान, साहस का अभाव, पराभूत मनोवृत्ति आदि से व्याप्त वातावरण में संघ ने मात्र स्पष्ट तथा निर्भयपूर्वक घोषणा की। यह अपने कार्य का प्रथम गुण है। यह हिंदू-राष्ट्र है, इस राष्ट्र का दायित्व हिंदूसमाज पर ही है, भारत का दुनिया में सम्मान या अपमान हिंदुओं पर ही निर्भर है, हिंदू-समाज का जीवन वैभवशाली होने से ही इस राष्ट्र का गौरव बढ़ने वाला है, यह निश्चयपूवर्क समझकर वह सत्य संघ ने प्रतिपादित किया। इतने वर्षों से हम यह करते आए हैं तथा किसी के मन में इस विषय में कुछ भ्रांति रहने का कारण नहीं है।

राष्ट्र कल्पना : परिस्थिति निरपेक्ष

कोई कहेगा कि विदेशी शासन में रहते समय की कल्पनाएँ और आज की कल्पनाएँ समान कैसे रह सकती हैं? इसका उत्तर यह है कि राष्ट्र-कल्पना परिस्थिति के अनुसार बदलनेवाली वस्तु नहीं है। मनुष्य का मनुष्यत्व नौकरी पर निर्भर नहीं करता। किसी ने अपना व्यवसाय बदला तो उसका शरीर और गुणधर्म नहीं बदलता। विदेशी सत्ता रहने से उस सत्ता के सहारे ही अन्य समाज उद्दंड होते रहे। इसलिए हिंदू-राष्ट्रवाद का मंडन प्रतिक्रियात्मक बात समझी गई। हिंदू-राष्ट्र की कल्पना यह एक सत्य है– इस दृष्टि से संघ ने उस भावना का जागरण किया। विदेशी शासन से संघर्ष रहते हुए भी हिंदू-राष्ट्रीयत्व की घोषणा संघ ने की, उस भावना की जागृति से समाज को संगठित कर बलशाली और चैतन्ययुक्त करने का प्रयास किया। आज जब विदेशी सत्ता नहीं रही है, तब ये प्रयास अधिक जोर से होने चाहिए, यही विचार परिस्थिति में हुए स्थूल परिवर्तन के कारण अपने अंतःकरण में आना चाहिए। उस समय मुसलमान समाज भी था। वह आज हतबल हुआ है। अतः उसे अपने में मिला लेना चाहिए। परंतु इस सामर्थ्य की पाचनशक्ति (आत्मसात कर डालने की ताकत) कायम है या

नहीं। आज विदेशी सत्ता चली जाने से हिंदुस्थान के राष्ट्रीय स्वरूप में कुछ भी अंतर नहीं पड़ा है। अंतर इतना ही है कि पहले हमें मानो रस्सी से पीछे बाँधकर रखा गया था अब वह रस्सी टूट चुकी है। शरीर वही है। जीवन के अधिष्ठान में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। राष्ट्र-धारणा स्थायी रखकर, अन्यान्य समाज के व्यवहार परखकर, अपना मार्गक्रमण करने में ही राष्ट्र की भलाई हैं। भारत के इस स्पष्ट, निःसंदिग्ध राष्ट्रजीवन की चिरंजीवी भावना सामने रखने के बाद यह विचार मन में आता है कि ऐसी प्रेरक शक्ति जिसमें है, वह दुर्बल क्यों हुआ, उसने विदेशी सत्ता के सामने बार-बार हार क्यों खाई?

इतिहास की सीख

अपने देश के इतिहास का समालोचन करने पर एक विचार यह आता है कि विच्छिन्नता से पैदा हुई दुर्बलता में से ही यह हार हुई। ५० वर्ष पूर्व ऐसा कहा जाता था कि विदेशी कूटनीति के कारण ही भेद और अन्य अवगुण अपने समाज में पैदा हुए। परंतु विचार करने की यह रीति ठीक नहीं है। विदेशी सत्ता आने से पूर्व यदि भेद नहीं थे तो यह विशाल, अभिन्न, अभेद्य शक्ति छोटे-छोटे पराए आक्रमणों से कैसे पराजित हुई? इतिहास कहता है कि प्रथम भेद और उन भेदों से दुर्बलता और बाद में विदेशियों को विजय प्राप्त हो– ऐसी अवस्था पैदा होती है। भेद कैसे पैदा होते हैं, इसके कारण इतिहास में देखने को मिलते हैं। मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थ की ओर आकर्षित होता है और स्वार्थ के समक्ष बड़े-बड़े गुण भी मिट्टी-मोल होते हैं। व्यक्तिगत मान-सम्मान, गौरव के लिए विदेशियों से हाथ मिलाकर स्वकीय देश-बांधवों पर ही प्रहार करने की प्रवृत्ति अपने इतिहास में प्रचुर मात्रा में दिखाई देती है। विगत हजार-दो हजार वर्षों का इतिहास इस प्रकार की असंख्य घटनाओं से भरा पड़ा है। इसके फलस्वरूप दुःखकारक पराजय देखने को मिली। एक ही उदाहरण देता हूँ। सुप्रसिद्ध सोमनाथ के मंदिर पर आक्रामकों के सैन्य में से पहला प्रहार करनेवाले कौन थे? वे भगवान शिव का जय-जयकार करनेवाले शिवभक्त ही थे! गजनी की सेना ने उन्हें नाना प्रलोभन दिखाए तथा उन प्रलोभनों के वश होकर उस सुप्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग पर प्रत्यक्ष शिवभक्तों ने मार्ग बतलाकर आक्रमण किया। स्वार्थ की परिसीमा तथा उसमें से पैदा होनेवाली राष्ट्रभक्तिशून्यता का यह एक बड़ा विदारक उदाहरण है। ऐसा कहा जाता है कि हममें धर्मश्रद्धा है, परंतु इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि स्वार्थ के सामने

वह श्रद्धा भी हतबल होती है।

संपूर्ण राष्ट्र की सुस्पष्ट कल्पना आँखों के सामने न होने से समाज इतना छिन्न-विच्छिन्न हुआ तथा स्वार्थ-भावना इतनी प्रबल हुई कि व्यक्ति और उसके परिवार के परे व्यापक दृष्टि से और आत्मीयता से विचार करने की प्रवृत्ति और योग्यता नष्ट हुई। इसीलिए अपने पवित्र स्थलों और अपने बंधुओं पर प्रहार करने के लिए अपने में से ही लोग प्रवृत्त हो सके। यह देखकर अनेक लोग अनुभव करने लगे कि राष्ट्र का सम्यक् ज्ञान न होने से जो छिन्न-विच्छिन्नता, स्वार्थ-भावना समाज में पैदा हो गई है, उसे समाप्त किए बिना देश का बेड़ा पार नहीं हो सकेगा, स्थायी रूप से देश को कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकेगा।

छिन्न-विच्छिन्नता में ही स्वराज्य मिला है, अप्राप्य प्राप्य हुआ है, परंतु प्राप्य का रक्षण करना कठिन काम है। इसके लिए विच्छिन्नता नष्ट करके स्वाभाविक राष्ट्रीयता के साक्षात्कार से सामर्थ्य का आविष्कार करना आवश्यक है। सही राष्ट्र-भावना जागृत नहीं की, वह भावना अस्पष्ट या विकृत रही तो राष्ट्र के हमेशा के लिए बंधन में जकड़े जाने का भय सदा बना रहेगा। जिस दुर्बलता के कारण मूलतः हम अपनी स्वतंत्रता से वंचित हुए उसे दूर करना चाहिए, विच्छिन्नता समाप्त करनी चाहिए, सम्यक् राष्ट्र-दृष्टि का अभाव है तो उसे निर्माण करना चाहिए। संकुचित स्वार्थ का प्राबल्य समाप्त करना चाहिए। ये सारे दुर्गुण जिससे समाप्त होंगे, ऐसे कार्यक्रम सामने रखने पड़ेंगे।

कहा जाता है कि अपने देश में सब दूर राजनैतिक जागृति पैदा हुई है। फिर कुछ इने-गिने व्यक्तियों को क्यों 'देशभक्त' कहकर संबोधित किया जाता है? वह व्यक्ति देशभक्त है और बाकी के देशभक्त नहीं हैं क्या? अन्य देशों में तो ऐसा नहीं दिखता। चर्चिल को ही किसी ने देशभक्त नहीं कहा, वहाँ तो कोई भी यही बताएगा कि सर्वसाधारण मनुष्य को देशभक्त होना चाहिए। देशभक्ति एक उल्लेखनीय गुण है– यह कल्पना अपने देश में ही क्यों आई? कारण यह है कि यहाँ सर्वसाधारण जनता राष्ट्रभक्ति आदि कुछ नहीं जानती। किसी तरह जी रही है; मरी नहीं, इसलिए जीवित है। राष्ट्र के घटक होकर भी उसका स्पष्ट ज्ञान नहीं, राष्ट्रीयत्व पर श्रद्धा नहीं। इसलिए किसी ने विशेष रीति से देशकार्य की ओर ध्यान दिया, थोड़ा बहुत त्याग किया तो उसका जय-जयकार किया जाता है, उसका गौरव होता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यहाँ सर्वसाधारण रूप से राजनैतिक

जागरण नहीं हुआ है। शब्द और घोषणाएँ लोगों को मालूम है। स्वार्थ के लिए घातक वृत्ति से कार्य कैसे किया जाए– यह उन्हें मालूम है। परंतु सत्प्रवृत्त राष्ट्रभक्ति की शिक्षा नहीं मिली है। इसीलिए कुछ लोगों को देशभक्त कहना ही पड़ता है।

विशुद्ध राष्ट्रभाव का साक्षात्कार

देश की इस अवस्था में स्वाभाविकतः राष्ट्र के मूर्त स्वरूप का प्राचीन हिंदू-राष्ट्र के नाते साक्षात्कार करा कर, उसी का सत्यस्वरूप प्रत्येक के अंतःकरण में जगाकर, इस राष्ट्र के जीवन को कायम रखने के लिए हर एक का अंतःकरण राष्ट्रभक्ति से प्रेरित कर, उस राष्ट्रभक्ति की विशुद्ध भावना के आधार पर भेदों को जमीन में गाड़कर, सुसंगठित तेजस्वी तथा प्रभावशाली जीवन समाज में पैदा करने का महान प्रयत्न करना चाहिए। राष्ट्र क्या है– यह ज्ञान हुए बिना राष्ट्रभक्ति पैदा नहीं होती। राष्ट्रभक्ति की भावना के बिना स्वार्थ को तिलांजलि देकर राष्ट्र के लिए परिश्रम करना संभव नहीं है। इसलिए विशुद्ध राष्ट्र-भावना से परिपूर्ण, श्रद्धायुक्त तथा परिश्रमी लोगों को एकसूत्र में गूँथना, एक प्रवृत्ति के लोगों की परंपरा निर्माण करनेवाला संगठन खड़ा करना तथा इस संगठन के बल पर राष्ट्रजीवन के सारे दोष समाप्त करने का प्रयत्न करना मूलभूत और महत्त्वपूर्ण कार्य है। सैंकड़ों दैनिक समस्याओं को हम कैसे सुलझाते हैं– इसपर यह कार्य निर्भर नहीं करता। समाज की विच्छिन्नता और भेद समाप्त कर राष्ट्र-भावना से प्रेरित एकरस समाज-जीवन निर्माण किया तो अनेक दैनिक तात्कालिक समस्याएँ सुगमता से हल होती हैं। सभी तात्कालिक समस्याओं (विदेशी सत्ता समाप्त करना, अंतर्राष्ट्रीय समस्याएँ सुलझाना आदि) का विश्लेषण करके देखा जाए तो वह उसके लिए जो सामर्थ्य, आत्मविश्वास चाहिए वह भी राष्ट्रीय वृत्ति का समाज-जीवन निर्माण करने के प्रयास की ओर ही संकेत करता है।

कश्मीर-समस्या का उदाहारण देखें। कुछ लोगों के साथ हुए वार्तालाप से ज्ञात हुआ कि भारत के पास इतनी सुसज्जित सेना है कि कश्मीर का प्रश्न सात दिन के भीतर सुलझ सकता है। मैंने कहा– एक वर्ष में भी हल निकल आए तो भी बहुत है। अब तो दो वर्ष बीत चुके हैं, परंतु वह प्रश्न ठंडे बस्ते में पड़ा हुआ है। समस्या को निर्भयपूर्वक सुलझाने के लिए जिस राष्ट्रीय सामर्थ्य का आधार और विश्वास चाहिए

उसका अपने राष्ट्र में अभाव है, इसलिए साहस नहीं है। समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है। कोई मदद देगा क्या? किसी की सहानुभूति मिलेगी क्या? इसके लिए दौड़धूप चल रही है। अपनी शक्ति के जागरण का साक्षात्कार नहीं है। पग-पग पर दुर्बलता का अनुभव हो रहा है। अंग्रेज थे जब भी मदद ढूँढने की आत्मविश्वासशून्य अवस्था थी। कुछ लोग यह सोचकर कि अंग्रेजों का राज (कॉमन डेंजर) हिंदुओं के अलावा अन्य समाजों पर भी है, मुसलमान आदि समाजों का सहयोग प्राप्त करने के प्रयास में लगे हुए थे। कुछ लोग यह सोचकर कि अंग्रेज केवल डेढ़-दो सौ वर्षों के पूर्व यहाँ आए हैं, हजार वर्षों के पूर्व आए हुए मुसलमानों की उद्दंडता से निपटने के लिए अंग्रेजों की सहायता प्राप्त करने के प्रयास में जुटे हुए थे। परंतु दोनों प्रकार के लोगों को ऐसा नहीं लगता था कि किसी की मदद के बिना कुछ किया जा सकेगा। अपनी दुर्बलता का यह कितना विश्वास!

संघ स्थापना के समय इस विषय में जो अवस्था थी, वही आज भी है। इस मूलभूत समस्या– दुर्बलता को ढकने के लिए न्याय, नीति, अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा आदि बड़े-बड़े शब्दप्रयोग किए जाते हैं। परंतु यह सत्य है तथा उसका अनुभव भी होता है कि अपने पैरों पर खड़े रहने का आत्मविश्वास अपने राष्ट्र में अब भी नहीं है। शक्तिशाली जीवन का अनुभव होने के बजाए विच्छिन्नता में से उत्पन्न होनेवाले दुर्बल और आत्मविश्वासशून्य जीवन का हम अनुभव कर रहे हैं। अनेक लोग कहते थे कि विदेशी सत्ता ने भेद निर्माण किए और उसी ने उनको बढ़ावा दिया। परंतु आज विदेशी सत्ता प्रत्यक्ष रूप में इस देश में नहीं रही है तथा हमें अब अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए भेद और बढ़ाने की खुली छूट मिली है, ऐसा दुःखदायी दृश्य दिखता है। सुसंगठित, समर्थ तथा राष्ट्रभक्तिपूर्ण समाज-जीवन की जितनी आवश्यकता पहले थी, उतनी ही समाज की विच्छिन्नता दूर करने के लिए आज भी है। सारे भेदों को एक उच्च अधिष्ठान से दूर करनेवाले कार्य की परम आवश्यकता है।

संघकार्य की रचना

स्वराज्य-प्राप्ति एक घटना है, क्रिया है। स्वतंत्र समाज-जीवन सुरक्षित और संपन्न रखना चिरंतन महत्त्व का प्रश्न है। उसके लिए राष्ट्र को सदैव सिद्ध रहना चाहिए। वह सिद्धता रहने के लिए राष्ट्रजीवन में से हानिकारक अवगुण मिटाकर सुसूत्र, सामर्थ्यशाली समाज-जीवन का निर्माण

करने की दृष्टि से अपना कार्य खड़ा किया गया है। हिंदू-राष्ट्रजीवन की कल्पना निर्भयतापूर्वक सामने रखकर उसकी गौरववृद्धि के लिए सारा समाज एक सूत्र में संगठित करने का कार्य अपने सामने है। इसलिए संघ के नाम सहित प्रत्येक बात का सूक्ष्मता से विचार कर कार्य की रचना की गई, सुस्पष्ट राष्ट्र-कल्पना सामने रखकर, स्वार्थमूलक भावना को तिलांजलि देकर, भेद मिटाकर, एक प्रभावशाली समाज-जीवन का निर्माण करने की चेष्टा चालू हुई। भेदनिरपेक्ष, प्रतिष्ठासंपन्न कार्य के निर्माण की दृष्टि संघ के प्रारंभ से ही है। उसका विस्मरण आप लोगों को नहीं हुआ होगा। फिर कौन-सा परिवर्तन हुआ है? मुझे तो कई बार ऐसा लगता है कि नाना प्रकार के स्वार्थमूलक भेद पैदा करके दुर्बलता बढ़ाने के लिए ही हमें सारी छूट मिली है। किसी रोगी पर यदि कड़ा नियंत्रण रहे तो वह विशेष कुपथ्य नहीं कर सकता है, परंतु यह देखते ही कि अब नियंत्रण नहीं रहा है, चाहे जो भक्षण करने का कुपथ्य कर अपनी मौत बुला लेता है। वैसी ही कुछ अपनी अवस्था है। स्वार्थ के लिए ही क्यों न हो, अपने पर अंकुश रखनेवाले चले गए और बिल्कुल अनियंत्रित कुपथ्य करने के लिए मानो सब दरवाजे खुल गए हैं। अतः इस अवस्था में हमें सोचना पड़ेगा कि अपनी किन बातों में परिवर्तन हो?

क्या हम अपनी राष्ट्र-कल्पना छोड़ दें? वास्तव में उसमें तो परिवर्तन असंभव है। वह अटल रहनी ही चाहिए। उस राष्ट्र-कल्पना की पूर्ति के लिए निरंतर कठोर परिश्रम मात्र आवश्यक है। अमुक मनुष्य देशभक्त है, ऐसा कहने की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति देश में न हो। इतनी उद्यमशीलता उत्पन्न कर महान संगठित समाज-जीवन के लिए भेदविरहित भूमिका पर खड़े रहने की प्रतिदिन वर्धिष्णु आवश्यकता हम समझें, तो प्रतिदिन मन में उठनेवाली नाना प्रकार की शंकाओं का अपने-आप उत्तर मिलेगा। बाकी के अनेक प्रश्न सामने आएँ तो भी अंतःकरण व्यथित नहीं होगा। कितने ही विचार-प्रवाह आकर टकराएँ तो भी अंतःकरण विचलित नहीं होगा। थोड़ा मनन-चिंतन करके यह एक ही विचार या धारणा अंतःकरण में दृढ़ जमाएँ व इस कार्य में शीघ्रता से सफलता कैसे मिलेगी, इसका भी विचार करें। चिंतन से अंतःकरण पर संस्कार होंगे और मार्ग भी स्पष्ट होगा।

३. मूलभूत कार्य : विधायक कार्य

(२० अक्तूबर १९४९)

यदि अपने मन में यह दृढ़ धारणा हो कि यह राष्ट्र अपना है और यहाँ अपना राष्ट्रजीवन है, यह राष्ट्रजीवन श्रेष्ठ और उन्नत बने, इसका दायित्व अपने ऊपर ही है, तो यह समझना कठिन नहीं होगा कि वह दायित्व पूर्ण करने के लिए केवल वर्तमान बातों की ओर ध्यान न देते हुए चिरंतन रूप से प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में राष्ट्रभक्ति की भावना जागृत करने हेतु एक सुव्यवस्थित तथा राष्ट्रीय भावना से प्रभावित कार्य खड़ा करना पड़ेगा।

'तर-तम' भाव से सूक्ष्म विचार

यह आवश्यकता स्वीकार कर लेने के बाद भी यह प्रश्न शेष रहता है कि भिन्न-भिन्न मार्ग लोगों की दृष्टि के सामने आते हैं। बहुतों का यह मत है कि दैनिक जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं को हाथ में लेकर समाज-कल्याण का प्रयास करना कार्य के लिए आवश्यक है। कुछ लोगों का कहना है कि बड़ी-बड़ी राजनैतिक समस्याएँ हाथ में लेकर उनका समाधान किए बिना लाभ नहीं होगा। अन्य कुछ लोग कहते हैं कि वर्तमान युग में हाथ में सत्ता रहे बिना कुछ भी करना संभव नहीं हैं। अतः सत्ताप्राप्ति का प्रयास करना चाहिए। उसके द्वारा समाज की कठिनाइयाँ दूर की जा सकेंगी। इसलिए व्यवहार में हमें यह दिखाई देता है कि हिंदू-राष्ट्र की कल्पना आँखों के सामने रहने पर भी लोग भिन्न-भिन्न मार्गों से जाते हैं। कुछ शब्द ऐसे होते हैं कि हर एक को आकर्षित करते हैं। उदाहरणार्थ, 'विधायक एवं सृजनात्मक कार्य' शब्दप्रयोग। हर एक रट लगाता है कि 'विधायक कार्य' करो। हमें या समाज के अन्य लोगों को भी यह शब्द एकदम आकर्षित करता है। परंतु इस शब्दप्रयोग की स्पष्ट परिभाषा इतने वर्षों में मैंने नहीं देखी है। परंतु समाज की रोजमर्रा की कठिनाइयों की ओर ध्यान देना, इस अर्थ में ही उसका विशेष प्रयोग होता है। भारतवर्ष के लोगों को समाजसेवा की शिक्षा देने के लिए प्रारंभ हुई 'स्काउट' संस्था का उदाहरण लें– भले ही उसके जन्म का इतिहास कुछ भी हो। इस संस्था ने समाज-संपर्क तथा समाज-सेवा के लिए अनेक नियम निश्चित कर दिए हैं। रास्ते पर पड़े हुए पत्थर हटाना, किसी थके-माँदे बोझा ढोनेवाले का बोझ उठाने में सहायता करना, वृद्धों और अंधों को रास्ता दिखाना या चलने में सहायता करना

आदि। ये सारे सेवा के आकर्षक प्रकार मानकर लोगों के सामने रखे गए। इसमें संदेह नहीं कि इन सेवाकार्यों से समाज के प्रति प्रेम प्रकट होता है, परंतु इनसे हृदय में कुछ विशेष परिवर्तन होता है या समाज का उद्धार होता है– यह हम कह सकें, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसी प्रकार के विधायक कार्यों के बारे में अन्य भी अनेक कल्पनाएँ सामने रखी जाती हैं। संघ एक सबल संगठन है, अतः समाज में रहकर उसे समाज-सेवा करनी चाहिए, ऐसा कहनेवाले नाना प्रकार की कल्पनाएँ बतलाते हैं। उनमें से एक कल्पना बतलाता हूँ। कुछ लोगों का यह मत है कि संघ के समाजप्रेमी और समाजसेवी स्वयंसेवकों को नगरों और देहातों की स्वच्छता का कार्य सौंपा जाए। कल्पना अच्छी है, परंतु यह प्रश्न पैदा होता है कि प्रथम आवश्यकता किस बात की है। रास्ता साफ करने की या हृदय साफ करने की? इसका क्या उत्तर है? किसी दुर्बल मनुष्य को लोहा किए हुए स्वच्छ वस्त्र पहनाने से वह निरोगी होगा, ऐसा कहने के समान है। आज इस तरह की कल्पनाएँ अनेक विचारवान लोगों को भी प्रभावित करती हैं। उसका खूब बोलबाला होता है। उनका परिणाम होना स्वाभाविक है। इसी दृष्टि से अनेक लोगों ने अपने को सूचनाएँ कीं। उनकी इच्छा और पद्धति के अनुसार सूचनाओं का विचार नहीं हुआ। तब यह टीका होने लगी कि संघ कुछ काम नहीं करता है, संघ के लोग केवल अंधानुकरणी हैं, अपने संकुचित क्षेत्र के बाहर झाँकते नहीं हैं, उनका दृष्टिकोण संकुचित है। आलोचना और अनेकविध सूचनाओं के बावजूद उन्हें ग्रहण करने का प्रयत्न संघ ने क्यों नहीं किया? क्या उसने यह माना कि ये सारी बातें, समाज के विविध प्रश्न महत्त्वशून्य हैं? समाज-कल्याण अपने को करना नहीं है, समाज के प्रश्नों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है– ऐसी संघ की धारणा कभी भी नहीं थी, परंतु संघ ने तर-तम भाव से यह सूक्ष्म विचार अवश्य किया कि किन बातों को अग्र-क्रम देना चाहिए, किन बातों पर प्रथमतः अपनी दृष्टि केंद्रित करनी चाहिए, जिसके परिणामस्वरूप अन्य बातें साध्य हो सकें।

विधायक कार्य

चार साल पूर्व बिहार के प्रवास पर गया था। वहाँ कुछ सज्जनों के साथ, जो स्वयंसेवक नहीं थे, वार्तालाप करने का अवसर मिला। उनमें कांग्रेस के एम.एल.ए. भी थे। उन्होंने और उनके मित्रों ने मुझसे यह प्रश्न पूछा– 'आप इतने युवक इकट्ठे करते हो तो उनके द्वारा कोई विधायक कार्य क्यों नहीं करवाते?' मैंने उनसे कहा, 'अपने इस समाज में संस्कारपूर्वक

समष्टिपरायणता निर्माण कर, उसके अंतःकरण में एकात्म-भाव निर्माण कर एक सुव्यवस्थित, व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय की समष्टिपरायणता के आधार पर स्थित संगठनात्मक रचना खड़ी करना क्या विधायक कार्य नहीं है?' उस सज्जन को मेरा कथन जँचा। समष्टि में व्यक्ति-व्यक्ति के गुणावगुणों की भी विशेष रचना कर उन्हें स्वार्थपरायण नहीं तो समष्टिपरायण बनाने से समाज के सामने की अन्य समस्याएँ स्वाभाविकतः हल होंगी- यह विचार उन्हें मान्य हुआ। जो सद्भावपूर्वक विचार करनेवाले लोग थे और हैं, वे यह कार्य विशिष्ट पद्धति से, तात्कालिक समस्याएँ बाजू में रखकर चल रहा है, इस यथार्थता को जानते हैं और इस कार्य की महत्ता समझ सकते हैं।

वास्तव में यह कार्य पूर्ण होना राष्ट्रीय जीवनचैतन्य की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस कार्य की पूर्णता की कल्पना भी बहुत व्यापक है। यह कार्य व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचाना और उनका हृदय-परिवर्तन कर उन्हें समष्टिपरायण बनाना, कार्य के पूर्णत्व की कल्पना है।

परंतु इस अर्थ में काम पूर्ण करने के लिए कितना समय लगेगा? तब तक क्या समाज के सामने की आज की समस्याओं की ओर से आँखें मूँदकर बैठे रहना चाहिए, यह प्रश्न निर्माण होता है। इसलिए हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहार में उपयुक्तता के दृष्टिकोण से पूर्णता का और भी एक अर्थ लिया जा सकता है। वह अर्थ ध्यान रखकर ही हम कार्य के संबंध में बोलते हैं। वह अर्थ यह है कि कार्य को इतना व्यापक बनाएँ कि समाज के अंग-प्रत्यंग को प्रभावित और नियंत्रित करने के लिए वह सबल हो। स्थान-स्थान पर हम अपना कार्य करते हैं, संख्या बढ़ाते हैं, अनुशासनादि गुण पैदा करते हैं, परंतु क्या ऐसी अवस्था प्राप्त हुई कि वहाँ के अपने अस्तित्व ने सर्वसाधारण जनता के मन पर प्रभुत्व प्राप्त किया है? यदि यह कहा जा सके तो कार्य की व्यावहारिक सीमा तक हम पहुँच चुके हैं, अन्यथा यह समझना पड़ेगा कि उस सीमा तक पहुँचने में अभी विलंब है। हर स्थान का हिसाब कर इस सीमा तक पहुँचने के लिए आवश्यक संख्या आदि बतलाना कठिन है, परंतु कल्पना शक्ति से वह सीमा हम सहज समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ- किसी स्थान पर ऐसी स्थिति प्राप्त हो गई कि गुंडागर्दी और समाजविरोधी कार्यों में ही जो महानुभाव सार्थकता मानते हैं, उनकी समाजविरोधी हरकतों की बिल्कुल गुंजाइश नहीं रही, केवल अपने अस्तित्व से सामाजिक जीवन शांततामय और सुव्यवस्थित हो गया है। ऐसे स्थान पर कार्य प्रभावी है, ऐसा कह सकेंगे।

संघ-शाखा का प्रभाव

दो वर्ष पूर्व उत्तर के एक प्रांत से मुझे इस आशय के पत्र मिले कि केवल शाखा के अस्तित्व के कारण ही समाज शांति और सुरक्षितता से जीवन बिता रहा है। किसी भी तरह का उपद्रव नहीं हो रहा है, सभी विघातक प्रवृत्ति के लोगों की हरकतों को अवकाश ही नहीं रहा है। समाज सुरक्षितता का अनुभव कर रहा है। जिस स्थान पर पहले यह होता था कि स्त्री के अकेले बाहर निकलने पर उससे छेड़खानी की जाती थी, वहाँ अब दिन या रात को कभी भी स्त्री कहीं भी इक्की-दुक्की निःसंकोच आ-जा सकती है। किसी को भी किसी तरह का दुर्व्यवहार करने का साहस नहीं होता है। जिन्हें अतिशयोक्तिपूर्वक कहने की आदत नहीं है, ऐसे अपने कार्यकर्ताओं ने भी इस तरह का वृत्त दिया है। इस परिस्थिति का अर्थ यह है कि कार्य व्यावहारिक सीमा के निकट पहुँच चुका है। कार्य के अस्तित्व के कारण वहाँ समाज-जीवन का नियंत्रण हो रहा है। संघ के अस्तित्व से समाज-जीवन सुरक्षित हुआ है, इसका संपूर्ण जनता को ज्ञान है। दुर्व्यवहार करनेवालों पर धाक जमा कर उनकी हरकतें बंद हो गई हैं तथा सद्व्यवहारानुकूल वातावरण बन गया है। अतः कार्य का समाज-हृदय पर इस प्रकार का प्रभुत्व प्राप्त होने के लिए कार्य की उचित मात्रा में व्याप्ति बढ़नी चाहिए। इस सीमा तक हमें पहुँचना ही होगा।

परंतु बहुतों को इस मर्यादा तक पहुँचने की बात दुश्चक्र सी लगती है। उनका प्रश्न यह होता है कि व्यावहारिक मर्यादा तक पहुँचने के बाद कार्य प्रारंभ किया जाए या कार्य करते-करते ही व्यावहारिक मर्यादा तक पहुँचा जाए? दोनों कथनों में सत्य है, यह मानना ही पड़ेगा। परंतु फिर भी हमें ध्यान रखना होगा कि एक विशिष्ट मर्यादा तक शक्तिसंपन्नावस्था प्राप्त होने के पूर्व कोई भी कार्य करने का प्रयास किया तो दोनों ओर से असफलता प्राप्त होगी। संगठन और कार्य– इनमें से कुछ भी हाथ नहीं आएगा। कार्य करो, परंतु तत्पूर्व पर्याप्त व्यावहारिक सीमा तक प्रभाव निर्माण हुआ है या नहीं, इसका भी विचार करो।

समाजसेवा की अवस्था

तीन-साढ़े तीन वर्ष पूर्व उत्तर के एक प्रांत से साधारणतः यह कहा जाने लगा कि कार्य बहुत बढ़ चुका है। कुछ लोगों के मत से इस वृद्धि का कारण यह बताया गया कि स्थानीय मुसलमान समाज के कारण एक संघर्ष

का वातावरण पैदा हुआ था तथा संघ के सिवाय संरक्षण करनेवाला कोई नहीं था, इसलिए समाज में संघ के प्रति प्रेम निर्माण हुआ। विपुल स्वयंसेवक, कार्यकर्ता, प्रचारक, कार्य की उत्तम व्यवस्था रहने से यह विचार पैदा हुआ कि अन्य कार्य भी सुगमता से कर सकते हैं। तब ऐसी योजना बनी कि जो अपने स्वयंसेवक नहीं हैं, उन्हें 'दक्ष-आरम्' के अतिरिक्त अन्य शिक्षा दी जाए; केवल साक्षरता प्रसार, याने शिक्षा ऐसी मेरी धारणा नहीं है। साक्षरता-प्रसार के पीछे मतदान का प्रश्न प्रमुख रहता है। वह झंझट अपने यहाँ नहीं है। अपने को सत्ता की आकांक्षा नहीं है। कौन-सी शिक्षा दी जाए– इसपर विचार हुआ। साक्षरता-प्रसार उस शिक्षा का एक पहलू था ही। व्यावहारिकता, कार्य के लिए दृढ़ भावना निर्माण करना यह प्रमुख हेतु था। 'नो दाय सेल्फ' भारतवर्ष क्या है, उसमें अपना स्थान क्या है, विश्व में अपना स्थान क्या है, इसकी उन्हें जानकारी देने की दृष्टि से शिक्षा की रचना करने को मैंने कार्यकर्ताओ से कहा। इस शिक्षा में भूगोल, इतिहास, धर्म, तत्त्वज्ञान– सभी का समावेश होगा। यह भी विचार हुआ कि शिक्षा-विधि क्या हो। मैंने विचार रखा कि साधारण शिक्षित स्वयंसेवकों की सहायता लेकर अनौपचारिक वार्तालाप और कथा-कथन के द्वारा यह शिक्षा दी जाए। अपने देश में कथाओं द्वारा शिक्षा देने की प्राचीन परिपाटी है। उससे ग्रंथ पढ़ना न भी आता हो तो भी समाज के व्यक्ति ज्ञानसंपन्न और कार्य करने की दृष्टि से योग्यतासंपन्न हो सकते थे। इसके लिए ही मन पर उत्कृष्ट संस्कार करनेवाला प्रचुर धार्मिक कथा-साहित्य अपने पूर्वजों ने निर्माण किया तथा समाज के सभी स्तरों में उसका प्रचार किया। मनुष्य कर्तव्यपरायण और व्यवहारचतुर बने, इसके लिए हजारों वर्ष उनका उपयोग होता रहा है। अब वातावरण बदलने तथा अनेक नई बातें सामने आने के कारण वह परिपाटी कुछ कम हो गई है। उसे पुनरुज्जीवित कर कथाओं द्वारा कर्तव्यपरायणता के संस्कार तथा उसके साथ ही राष्ट्रभक्ति के विशेष जागरण का प्रयास हो, इस दृष्टि से प्रयत्न किए गए। उन प्रयत्नों का कुछ फल भी मिला। परंतु अकस्मात निर्माण हुई बाधा के कारण वह प्रयास अधूरा ही रह गया। इस प्रकार जहाँ कार्य व्यावहारिक दृष्टि से पर्याप्त सीमा तक पहुँचता है, वहाँ अन्य कार्य हाथ में लिए जाते हैं तो स्वयंसेवक तथा अन्य लोग भी सहयोग देते हैं। वे अपना कहना मानते हैं तथा समाज में विशिष्ट प्रभाव भी पड़ता है। इस प्रकार यदि कार्य को प्रतिष्ठा प्राप्त हो तो ही कह सकेंगे कि समाजसेवा की अवस्था आई है।

अन्यथा वर्तमान समाजसेवकों का अनुभव हम लोगों के सामने है। स्वच्छता-मुहीम शुरू होती है, भाषण किए जाते हैं; परंतु एक तमाशा ही साबित होता है। स्वच्छता करनेवाले आते हैं, लोग उन्हें देखते हैं, उनके भाषण सुनते हैं। लोग फिर से अस्वच्छता निर्माण करने में प्रवृत्त होते हैं। किसी ने उन्हें यदि टोका तो उनसे विचित्र उत्तर सुनने को मिलते हैं कि शहर से आनेवाले मेहतर पुनः साफ कर डालेंगे ही। यह अनादर, अश्रद्धा का भाव क्यों है? इसका कारण यह है कि बोलनेवालों पर उनकी श्रद्धा नहीं है। उनके जीवन पर काम करने की इच्छा रखनेवालों का किसी भी तरह का प्रभाव नहीं है, उनके उपदेश सुनकर उसके अनुसार जीवन में परिवर्तन करने की प्रवृत्ति नहीं है। जब यह परिस्थिति है, तब हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपने कार्य की पहले ऐसी अवस्था निर्माण करें कि हम जो कहेंगे, वह श्रद्धा से सुनने और उसके अनुसार आचरण करने की लोगों को इच्छा होगी। ऐसी स्थिति के अभाव में एक ओर समाज-जीवन का यह अनुभव है कि वर्षों तक स्वच्छता के पाठ दिए तो भी पाठ देनेवालों के पीठ फेरते ही जैसी की वैसी स्थिति हो जाती है। दूसरा अपना अनुभव है कि संस्कार, भावना, विचार आदि सब दृष्टियों से योग्य बिल्कुल अनपढ़ स्वयंसेवक, जो अपना नाम तक नहीं लिख सकता, प्रचारक के नाते काम कर सकता है, उत्तम कार्यकर्ता बन सकता है और जनता में प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। भारत क्या है, दुनिया कैसी है, अपना कर्तव्य क्या है- इसका स्पष्ट ज्ञान उसे रहता है। ऐसे कार्यकर्ता का उदाहरण अपने पास है। अनपढ़ होते हुए भी वह जानता था कि गाँव में अच्छे जीवन की प्रवृत्ति कैसे निर्माण की जाए? लोगों के परंपरागत विश्वासों का उसने चातुर्यपूर्वक उपयोग किया। राष्ट्रस्वरूप का सम्यक् ज्ञान उसे था। लोगों से हिल-मिलकर रहना, मनोविनोद, कथा-कथन आदि बातों में उनकी विशेष योग्यता थी। गाँव के बड़े-बड़े घरों में भी उसका प्रभाव था। केवल आंतरिक योग्यता रहने के कारण अनपढ़ होकर भी वह यह सब कर सका। कार्य करने के लिए स्वयंसेवकों में योग्यता चाहिए। यदि योग्यता न हो तो समाज को क्या दोगे? कुएँ में जल न हो तो बर्तन में कहाँ से आएगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि जहाँ लोग अपने कार्यकर्ता को श्रद्धापूर्वक सुनते हैं, कार्य को समाज में अच्छी प्रतिष्ठा रहती है, सर्वत्र यह अनुभूति रहती है कि यह एक अनुशासित शक्ति है, जनता स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से यह अनुभव करती है कि इस संगठन के घटक समाज के अन्य घटकों से विशेष

गुणसंपन्न है, वहाँ यह माना जा सकता है कि वे कार्य, जिसे जनसाधारण जनसेवा मानती है, करने में अनुकूलता है।

स्नेहपूर्व व्यवहार का परिणाम

विगत ५० वर्षों से अपने देश में विधायक कार्य की रट लगाई जा रही है, परंतु विचार करने पर यह दिखाई देता है कि विधायक की अपेक्षा विध्वंसात्मक कार्य ही अधिक हुआ है। इसका कारण यह है कि प्रथम मनुष्यों की रचना हो इसकी ओर दुर्लक्ष्य किया गया। यह तो 'पास में पैसा नहीं और चले घर बनाने' जैसी अव्यावहारिक बात हुई। यदि सुव्यवस्थित सुसंगठित, अनुशासनबद्ध शक्ति हो, संगठन के घटक केवल 'दक्ष-आरम्' के सिवाय अन्य भी अनेक बातें अपनी बातचीत और आचरण में से समाज को सिखाने के लिए सक्षम हों, इस प्रकार की प्रथम तैयारी पहले हुई तो ही तथाकथित अन्य काम हो सकते हैं। अब यह संभव है कि कुछ लोग संभाषणपटु हों, परंतु उससे कुछ बाधा नहीं आती। आचरण से वे अपने विचार प्रकट कर सकते हैं और समाज पर उनका प्रभाव पड़ सकता है। घंटा भर विचार करने पर भी जो मुख से एक सरल वाक्य भी बोल नहीं पाते हैं, जिन्हें शिक्षा प्राप्त नहीं हुई है, परंतु जिनके हृदय पर राष्ट्रीय भावना, भारत की एकात्मता, कार्य की आवश्यकता, उसके लिए आवश्यक व्यवहार, के परिपूर्ण संस्कार हुए हैं, वे भी जनता के श्रद्धाभाजन बन सकते है। एक स्थान पर ऐसा ही दो-तीन कक्षा पढ़ा हुआ एक स्वयंसेवक गया तथा उसने कार्य प्रांरभ करने की चेष्टा की। वही कुछ वाक्पटु विरोधी भक्तों ने पहले ही घर-घर घूमकर संघ को सब प्रकार से बदनाम करने का उद्योग किया था। इतनी उद्यमशीलता अच्छे कार्य के लिए अपने देशवासियों ने दिखाई होती तो अपने देश का चित्र कब का बदल चुका होता। अपने कार्यकर्ता ने घर-घर जाकर स्वयंसेवक जुटाना प्रांरभ किया, परंतु विरोधी लोग प्रश्न आदि पूछने कि दृष्टि से गाँववालों को उत्तम पाठ पढ़ा चुके थे। अपना कार्यकर्ता सीधा था। वह चालाकी नहीं जानता था। लोग नाना तरह के प्रश्न पूछकर उपहास करने लगे। कार्यकर्ता के सामने विकट समस्या खड़ी हो गई, परंतु उसकी अपने कार्य पर निष्ठा थी। वह विद्वत्तापूर्ण संभाषण नहीं कर सकता था। तब उसने लोगों से कहा कि वे कुछ दिनों तक उसके साथ कबड्डी खेलने के लिए आएँ, फिर वह उनके सभी प्रश्नों के उत्तर देगा। शाखा शुरू हो गई। खास बात यह हुई कि उस कार्यकर्ता पर उसके साथ

खेलनेवालों की धीरे-धीरे श्रद्धा बैठने लगी। सबको वह प्रिय हुआ। यह कैसे हुआ? उसका व्यवहार ही इतना स्नेहपूर्ण था, उसका चारित्र्य इतना उत्तम था कि लोगों के मन में उसके प्रति अपने-आप आदर निर्माण हुआ। बोलने की आवश्यकता नहीं पड़ी। लोगों को उसके आचरण से दिखाई दिया कि उसे विद्वत्तापूर्ण भाषण करना न आता हो, परंतु इसमें अनेकविध गुण हैं, चारित्र्य है। इसके विपरीत विरोधी प्रचार करनेवालों का स्वार्थी और दुर्गुणसंपन्न जीवन बड़े-बड़े शब्दों की आड़ में छिप नहीं सका। उन्हें यह भी दिखाई दिया कि उनके पास कोई जीवनादर्श नहीं है। लोगों ने अनुभव किया कि इस स्वयंसेवक में निश्चित जीवनादर्श, त्याग आदि विलोभनीय गुण हैं। स्नेहयुक्त व्यवहार है तथा कार्य पर ही उसकी दृष्टि केंद्रित है। इसलिए शब्दों और आचरण से चारित्र्य गुण, जिनका अन्यत्र अभाव है, हमने प्रकट किए, कार्य का प्रभाव और विस्तार बढ़ाया, तो ही तथाकथित 'विधायक कार्य' भी हो सकता है।

कार्य का वास्तविक रूप

आज संघ को जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई दिखाई देती है, वह अधिकतर काल्पनिक है, समाचार-पत्रों ने निर्माण की है। लोग समझते हैं कि संघ के पास अपार मनुष्य-शक्ति और सामर्थ्य है। जनता को स्वाभाविकतः संघ से बड़ी-बड़ी अपेक्षाएँ हैं। एक ओर यह अपेक्षा इतनी बढ़ गई है और दूसरी ओर कार्य का प्रत्यक्ष स्वरूप घट गया है। दो वर्ष पूर्व की संख्या, कार्य का उत्साह, वातावरण, प्रचारक आदि बातों से तुलना करें तो कहना पड़ेगा कि कार्य का प्रत्यक्ष प्रभाव घटा है। बीच की अवधि (प्रतिबंध-काल की अवधि) की स्थिति का विचार करने पर इसमें आश्चर्य करने जैसा कुछ नहीं है, परंतु दो वर्ष पूर्व रुका हुआ प्रवाह पुनः परिपूर्ण गति से बहने लगे, इसकी आज नितांत आवश्यकता है। इसका हम विचार करें। यह समझकर कि संगठन की एक विशिष्ट प्रकार की अवस्था निर्माण होने तक समाजसेवा के अन्यान्य कार्य नहीं हो सकते हैं, उस मर्यादा तक पहुँचने के लिए अथक प्रयत्नों की आज आवश्यकता है। उस मंजिल की ओर ध्यान देना चाहिए। अपने बोलने से, कृति से, व्यवहार से, चारित्र्य से सर्वत्र यह भाव निर्माण करना चाहिए कि समाजसेवा करने की पात्रता यदि किसी में है, तो वह इनमें ही है। यह कार्य न हो तो अखंड राष्ट्ररूप में समाज कैसे खड़ा रह सकेगा? अपने संपर्क से ऐसी व्यापक भावना समाज में पैदा की, कार्य को प्रतिष्ठा

प्राप्त करा दी, तो ही अन्यान्य समाजसेवा के कार्यों का विचार करना उचित होगा। आज अपनी जो स्थिति है, उसका विचार करते हुए, कार्य की योग्यता विशिष्ट मर्यादा तक ले जाने के बजाए भिन्न-भिन्न समाज-कार्यों का ही स्वीकार करते बैठना, मुझे तो सर्वथा अनुचित लगता है। एक ओर जनता की अपेक्षाएँ अपनी योग्यता के बारे में कल्पना शतगुणित हुई हैं और दूसरी ओर कार्य घट गया है। ऐसी स्थिति में हम तथाकथित 'विधायक कार्य' हाथ में लेकर समाज-रचना कर सकेंगे, यह कहना व्यर्थ है। आज तो संपूर्ण शक्ति से, अन्य सभी छोटी-छोटी बातें बाजू में रखकर, अपनी ही पद्धति से तेजस्वी, प्रतिष्ठासंपन्न, प्रभावी तथा व्यापक कार्य का निर्माण शीघ्रातिशीघ्र करें। ऐसा हम नहीं करेंगे तो निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि 'निश्चित रूप से अपना भविष्य अंधकारमय है।' अन्य प्रांतो में भी मैं यही बतलाते आया हूँ और आप लोगों को भी वही बतलाना चाहता हूँ।

४. राष्ट्रीय परंपरा का निर्माण

(२१ अक्तूबर १९४९)

अनन्य कार्यप्रणाली

मनुष्य जब कार्यक्षेत्र में कदम रखता है, तब संकट टूट पड़ते हैं और उसे पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। पथभ्रष्टता का उदाहरण ढूँढने के लिए अपने को बहुत दूर की यात्रा करने की आवश्यकता नहीं है। बड़े-बड़े सिद्धांत सामने रखकर, आदर्श की बड़ी-बड़ी बातें बताकर तथा उपलब्ध सभी साधनों का उपयोग कर जिस कार्य का अपने देश में डिंडिम पीटा गया, वह करनेवाले सर्वसाधारण व्यक्ति की आज क्या अवस्था है, यह हम आज देख रहे हैं। सभी किसी न किसी स्वार्थ के पीछे पड़कर पथभ्रष्ट हो गए हैं। सच्ची सद्भावना से राष्ट्रभक्ति करनेवाले बिल्कुल विरल ही हैं। सर्वसाधारण समाज स्वार्थ के परे, देश या राष्ट्र का विचार भी नहीं करता। इनसे सहजता से ज्ञात होगा कि जिस पद्धति से आवश्यक व्यक्तिगत गुण-विकास होता है, उस पद्धति से कार्य न होने से ही समाज-रचना योग्य रीति से करना संभव नहीं है। हम अपने प्रयत्नों का विचार करें तो दिखाई देगा कि सब प्रकार के संकटों से पृथक रखकर व्यक्तिगत गुणों के

संपूर्ण विकास की जैसी योजना अपनी कार्यप्रणाली में है, वैसी अन्य कहीं भी नहीं।

अपने भारतवर्ष में प्रचलित धार्मिक विचार में एक विचार यह है कि परिपूर्ण आध्यात्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को पारिवारिक बंधन तोड़ डालना चाहिए। सभी विषयों से विमुख होकर, संन्यस्त होकर ईश्वर ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इसकी अनेकों ने आलोचना भी की है। उनका कहना है कि संसार में रहकर भी विरक्त रहने में सच्ची शूरता और श्रेष्ठता है। अपनी संसारासक्ति छिपाने के लिए, संसार-त्याग करने को वे भीरुता कहते हैं। उनका तर्कवाद बाह्यतः तो बड़ा ही आकर्षक और रोचक लगता है। उन आकर्षक शब्दों में सीधा-सादा मनुष्य फँसता है और उसे भी लगने लगता है कि संसार त्याग कर मोक्ष-प्राप्ति के प्रयास में क्या पुरुषार्थ है? संसार के माया-मोह सामने रहते हुए भी उनका मन पर असर न होने देना, यही परम श्रेष्ठता है।

अपने कार्य के बारे में भी ऐसी ही कल्पना रहती है। जिस कार्यपद्धति में गुण-विकास न होकर राष्ट्र-प्रीति की विशुद्ध भावना में बाधा डालनेवाले स्वार्थ, अहंकार, वैयक्तिक मानापमान, सत्ताभिलाषा या अन्य अवगुण अनेक रूपों में निर्माण हो सकते हैं, वैसी कार्यपद्धति ग्रहण करके अवगुणों से अछूते रहते हुए, हम अपनी रचना पूर्ण करें। यह कल्पना बहुत ही रोचक लगती है। ऐसा कहा जाता है कि चौबीस वर्षों के कार्य के बाद भी इन अवगुणों का अपने पर परिणाम होगा क्या? इन अवगुणों को अवसर न देते हुए भिन्न-भिन्न विचार-प्रणालियों से सामना कर, प्रत्यक्ष कार्य को स्वीकार करते हुए, आगे बढ़ने में बड़प्पन नहीं है क्या? इसमें बड़प्पन है, यह विचार अपने को एकदम अच्छा लगता है, आकर्षित करता है। इसी विचार से मिलता-जुलता और भी एक रूप अनेकों के मन में आता है कि इस रीति से कार्य करने में एक तरह से हम कर्तव्यपूर्ति कर रहे हैं, समाजसेवा कर रहे हैं। स्नेह और सौहार्द से ओतप्रोत अंतःकरण से जनता के दैनिक दुःख हम दूर कर रहे हैं। यह कल्पना भी एक प्रकार से लुभावनी लगती है और मन को आकर्षित करती है।

दक्षतापूर्वक विचार आवश्यक

इस रोचकता, आकर्षण का सत्यस्वरूप क्या है, यह हमें समझ लेना चाहिए, अन्यथा अन्यों की जो भीषण दुर्दशा हुई है, वैसी ही हमारी भी हुए बिना नहीं रहेगी। हमने चौबीस वर्षों तक तपस्या की है, सब प्रकार की

कठिनाइयों में काम किया है। हममें अनेक गुण निर्माण हुए है। फिर किसी भी पद्धति से कार्य किया तो दूसरों को जिस प्रकार नाना अवगुणों ने धर दबाया, वैसा अपने बारे में होना संभव नहीं है। परंतु यह कहना ठीक नहीं है। इसमें वृथा अहंकार है। चूँकि कार्य करने के पूर्व अन्य लोगों में गुण नहीं थे, इसलिए वे कुप्रवृत्तियों के शिकार हुए– यह कहना आत्मशलाघा ही होगी। यह भाव ठीक नहीं है। संकटों के व्यूह में फँसने की वह पहली सीढ़ी है। इसलिए शांतिपूर्वक तथा दक्षतापूर्वक इस बात पर विचार होना चाहिए। विचारोपरांत यही लगता है कि कार्य विशिष्ट पर्याप्त मर्यादा तक जब तक नहीं पहुँचता है, तब तक सारे आकर्षक लगनेवाले विचार आने पर भी हृदय पर संयम रखकर, जिस कार्य ने हमें व्यक्तिगत दोषों से दूर रखकर निःस्वार्थ राष्ट्रचिंतन तथा विशुद्ध राष्ट्र-प्रीति का गुण दिया है, वही कार्य उस मर्यादा तक बढ़ाने के लिए अखंड प्रयत्नशील होने की ही आवश्यकता है। मुझे लगता है कि इसमें न समझने जैसा कुछ भी नहीं है। थोड़ा विचार किया तो यह सत्य सहजता से समझा जा सकता है।

संसार में रहकर संसार के माया-मोह सामने रहते हुए भी उनके परिणामों से अछूते रहते हुए ईश्वरप्राप्ति की योग्यता प्राप्त कर लेने में श्रेष्ठता है, ऐसा जो लोग कहते हैं। वह सत्य है, यह मान भी लें तो भी ऐसे उदाहरण कितने हैं? खूब खोज करने पर मात्र एक उदाहरण लोगों के सामने आता है, परंतु सर्वसाधारण मनुष्यों में वैसा उदाहरण नहीं मिलता। पर इसके विपरीत उदाहरण हैं। जिन्होंने वर्षानुवर्ष तपस्या की है, एकांतवास का सेवन किया है, निवृत्ति का अभ्यास किया है, उनके मन भी सांसारिक सुख सामने आते ही विचलित होते हैं। अपने कार्य के संबंध में ऐसा ही विचार किया तो जब तक कार्य को विशेष स्थिरता, विशेष दृढ़ता प्राप्त नहीं होती, तब तक अन्य कार्य का विचार करना, अपने में दोष नहीं आएँगे– ऐसी धारणा रखना, भूल है, यही स्पष्ट होगा। हमने २५ वर्ष तपस्या की, इस प्रकार की भावना भी दोषपूर्ण है। अपनी यह भावना वस्तुस्थिति पर आधारित नहीं है। मैं जो कह रहा हूँ, उसकी सत्यता के लिए अधिक पहले का प्रमाण आवश्यक नहीं है।

दीर्घ तपस्या तो भी अपूर्ण

बाईस वर्ष हमने कार्य किया है। विशिष्ट सीमा तक पहुँचने का प्रयत्न किया, अपना मार्ग निश्चयपूर्वक आँखों के सामने रखा। ध्येय-दृष्टि दृढ़ रखी। परिश्रम किए, परंतु उसके बाद एक छोटा-सा संकट आते ही

अपने मन विचलित हुए। परस्पर स्नेह, कार्यप्रणाली की श्रद्धा पर कितना आघात हुआ। परस्पर का विश्वास, सहकार्य की प्रवृत्ति कम हुई। दूसरों में भी कार्य के संबंध में विचार करने की पात्रता है, यह ध्यान में न लेते हुए परस्पर के प्रति संदेह उत्पन्न हुआ। छोटे से संकट में संगठन का सूत्र शिथिल हुआ, आज भी शिथिल ही दिखाई देता है। अतः अपना अभिमान वस्तुस्थिति पर आधारित नहीं है, इतना सिद्ध करने के लिए यह प्रमाण पर्याप्त है। बाईस वर्ष की तपस्या का अभिमान व्यर्थ है, क्योंकि इतनी तपस्या की, तो भी वह अपूर्ण है।

जब मैं चारों ओर कार्य का स्वरूप देखता हूँ, तब मुझे ऐसा लगता है कि अभी नींव भरने का काम पूर्ण नहीं हुआ है। वह काम पूर्ण होने के लिए अत्यंत परिश्रम करने की आवश्यकता है। फिर अभी शिखर का विचार क्यों? इतनी जल्दबाजी का प्रयोजन क्या? एक व्यावहारिक दृष्टिकोण से मैंने यह विचार आप लोगों के सामने रखा और अन्य रीति से भी हम विचार कर सकते हैं।

बीच में छोटा-सा कालखंड बीता है। इतने वर्षों तक काम करने पर भी उस छोटे-से कालखंड में परस्पर संपर्क नहीं रखा जा सका। कार्य सुसूत्र रखने की व्यवस्था अपनी कार्यप्रणाली के अनुसार हम चला नहीं सके। इस कालखंड की अवस्था का परिणाम क्या हुआ? अनेकों के मन में कार्य के विषय में शंकाएँ पैदा हुईं। कौन जाने, कार्य का क्या होगा! अपने वैयक्तिक जीवन की व्यवस्था ठीक-ठाक कर ली जाए, ऐसा विचार करके अनेकों ने व्यक्तिगत सुख की राह नापी। अनेकों के सामने केवल अंधकार दिखाई देने लगा। उनके अंतःकरण की अवस्था विचारशून्य हो गई यह भी अनुभव हुआ कि इस आपत्तिकाल में परस्पर स्नेहभाव कम हुआ है। बड़े परिवार पर आपत्ति टूट पड़ने पर जिस प्रकार लोग अलग हो जाते हैं, प्राण गँवाने की स्थिति में बच्चों के प्रति माता का स्नेह भी सूख जाता है, उसी प्रकार का स्नेहशून्य व्यवहार कुछ मात्रा में पैदा हुआ कि नहीं? सहयोग, समझदारी का अभाव प्रकट हुआ या नहीं? इनका विचार हो। फिर किस आधार पर यह आत्मविश्वास कर सकेंगे कि जिससे दुर्गुण पैदा होने की संभावना है, वैसे अन्यान्य कार्य या भिन्न मार्ग अपनाकर समाज-कार्य का प्रयत्न किया तो अपना पतन नहीं होगा, पतन हो ही नहीं सकेगा। अपने अंतःकरण के भाव और संस्कार इतने दृढ़ हैं, इसका हमें विश्वास है क्या? अनुभव तो ऐसा नहीं है। चाहे जो परिस्थिति पैदा हो– पचास वर्ष भी कार्य

में खंड आया– तो भी उसका सूत्र यत्किंचित् भी न टूटने की दृढ़ता प्राप्त हुई या नहीं, स्वयं के अंतःकरण को प्रमाण मानकर इसका निर्णय करें।

यथार्थवादी रवैया

इसके अलावा विचार करने योग्य एक और बात है। अन्यान्य कार्य में यह अनुभव होता है कि व्यक्तियों के स्वार्थ, मत, आग्रह की बाधा पैदा होकर संगठन का– सुव्यवस्थित कार्य का सूत्र खंडित होता है। अपने में भी वैयक्तिक विचार-विकार होंगे। परंतु समष्टि में कार्य करते समय उनपर संयम रखकर, दूसरों से स्नेहपूर्ण, विश्वासपूर्ण, विचार-विनिमय कर, अपने ही आग्रह या हठ पर अड़े न रहकर विचारों का मेल बैठाने की प्रवृत्ति पूर्णतः है क्या? सहयोगियों पर प्रेम, विश्वास, मतभिन्नता में भी आग्रह त्याग कर एकता की दृष्टि, हममें कितनी मात्रा में आई है? वैसे ही व्यक्तिगत जीवन के आदर्श के बारे में बार-बार कहने पर भी अपने स्वतः के जीवन में उसका कितना अंश उतारने में हम सफल हुए हैं? इस प्रकार विचार करने के बाद ही, यह निष्कर्ष निकला, अपने हृदय ने यह साक्षी दी कि परस्पर विश्वास अटल है, सहयोग पर्याप्त है, समष्टि-जीवन के सद्गुणों के निष्ठा से परिपालन की दृढ़ता है, हृदय में कोई चंचलता नहीं है, तो फिर उसके आगे का विचार कर सकते हैं। क्या हम ऐसा कह सकते हैं? यही तो महत्त्व की बात है। क्या हमने अपने जीवन में इन गुणों के आदर्श का निर्माण किया है? मैं ऐसा तो नहीं कहूँगा कि साधारण जन-समूह का जो स्तर है, उसके आगे हमने एक भी कदम नहीं रखा है। मेरा दृष्टिकोण निष्कारण आशावादी न हो तो भी वास्तववादी है। 'आशावादी' और 'निराशावादी' का द्वंद्व छोड़कर जो वास्तविकता है, उसका ही मैं विचार करता हूँ।

कुछ लोग कहते हैं कि हम लोगों ने बहुत बड़ा संगठन खड़ा किया है। सर्वत्र संघकार्य का नशा चढ़ा है। उत्साह, आनंद, हर्ष का वायुमंडल है। परंतु दूसरे, जो सूक्ष्म विचार करनेवाले हैं, कहते हैं कि इन लोगों ने कौन-सा परिवर्तन लोगों के जीवन में लाया है? स्वार्थ की प्रवृत्ति वैसी ही है। पारिवारिक जीवन में लोग डूबे हुए हैं। थोड़ा 'रुटीन' काम करते हैं। दिन में २-४ घंटे थोड़ा परिश्रम करते दिखाई देते हैं। प्रत्येक उत्तम भाषण करता है। ऊपर के लोग हाथ के नीचेवालों से कहते हैं कि काम बढ़ाओ। सच्चा काम कोई नहीं करता। यह दृष्टि अवास्तव वास्तववादियों की है। मेरा

इनमें से कोई भी अतिरंजित दृष्टिकोण नहीं है। आज देश का वायुमंडल स्वार्थ से भरा हुआ है। उसमें परिश्रम कर कुछ समय के लिए क्यों न हो स्वार्थी वायुमंडल छोड़कर एकाध व्यक्ति भी निःस्वार्थ कार्य करने के लिए आगे बढ़ता है, तो वह सफलता ही है। परंतु गर्व, अभिमान कर सकें, ऐसी सफलता हमने प्राप्त की है क्या? इसपर विचार करने से दिखाई देगा कि गर्व करने लायक कुछ भी नहीं है। उनके समान स्वार्थी नहीं है– ऐसा कहने में, आशादायी सत्य होने पर भी कोई लाभ नहीं।

वस्तुस्थिति इन शब्दों में रखी जा सकती है कि हमने अंशतः प्रगति की है। अपने में कुछ लोग निश्चय ही ऐसे निर्माण हुए हैं, जिन्होंने अपना सारा ध्यान कार्य पर ही केंद्रित किया। परिश्रम, संकट, भोजन मिले न मिले– किसी कि भी चिंता नहीं की। आपत्ति में भी अंतःकरण दृढ़ और अविचल रखा। ऐसे व्यक्ति अन्यत्र नहीं दिखाई देते है, किंतु अपने में निर्माण हुए। पानी में डूबते-डूबते किसी तरह जीऊँगा ही– ऐसा विचार कर डूब मरनेवाले के समान यह मूढ़ आशावाद नहीं है। यह वास्तविकता है। प्रगति का अनुभव दिलानेवाला निश्चित कदम है। इच्छानुसार सफलता न मिली हो, फिर भी कदम आगे बढ़ा है। और आगे बढ़ने की प्रवृत्ति है। ऐसा संतोष देनेवाला, आशादायी चित्र दिखाई देता है।

अपनी अपूर्णता

इसके साथ ही यह भी ध्यान रखें की अधिक प्रगति होनी चाहिए– ऐसी प्रेरणा देनेवाली अपूर्णता भी अपने में बहुत ही बड़े पैमाने पर है। हमने इस अपूर्णता को समझा है या नहीं? अपूर्णता है, खूब परिवर्तन करना बाकी है– ऐसा विचार मन में पैदा होता है या नहीं? निरहंकारी वृत्ति, समन्वय की पात्रता कार्यनिष्ठा के सामने अन्य सारी बातें गौण हैं– ऐसी भावना अपने जीवन में दृढ़ है क्या? अथवा केवल अनेक दिनों की आदत के कारण हम संघ में जाते हैं? संघ में क्या है– इसका कारण मन में स्पष्ट हो। अन्य कुछ करना आता नहीं, इसलिए संघ में जाते हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं। वास्तविक कार्य करने की प्रवृत्ति के लिए जो आवश्यक श्रद्धा और जीवन में परिवर्तन चाहिए वह हममें है? और उसमें हमें सफलता मिली है? इस दृष्टि से बहुत प्रयत्न करने के लिए गुंजाइश है। यह गुंजाइश है, इसलिए आज एक ही विचार मन में आना चाहिए कि जिस कार्यप्रणाली द्वारा व्यक्ति के परिपूर्ण विकास-पथ के रोड़े दूर होकर श्रद्धायुक्त तया

ध्येयनिष्ठ जीवन की रचना निर्माण हो सकती है, उस अपनी ही कार्यप्रणाली का अनुसरण अधिक से अधिक दृढ़ निष्ठा से हम करें। इसके सिवा अन्य कोई भी विचार परिणामतः लाभदायी सिद्ध होना कठिन है।

कई बार अपने मन में अनेक विचार आते हैं। क्या चाहिए इसकी स्पष्ट कल्पना आँखों के सामने नहीं रहती है। जहाँ जाना है वहाँ का पता मालूम नहीं, ऐसी अवस्था होती हैं। मन की संभ्रमावस्था के कारण पथ पर निष्ठा भी दृढ़ नहीं रहती। साधारण धारणा यह रहती है कि हमें भौतिक जीवन उन्नत करना है। खाना-पीना-वस्त्र आदि समस्याओं को ही केवल हल करना है। उसके लिए फलदायी, परंतु परिणामतः लाभशून्य मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति होती है। भौतिक फल का ही विचार मन में हो, तो उसमें भारतवर्ष और अपने जीवन की कुछ भी विशेषता नहीं। मामूली खाना-पीना-ओढ़ने की बातों का विचार सामने हो, तो इतनी दौड़-धूप, परिश्रम की कुछ भी आवश्यकता नहीं। हमें राष्ट्र के मनुष्य-जीवन में इस प्रकार की रचना का निर्माण करना है कि किसी भी प्रकार के बाह्य नियंत्रण के बिना मनुष्य-समाज अंतःस्फूर्ति से, स्वयंस्फूर्त स्नेह से, सुव्यवस्थित रीति से, सबके सुख की चिंता करता हुआ अपना जीवन बनाएगा। बाह्य नियंत्रण के बिना इस प्रकार की स्वयंस्फूर्त समष्टि-जीवन की प्रवृत्ति समाज के व्यक्ति में उत्पन्न करना, उसके अनुसार उसके व्यवहार को बदलना, भारतीय संस्कृति के संस्कार अंतःकरण पर दृढ़ हुए बिना संभव नहीं।

एकात्म भावना का जागरण

दुनिया में विविध प्रकार से भौतिक सुखवाद का प्रयोग किया गया। उसका अनुभव है कि उस प्रकार की रचना में नियंत्रण, पूर्व की अपेक्षा बढ़ गया है। लोग एक विशिष्ट सत्ता के अधिक से अधिक गुलाम बनते जाते हैं, क्योंकि अन्न-वस्त्र आदि के भौतिक विचार में सचमुच का स्नेह पैदा करने की ताकत नहीं है। अपना जीवन पंचभौतिक है और केवल संयोग से (बाय एक्सिडेंट) जीव का निर्माण हुआ– ऐसे दर्शन की परिणिति चार्वाकपंथीय– 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनम् कुतः' या 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'– विचारों में हुई तो कोई आश्चर्य नहीं। अपने सुख के लिए पड़ोसी का खून भी करने में केवल कानून या बदले के भय के सिवाय ऐसे दर्शन में क्या रुकावट है? भौतिक विचार से केवल स्वार्थ का ही विचार पैदा होता है और अनेक बार स्वार्थ के कारण परस्पर कलह, संघर्ष नियंत्रित होता

है, परंतु यह जीवन का नकारात्मक पहलू है। समाज-घटकों में परस्पर आकर्षण क्यों चाहिए? इसका संतोषजनक विचार इसमें नहीं है। परंतु अपनी भारतीय संस्कृति की शिक्षा का विचार करें तो दिखाई देगा कि संपूर्ण समाज एकरूप है, व्यक्ति एक ही चिरंतन तत्त्व का अंग है, सारा जीवन-प्रवाह एक ही है। इससे आत्मीयता बढ़ती है, एकात्म भावना का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार की एकात्मता का परिपूर्ण साक्षात्कार अंतःकरण में होने पर सर्वथा नियंत्रणशून्य, अंतःस्फूर्त, निर्मल ऐसा स्नेह-भाव अंतःकरण में पैदा हो सकता है। इसके बिना वह कदापि संभव नहीं होगा। केवल राजनैतिक या आर्थिक व्यवहार के आधार पर एकात्मता की यह अनुभूति असंभवनीय है। अपने जीवन में इस अनुभूति की नितांत आवश्यकता है। अतः स्वाभाविकतः समाज के अन्य घटकों के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करते आना चाहिए। इसके लिए समाज में एकात्म भावना का जागरण करना पड़ेगा। वह जागरण अपनी सांस्कृतिक परंपरा के आधार पर ही करना संभव है। यह सब हमें समझना होगा। आपको ये शब्द कठिन लगते होंगे, परंतु आप थोड़ा समझ लेने का प्रयास करेंगे, तो वह सत्य आपको भी सहज प्रतीत हो सकेगा।

आदर्शानुसार परिवर्तन

अपना यह राष्ट्र दुनिया में बलशाली, सुसंपन्न, वैभवसंपन्न बनकर सम्मान से रहना चाहिए। वैसी पात्रता उसमें आनी चाहिए। उसके लिए समष्टि के अंगभूत व्यक्ति समष्टि में रहकर अपना विकास करते हुए पूर्णत्व की ओर जा सकें, ऐसा वातावरण निर्माण करनेवाली समाज-रचना हो। अंतःस्फूर्ति से, परस्पर स्नेहपूर्ण, सहयोगपूर्ण, एकात्म भाव से प्रभावित ऐसा व्यवहार हो। उस व्यवहार के आधार पर आर्थिक या अन्य तात्कालिक प्रश्न हल करने की योजना बनानी चाहिए। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से राष्ट्र के प्रश्न हल करने का यह मार्ग है। यह एक स्वाभाविक विचार-परंपरा है। यह सारा विचार संभवतः कठिन लग सकता है, परंतु वास्तव में समझने के लिए वह कठिन नहीं है। यह विचार एक बार मन में जम जाए तो उसके साथ ही उस विचार की सफलता के लिए जीवन में अनुकूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता निर्माण होती है। राष्ट्र को तेजस्वी, वैभवशाली, शक्तिसंपन्न बनाने के लिए समष्टि में रहनेवाले व्यक्ति को मानवता का परिपूर्ण विकास करने में सक्षम होना चाहिए। आग्रहशून्य, परस्पर स्नेहमय व्यवहार निर्माण होना चाहिए। यह आवश्यकता प्रतीत होनी चाहिए। इस बारे में हमने क्या

प्रगति की है, कितनी सफलता प्राप्त की है– इसका अपने ही अंतःकरण में निर्णय करें। आपको आज भी यही दिखाई देगा कि अपने स्वयं के जीवन में व्यक्तिशः आदर्शानुसार जो परिवर्तन होना चाहिए था, उससे हम बहुत दूर हैं।

अब यह सफलता कैसे प्राप्त होगी? जिस कार्य में स्वार्थपरायणता से भेद पैदा होने की संभावना न्यूनतम है, उसके द्वारा ही यह सफलता मिलना संभव है। उसी में निःस्वार्थ तथा समष्टि, परायण भावना से आदर्शानुरूप व्यक्ति-जीवन का विकास होगा। अपने कार्य की रचना इसी तरह की है। यहाँ व्यक्ति के स्वार्थ को स्थान नहीं। यहाँ है केवल समष्टि का अनुभव। एक-दूसरे से व्यवहार करते समय भिन्न-भिन्न विचार प्रकट हुए, उनका घर्षण हुआ, तो भी आग्रहशून्य होकर, अंतःकरण शुद्ध रखकर सस्नेह व्यवहार करने के पाठ ही हमें यहाँ मिलते हैं। यहाँ सम्मान नहीं, अभिमान नहीं, जय-जयकार नहीं, सुख नहीं, कुछ हो भी तो केवल दुःख है, त्याग है, परिश्रम है। घर-बार के व्यवहार में से समय निकालकर काम करना है। अंतःकरण उदार बनाकर सब एक हैं, इस भाव का अनुभव लेना है। यह एकात्म-भाव आचरण में प्रकट होने के लिए स्वतः के विचार-विकार स्वेच्छा से नियंत्रित करने की यहाँ आवश्यकता है। इस प्रकार अपने कार्य का ढाँचा है। आचरण की यही प्रणाली व्यक्ति में दुर्गुणों का निर्मूलन करनेवाली और समष्टि-गुणों का विकास करनेवाली है। उसे निष्ठा और श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर पर्याप्त मर्यादा तक कार्य की उन्नति करने के लिए अविराम परिश्रम करने की आज परम आवश्यकता है। बड़े-बड़े कार्यों की बातों में हम यह वास्तविकता भूल जाते हैं। अभी परस्पर पर्याप्त स्नेह नहीं है, विश्वास नहीं है। परस्परों की सद्‌भावनाओं पर श्रद्धा नहीं है। हमारे सामने समस्याएँ विकट हैं, देश का विस्तार बड़ा है। इन सारी बातों को मन में सोचकर क्या करणीय है, इसका निर्णय करना चाहिए। स्नेहपूर्ण समष्टि-जीवन निर्माण करनेवाली, भिन्नता में एकात्मता का साक्षात्कार करानेवाली कार्यप्रणाली को निष्ठापूर्वक अपनाना, यही मार्ग अपने को योग्य दिशा की ओर ले जाएगा। अन्य रीति से शक्ति का अपव्यय मात्र होगा।

व्यक्तिनिरपेक्ष राष्ट्रश्रद्धा की अभंग परंपरा

एक दूसरा विचार भी रखता हूँ। मै सोचता हूँ कि यह पूर्व के विचार से भी अधिक महत्त्व का है। आज हम एकाध व्यक्ति को ही 'देशभक्त' संबोधित करते हैं। अपना समाज व्यक्तिपूजक बन गया है। एक

तो वह स्वयं का पूजक है या अन्य किसी व्यक्ति की पूजा करता है। आज व्यक्तिनिरपेक्ष राष्ट्र-श्रद्धा की भावना समाज में नहीं है। वास्तव में व्यक्तिनिरपेक्ष परिपूर्ण राष्ट्र-श्रद्धा की भावना चिरंतन जीवित रहे, पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह वर्धमान हो– ऐसी राष्ट्रप्रेम की गंगा प्रवाहित करने की व्यवस्था अन्य किसी भी कार्य में दिखाई नहीं देती। उसकी ओर किसी का ध्यान भी नहीं है। तात्कालिक छोटी-बड़ी समस्याओं और स्वार्थ-साधना की ओर ही सबका ध्यान है। यह सच है कि समय-समय पर अपने देश में महान पुरुष पैदा हुए हैं। उनके उस समय के कर्तृत्व से समाज में चैतन्य भी उत्पन्न हुआ। लोग इकट्ठा हुए, परंतु उनके अंतःकरण में स्फूर्तिदायी शक्ति उस प्रभावशाली व्यक्ति का व्यक्तित्व ही था। छत्रपति शिवाजी हुए। उस महान पुरुष के कर्तृत्व से राष्ट्र में तेजस्वी वायुमंडल निर्माण हुआ। उनके द्वारा निर्माण की हुई भावना कुछ काल तक बनी रही, परंतु परंपरा का प्रभाव निर्मित नहीं हुआ। वह परंपरा खंडित हुई।

अपने राष्ट्र में अनेक अवतार हुए, परंतु आज उनका क्या बचा है? केवल उनके नाम पर त्यौहार, व्रत, भजन-पूजन इतना ही होता है। क्योंकि व्यक्तिनिरपेक्ष कर्तव्यपरायणता की भावना का प्रभाव और परंपरा निर्माण नहीं हुई। प्रवाह निर्माण करने, उसको चिरंतन प्रवाहित रहने की व्यवस्था करने की ओर ध्यान नहीं रहा। संभवतः उन महापुरुषों को वैसा अवकाश न मिला हो। शायद निर्माण हुआ प्रवाह शुष्क हो गया हो, परंतु यह सत्य है कि प्रवाह निर्माण नहीं हुआ या वह अधिक काल तक रहा नहीं। लोकमान्य तिलक का उदाहरण बिल्कुल निकट का है। वे थे, तब असंख्य लोग उनके निकट इकट्ठा हुए, परंतु उनके द्वारा किया हुआ कार्य उनके साथ ही समाप्त हो गया। गाँधी जी की संपदा का तो उनकी मृत्यु के पूर्व ही सर्वनाश हुआ। उनका जय-जयकार आज होता होगा, उनकी वेषभूषा का बाह्यानुकरण होता होगा, मगर उसमें परंपरा का सूत्र नहीं है।

राष्ट्रभक्ति की गंगा परंपरा से बहनेवाला प्रवाह निर्माण न करते हुए ही सूख गई और उस भावना के अभाव में देश पर आपत्तियाँ आईं। यह इतिहास का अनुभव है। हजारों वर्षों के इतिहास का यह निष्कर्ष है। समय-समय पर एकाध व्यक्ति में राष्ट्रभक्ति की भावना प्रखरता से जागृत हुई। उस व्यक्ति के प्रभाव से लोग इकट्ठा हुए, उन्होंने काम किया। उस व्यक्ति के पश्चात् उतना ही प्रभावी व्यक्ति हुआ तो कार्य टिका, अन्यथा ढह गया।

यदि हमारा यह लक्ष्य है कि भारतीय राष्ट्र चिरंतन तेजस्वी, वैभवशाली, ऐश्वर्यसंपन्न हो, तो परंपरा का चिरंतन प्रवाह उत्पन्न करने की ओर हमें ध्यान देना ही पड़ेगा। राष्ट्र के संपूर्ण जीवन के लिए यह मूलभूत बात है। यह एक बात मन में पक्की बैठ गई तो समय-समय पर पैदा होनेवाले छोटे-बड़े प्रश्न अपने हृदय को व्यथित नहीं करेंगे। अपने अंतःकरण में यह श्रद्धा रहेगी कि राष्ट्र के चिरंतन कल्याण के लिए नितांत आवश्यक, चिरस्थायी परंपरा निर्माण करने का हम प्रयत्न कर रहे हैं। इतना महान कार्य करने का, जो आज तक इतिहास में किसी के द्वारा नहीं हुआ, जिसमें इससे पूर्व कोई भी सफल नहीं हुआ हैं, हम प्रयत्न कर रहे हैं। यह कार्य आज तक नहीं हो पाया, परंतु होना जरूरी है। भारतीय समाज में व्यक्तिनिरपेक्ष राष्ट्रप्रेम का प्रवाह उत्पन्न होकर वह चिरंतन बहता रहे— ऐसी क्षमता उसमें उत्पन्न की, तो राष्ट्र के सामने समस्याएँ नहीं रहेंगी।

इसी एकमेव लक्ष्य पर जिनका लक्ष्य केंद्रित हुआ है, ऐसे लोग जब भारतवर्ष-भर स्थान-स्थान पर रहेंगे, स्वाभाविक, नियंत्रणशून्य, एकात्मता के साक्षात्कार में से उत्पन्न हुए स्नेहपूर्ण आचरण का आदर्श खड़ा करेंगे, तभी यह गंगा निर्माण करना, राष्ट्र का अमरत्व प्रस्थापित करना संभव होगा। यह दृढ़ और स्पष्ट भावना अपने अंतःकरण में सदैव जागृत रहनी चाहिए। मैं अपने जीवन के सामर्थ्य का कण-कण समर्पित कर अंतःस्फूर्ति से जीवन में परिवर्तन लाऊँगा तथा समाज के सम्मुख समष्टि में व्यक्ति के जीवनयापन का अपनी संस्कृति के अनुरूप अपना आदर्श निर्माण करूँगा, उसका अभिमान नहीं करूँगा, इस निष्ठा से हमें कार्यप्रवण होना चाहिए। इसके लिए कौन से गुणों का संपादन करना है, यह आप जानते हैं। वे गुण आपने लोगों को अनेक बार बताए हैं। इसलिए उनकी सूची आपके सामने बतलाने की आवश्यकता नहीं है। आचरण में उन गुणों के आविष्कार के लिए परिश्रम करने की आवश्यकता है।

आत्मावलोकन व आत्मार्पण

इस परिवर्तन के बारे में नित्य चिंतन करो। नित्य संभव न होता हो, तो सप्ताह या कम से कम मास में एक बार अवश्य एकांत में शांति से चिंतन करो। हमने मास-भर में क्या उन्नति की, क्या प्राप्त किया, हम एक-दूसरे के साथ रहे, अनेकों से हमारा संपर्क हुआ, तो अपने आचरण में परस्पर स्नेह और श्रद्धा बढ़ी हुई दिखाई दी क्या? या प्रवाह-पतित होकर

कार्य के प्रवाह में बहते गए और जिनके साथ टकराहट हुई, उनके स्नेहशून्य हृदय से दोष ढूँढने के विचार आते रहे? या अहंकार से ग्रस्त रहे? इस प्रकार के चिंतन के लिए हर एक को समय निकालना चाहिए। उन क्षणों में सोचो कि हम जिनके संपर्क में आए उनके साथ स्नेह-वृद्धि हुई क्या? दूसरों के सुख-दुःख का अनुभव हो, इतनी एकात्मता अपने में निर्माण हुई है क्या? क्या अपना हृदय इतना विशाल बन चुका है कि दूसरों के भिन्न विचार, विकार के आघात होकर भी हम हृदय में कटुता न रखते हुए, संदेहयुक्त न होते हुए, संपूर्णतः स्नेहपूर्ण व्यवहार ही करते हैं, समझदारी दिखाते हैं? इन सारी बातों में हमें जितनी सफलता मिलेगी, जैसे-जैसे हम एक-एक कदम बढ़ाएँगे, वैसे-वैसे परस्परों को समझकर आदर, स्नेह, एकात्मता की भावना पर हम परिपूर्ण जीवन का आदर्श खड़ा कर सकेंगे। हमें वास्तविक समष्टि-जीवन का अनुभव होगा। उसके साथ ही कार्य की न्यूनतम आवश्यक मर्यादा प्राप्त करने की योग्यता अपने में निर्माण होगी। तात्कालिक समस्याओं का विशेष विचार न करते हुए उन्हें हल करने की योग्यता आएगी। आज हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि तात्कालिक समस्याओं का लोग समय-समय पर विचार करते ही हैं। राष्ट्रीय परंपरा निर्माण करने की एकमेव समस्या हल करना ही अपना एकमात्र कार्य मानकर उसके लिए प्रयत्नशील हों।

५. अपना कार्य सफल होगा ही

(२२ अक्तूबर १९४९)

पूर्णता का अनुभव

यह सभी को ज्ञात है कि पचास वर्ष पूर्व भारतीय तत्त्वज्ञान, वेदांत, षड्दर्शन तथा प्रत्यक्ष योगसाधन का अभ्यास कर अनेकों ने बहुत योग्यता संपादन की थी। उनमें से कुछ लोग विदेशों में भी गए। उनमें स्वामी विवेकानंद एक थे। उन्होंने अनेक देशों में जाकर भारतीय तत्त्वज्ञान का गौरव दुनिया में बढ़ाया। साधक अवस्था में रहते समय उन्हें ऐसा लगता रहा कि भारतीय तत्त्वज्ञान के अध्ययन के साथ पाश्चात्य तत्त्वज्ञान के ग्रंथों का परिशीलन कर तुलनात्मक विचार करना आवश्यक है। वेदांत तत्त्वज्ञान

और पाश्चात्य तत्त्वज्ञान के सिद्धांतों का इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन कर उन्होंने वाद-विवाद भी किया तथा भारतीय तत्त्वज्ञान की श्रेष्ठता दुनिया में सिद्ध की।

स्वामी रामकृष्ण के जीवनकाल में काली मंदिर में साधना होती थी। वहाँ भिन्न-भिन्न साधु आते थे। एक बार ऐसे ही एक साधु वहाँ आए। उनके पास एक बृहद् आकार का ग्रंथ था। प्रातः जगकर वे गंगास्नान करते और घंटों तक उस ग्रंथ का अध्ययन करते थे। उनके संभाषण में सब प्रकार का ज्ञान प्रकट होता था। ऐसा लगता था कि वे प्रकांड पंडित हैं, और प्रत्येक बात का उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया है। अन्यों की यह धारणा बनी कि उनके पास सदा रहनेवाले उस बड़े ग्रंथ में ही वह सारा ज्ञान समाया हुआ है। परंतु जिस प्रकार एक कृपण अपनी संपत्ति की रक्षा करता है, अपने धन को किसी को छूने नहीं देता, उसी प्रकार वह साधु अपने ग्रंथ को किसी को भी छूने नहीं देता था। उस ग्रंथ में ऐसा कौन-सा ज्ञान-भंडार भरा पड़ा हुआ है, यह जानने की स्वाभाविक जिज्ञासा उन युवकों के मन में जागृत हुई। एक दिन साधु वह ग्रंथ छिपाकर स्नान को गए। मौका अच्छा है, देखकर उन युवकों ने वह ग्रंथ लिया और लगे ढूँढने कि उसमें क्या है। अथ से इति तक हर पृष्ठ उन्होंने देखा। पर हर पृष्ठ पर केवल 'ॐ' एकमात्र अक्षर लिखा हुआ था। यह देखकर वे बड़े निराश हुए। जब साधु लौटे और उन्होंने ग्रंथ नियत स्थान पर नहीं देखा, तब वे नाराज हुए। उन्होंने युवकों से ग्रंथ लौटाने को कहा। ग्रंथ का इस प्रकार अयोग्य, अनादरपूर्वक व्यवहार करना उचित नहीं है, यह भी उन्होंने समझा कर बतलाया। तब उन लोगों ने कहा, 'महोदय! आपके ग्रंथ में कुछ भी तो नहीं है। सभी पृष्ठों पर एक ही अक्षर लिखा हुआ है। तत्त्वज्ञान की चर्चा नहीं, जीव-जगत् संबंध पर चर्चा नहीं, वेद-वेदांत का पृथक्करण नहीं। अतः कागज का यह निरर्थक ढेर पास क्यों रखते हैं?' साधु ने उन्हें बताया, 'बच्चो! यही ग्रंथ मेरा परब्रह्म है। जीवन भर यही पढ़ता रहूँगा। इससे ही मेरे अज्ञान का, सभी संदेहों का निवारण होता है। इसी में, इसके ओंकार में मुझे पूर्णता का अनुभव होता है। बाकी सारा अक्षरों का खेल है। इसी से मैं संतुष्ट हूँ।'

ऐसी विचित्र दिखनेवाली श्रद्धा तथा उससे परिचालित बुद्धि के कारण ही मुझे भी अन्य बातों में रस-आकर्षण नहीं लगता है। एक बार

मन में समष्टि का साक्षात्कार हो गया, उसके अनुसार हृदय की रचना हो गई, गुणसमुच्चय की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशीलता आ गई, अंतःकरण विशाल होकर राष्ट्र के व्यक्ति मात्र के प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो गया कि उसके आधार पर राष्ट्रीय जीवन का सम्यक् दर्शन होकर प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख की चिंता करते हुए अपने चारित्र्य का विशिष्ट स्तर निर्माण करने की ही प्रवृत्ति जागृत होती है। इस प्रवृत्ति से (स्वयंस्फूर्त) बाह्य नियंत्रण की साधना के बिना, स्नेह के अंतःकरण में धारण कर राष्ट्रजीवन की ओर देखना और स्वतः का ही नहीं तो संपूर्ण समाज की, इसी पीढ़ी के ही नहीं तो आगे आनेवाली प्रत्येक पीढ़ी के अंतःकरण में वही समष्टि-भावना, निःस्वार्थ, स्वयंप्रेरित, राष्ट्रभावना पैठी रहेगी, वह धारा काल के अंत तक बहती रहेगी, यही संपूर्ण राष्ट्रीय जीवन-चैतन्य का, राष्ट्र की प्रत्येक समस्या का और संकट का सारभूत उत्तर है- यह एक बार ज्ञात हो गया कि शेष छोटी-मोटी बातों का, उनके सभी पहलुओं का अधिक विवेचन विचार करते बैठने की आवश्यकता नहीं है। इस एक राष्ट्रीय जीवन के मूलभूत महान सत्य का साक्षात्कार मात्र अंतःकरण में होना चाहिए; उसपर दृढ़ श्रद्धा और उसके अनुसार जीवन में परिवर्तन करने का निश्चय निर्माण होना चाहिए। फिर मन को अन्य बातों का स्पर्श भी होता नहीं। अंतःकरण में निर्माण हुआ यह स्नेह संपूर्ण राष्ट्र और समाज को व्याप्त करता है, उस स्नेह में से स्वाभाविकतः व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दुःख की चिंता पैदा होती है, राष्ट्रभक्ति के सामने स्वतः के व्यक्तिविषयक स्वार्थ की परवाह न रहती हो, उसके लिए समाज से स्थापित अपने संबंधों में से स्नेहमय अंतःकरण और अन्य समष्टि गुणों का प्रकटीकरण होता हो, आदर्श समष्टि-जीवन का जीवन में साक्षात् परिचय होता हो, तो ऐसी अवस्था प्राप्त होगी कि मन में निर्माण होनेवाले प्रत्येक प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा।

दो विचार-प्रणालियाँ : विश्लेषण

इस दृढ़ धारणा के अभाव में मन द्विधा रहता है। यह लें या वह लें, इस या उस मार्ग से जाएँ ऐसी संभ्रमपूर्ण अवस्था रहती है। अन्यान्य विचार-प्रणालियों के अभ्यास से यह अच्छा, वह बुरा इस प्रकार के तर्क पैदा होते हैं, परंतु भले-बुरे की कोई भी कसौटी तो चाहिए। कोई तो गृहीत सिद्धांत चाहिए। ऐसे गृहीत सिद्धांत ही प्रथमतः दुनिया की भिन्न-भिन्न विचार-प्रणालियों ने सामने रखे तथा उनके आधार पर जीवनविषयक

तत्त्वज्ञान का प्रासाद खड़ा किया। बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, सबल दुर्बलों का विनाश करते हैं, यह उन्हें दुनिया में दिखाई दिया। इस एक साधारण घटना के आधार पर भिन्न प्रणालियाँ निर्माण हो सकीं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' को पाश्चात्यों ने संपूर्णतः सत्य– ऐसा गृहीत सिद्धांत माना।

यह अनुभव मानते हुए भी विचारवंत मनुष्य ईश्वर तक पहुँच सकता है, इसपर श्रद्धा रखनेवाला, समष्टि रूप में ईश्वर का साक्षात्कार कर सकनेवाला, भारतीय दार्शनिक ऐसी समन्वयात्मक रचना करने का प्रयत्न करता है, जिससे सबको सुख और सुरक्षितता मिल सके। मछली में भी उसी चैतन्य का अंश है, ऐसी उसकी समदृष्टि रहती है।

दुनिया के अन्य समाजों ने 'जीवो जीवस्य जीवनम्' की अनुभूति में से जीवनसंघर्ष का सिद्धांत निकाला। जो योग्य हैं, वे जिएँगे और जो अयोग्य हैं वे मर जाएँगे तथा इस संघर्ष में से दुनिया की उत्क्रांति और विकास होता रहेगा– ऐसा सिद्धांत निर्माण किया तथा वह मनुष्य पर भी लागू किया; योग्यता और अयोग्यता, संपन्नता और असंपन्नता, इन गुणों के अनुसार वर्णभेद मानकर, उस संघर्ष को ही मानव-जीवन का आधार मानकर (सरवाईवल आफ द फिटेस्ट) 'जो सबल है, वही टिकेगा'– ऐसा जीवन का गृहीत सिद्धांत दुनिया को दिया।

दूसरी ओर भारतवर्ष में समष्टि एक ही है, यह भावना और समष्टि की संपन्नता के लिए समन्वय, सहयोग, अन्यों जैसा अनुभव अपने को भी होगा– ऐसी अंतःकरण की पात्रता, अर्थात् सहानुभूति के आधार पर जीवन की रचना करने का प्रयास हुआ। चिरंतन संघर्ष पर जीवन आधारित है, इस कल्पना पर जीवनरचना का प्रयास दुनिया के अन्य लोगों ने किया। इसके विपरीत प्रकाश-अंधकार, योग्य-अयोग्य, संपन्न-असंपन्न, विरोध या द्वंद्व एक ही तत्त्व से निर्माण हुए हैं। एक ही वृत्ति के वे भाव-अभावात्मक परिणाम हैं– यह एकता का सूत्र अनुस्यूत कर, भेद में भी अभेद बतलानेवाली, एकता देखने की शिक्षा देनेवाली प्रवृत्ति को ही जीवन का आधार भारत के विचारोकों ने निश्चित किया। प्रकाश और अंधकार भिन्न लगते हों, परंतु पृथ्वी की गति वही है तथा उस गति में पृथ्वी सूर्य के सामने आती है, तब प्रकाश मिलता है; दूर जाती है, तब अंधकार होता है। अतः तथाकथित द्वंद्व, विरोध पर अधिष्ठित जीवन-धारा एक ही है, ऐसा एकात्मता का अनुभव करने के लिए भारतीय जीवनप्रणाली ने सिखाया।

अन्यत्र हमें केवल बाह्य दृष्टि, उत्तान दृश्यों पर से सिद्धांत गढ़ने की प्रवृत्ति दिखती है। इसलिए उनकी जीवनप्रणाली संघर्ष और हनन पर आधारित है। आज जिस प्रणाली का आधुनिकतम नाम से बोलबाला हुआ है, उसका इसी उत्तान, बाह्य दृश्य पर आधारित, संघर्ष को ही जीवन-उत्क्रांति की नींव माननेवाले तत्त्वज्ञान का मानवी जीवन के संदर्भ में प्रकटीकरण हुआ है। आश्चर्य यह है कि सर्वत्र संघर्ष ही देखते रहने पर भी समाजरचना के जो अंतिम लोभनीय दृश्य को देखते हैं, उसमें संघर्ष का अभाव रहता है। उस स्थिति में सारे बाह्य नियंत्रण अपने-आप टूट जाएँगे तथा समाज अपने आप ही उत्तम रीति से प्रेम से रहेगा– ऐसी कल्पना वे सामने रखते हैं, परंतु वह किस प्रकार होगा इसका स्पष्टीकरण उस प्रणाली का ज्ञाता या मंडन करनेवाला भी नहीं कर सकता है। इस कल्पना को ही वे 'विदरिंग ऑफ द स्टेट' (राज्य का विसर्जन) कहते हैं। यह क्यों और किस प्रकार होगा इसकी कल्पना नहीं है। यदि संघर्ष ही सत्य है, यदि उसी से जीवन उत्क्रांत होता है तो फिर संघर्ष कहाँ जाएगा? या फिर 'लॉ ऑफ जंगल' (जंगल का कानून) ही शेष रहेगा? सचमुच आदमी आदमी को तो खाने नहीं लगेंगे? भविष्यकालीन अवस्था कैसे व क्यों आएगी– इसकी कल्पना आज तक कोई नहीं दे सका है।

परंतु अपनी दृष्टि से यह कल्पना मैं रख चुका हूँ, भले ही अनेकों को यह कठिन लगी हो। प्राचीन काल से अपने यहाँ यह कल्पना है–

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न, च दण्डो न दाण्डिकः
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः, रक्षन्ति स्म परस्परम्।
(महाभारत, शांतिपर्व ५९-१४)

इस प्रकार आदर्श समाज-रचना की कल्पना है। धर्म-ज्ञान से सृष्टि के साथ एकात्म-भाव उत्पन्न होने से प्रजा परस्पर की रक्षा करती है। अतः बाह्य नियंत्रण की आवश्यकता नहीं रहती। यह चित्र समन्वय, एकात्मता तथा समष्टिस्वरूप के सम्यक् साक्षात्कार पर आधारित है। यह चित्र भारतीय है, तर्कपूर्ण है, अनुभवगम्य है। बाकी अन्यत्र चलनेवाले प्रयासों, राज्यविहीन अवस्था की कल्पनाओं के लिए कुछ भी आधार नहीं है। वे कैसे साकार होंगी, इसका स्पष्टीकारण नहीं है। इसलिए हम कौन सा गृहीत सत्य मानकर जीवन-विषयक दृष्टिकोण निश्चित करनेवाले हैं? जब तक वह सत्य अपने अंतःकरण में दृढ़ नहीं होता, तब तक भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण सामने

आए तो भी हम कोई निर्णय नहीं कर सकते।

हम लोगों ने देखा है कि विदेशियों ने 'जीवो जीवस्य जीवनम्' संपूर्ण सत्य मानकर संघर्ष की कल्पना के आधार पर 'विरोध-विकास', (डायलेक्टिकल मेटीरिएलिज्म) समाज-जीवन की दिशा दिखानेवाला सिद्धांत माना। उसके लिए प्रमाण नहीं दिए। बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है, इसपर से वह सत्य माना जाए क्या? फिर, अपने प्राण देकर भी मनुष्य दूसरों की रक्षा करता है। इस सत्य को क्या नकारा जाए? उसका अपने सुख और प्राणों पर प्रेम नहीं है क्या?

समष्टि जीवन की सात्विक प्रेरणा

कुछ वर्ष पूर्व कोलकाता में घटित एक घटना मुझे स्मरण आती है। नाली साफ करने के लिए सड़क पर 'मेन-होल' का मुँह खोलकर रखा गया था। आसपास खेल रहे दो बच्चे अचानक उसमें गिर पड़े। उन बच्चों को गिरते हुए देख साइकिल पर दफ्तर जानेवाला सफेदपोश कर्मचारी एकदम साइकिल से उतरा और भीतर कूद पड़ा। उन दो लड़कों को उसने ऊपर उठाया, परंतु वह स्वयं नाली के कीचड़ में फँस गया। उसे बाहर निकालकर अस्पताल ले जाते समय उसकी मृत्यु हो गई।

अब सवाल यह है कि इस त्यागप्रवृत्ति की प्रेरणा क्या है? विरोध-विकास में स्वार्थ के लिए दौड़-धूप करनेवाला मनुष्य है। वहाँ इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। बौद्धिक दृष्टि से विरोध-विकास का सिद्धांत इस विषय में समाधान नहीं कर सकता है। वास्तव में वह मामूली पढ़ा-लिखा, टूटी-फूटी अंग्रेजी बोलनेवाला, पेट की चाकरी के लिए रास्ते से जानेवाला एक आदमी था! किस शक्ति ने अपने प्राण संकट में डालकर उन बालकों के प्राण बचाने की इतनी सबल प्रेरणा उसे दी?

अपने यहाँ इसी बात का विचार हुआ। यह प्रेरणा, महान संस्कारों से जागृत कर, उसे जीवन के कार्यकारी प्रवाह का रूप दिया गया। इन्हीं संस्कारों के आदर्श उदाहरण, महान व्यक्तियों के जीवनचरित्र अनादि काल से अपने सामने है। याचना करने पर दधीचि ने अपनी संपूर्ण अस्थियाँ दे डालीं तथा समष्टि-जीवन के महान गुण आत्मसात कर उनपर अटल रहने का संस्कार प्रकट किया। शरणागत की रक्षा करने का वचन देने पर शिकारी-पक्षी सामने खड़ा हो गया और पूछने लगा, 'मेरे भक्ष्य की रक्षा

करता है, तो क्या मैं भूखा रहूँ?' तब शिबि ने अपने शरीर का मांस अपने हाथ से काटकर दिया। वह शिबि आदर्श है। वहाँ अपने प्राणों का मोह नहीं है। समष्टि के लिए आत्मसमर्पण की दृढ़ धारणा है। इस प्रकार के आत्मसमर्पण के उदाहरण– आक्रमणकारियों के विनाश के लिए दधीचि के समान अपनी अस्थियाँ देना हो या शरणागत की रक्षा, समाज की सुरक्षितता और भूखे को भी भोजन देने के लिए अपना मांस काटकर देना हो– इस प्राचीन राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन-पथ पर असंख्य हैं। किस सिद्धांत के लिए उन्होंने इस प्रकार का आत्मसमर्पण किया– यह वे महान आदर्श स्पष्ट रूप से बतलाते हैं।

जीवन का वह तत्त्व अपने हृदय में जागृत करने के लिए हमें प्रयत्नशील होना चाहिए। विविधता में अनुस्यूत एकता का महान संस्कार हम पर होना चाहिए। मै ब्रह्म, माया, वेदांत बोल रहा हूँ– ऐसी धारणा आप न करें। मैं केवल व्यवहार ही कह रहा हूँ। जब तक जीवनव्यापी एकात्मता का सूत्र पहचाना नहीं जाएगा, उसका संस्कार अपने अंतःकरण में दृढ़ नहीं होगा, तब तक संपूर्ण समाज विषयक आत्मीयता में से निर्माण होनेवाला राष्ट्रीयवृत्ति का स्रोत (किसी भी दबाव के बिना) स्वयंस्फूर्ति से प्रवाहित होना सर्वथा असंभव है। राष्ट्रभक्ति क्यों करें, राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दुःख की चिंता क्यों करें, इसके उत्तर तब तक नहीं मालूम होंगे, जब तक सभी व्यक्तियों की समानता तथा एकता हृदय में अनुभव नहीं होती, तदनुसार जीवन में परिवर्तन नहीं होता।

अपने कार्य में ऐसी प्रणाली प्रस्थापित की गई, जो अंतःकरण को, व्यक्ति-विचार की मर्यादा में अवरुद्ध नहीं रखती है। व्यक्ति की श्रेष्ठता, मान-सम्मान की लालसा पैदा करनेवाली आकर्षक वस्तुओं से मुँह मोड़ना सिखाती है। समाज से एकरस, एकरूप अवस्था का, साक्षात् अनुभव दिलाकर कार्यप्रवण करती है। व्यक्ति पृथक नहीं है, समष्टि में सभी एक हैं– यह प्रत्यक्ष शिक्षा देनेवाली अपनी प्रणाली है। इस अनुभव के लिए बाह्य परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। परिस्थिति चाहे जैसी हो, जीवन का आधारभूत तत्त्व अटल, स्थिर है। हम चाहते हैं कि राष्ट्र के संबंध में अटल भक्ति का स्रोत प्रवाहित हो, अपने राष्ट्र को चिरंतन गौरव प्राप्त हो तो अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुसार अपनी राष्ट्रभक्ति का आधार एकात्मता ही हो सकता है और स्वार्थशून्य, स्नेहमय व्यवहार यही कार्य-प्रणाली हो सकती है।

गतिमान चिरंतन जीवन-प्रवाह का निर्माण

जीवन का ऐसा गठन राष्ट्र में व्यापक पैमाने पर हो तो देश के सामने आनेवाले सभी छोटे-बड़े प्रश्न, बाह्य-नियंत्रण के दबाव में न रहते हुए सुगमता से हल हो सकते हैं। तात्कालिक बातों के पीछे पड़ने से राष्ट्रीय समस्याओं का हमेशा के लिए समाधान करनेवाली व्यवस्था कदापि साध्य नहीं हो सकती। दैनिक बातों के पीछे पड़कर 'कुछ' करने का संतोष मिलेगा। क्योंकि जो इस प्रकार की दौड़-धूप नहीं करते, वे निष्क्रिय हैं– ऐसा भाव पैदा होता है। छोटे बच्चे को लाल रंग दिखाई दिया कि वह उसकी ओर दौड़ता है। तुरंत ही दूसरी पीले रंग की वस्तु दिखाई दी कि उसकी ओर आकर्षित होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न आकर्षणों के पीछे वे बेतहाशा भागते हैं। अपने यहाँ के कार्यों का भी ऐसा ही हुआ है। समय-समय पर निर्माण होनेवाली समस्याओं की ओर सभी दौड़ पड़ते हैं। परंतु वे समस्याएँ क्यों पैदा होती हैं, यह सोचकर राष्ट्रीय वृत्ति का चिरंतन प्रवाह निर्माण करनेवाले मूलभूत प्रश्न की ओर कोई भी ध्यान नहीं देता है। इसे भले ही कोई कार्य समझे, परंतु जहाँ दौड़-धूप ही दौड़-धूप दिखाई देती है, वहाँ कार्य की गति बहुत ही कम है– ऐसा समझना चाहिए। पहिया जब धीरे-धीरे घूमता है, तब उसका चक्कर स्पष्ट दिखता है, परंतु पहिये की गति तेज हो तो पूरा पहिया एक स्थिर काठ का गोल टुकड़ा लगता है। तेज गति एक प्रकार से स्थिरता का ही रूप है। जहाँ बहुत भाग-दौड़ हो, बहुत तेजी का भास होता हो, वहाँ काम का दम उखड़ गया या काम को गति ही प्राप्त नहीं हुई है, ऐसा समझें। परंतु महान गति से अखंड गतिशील कार्य की गति प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दी, तो भी वहीं सच्चे जीवन का प्रवाह बहता रहता है। पहाड़ी नालों में बरसात का पानी आता है। वे कल-कल आवाज करते हुए बहते है, परंतु सहस्रगुणित जीवनधारावाली गंगा मात्र धीमी गति से बहती है। वर्षा हो या ग्रीष्म, गंगा का पानी बढ़ता ही है, कम नहीं होता। राष्ट्रीय जीवन का प्रवाह सचमुच गतिमान हो, तो क्षण-क्षण बदलनेवाली परिस्थिति से उसमें परिवर्तन नहीं होगा। स्थिर दिखाई दे, इतनी उसकी हमेशा गति रहेगी। ऐसा गतिमान और चिरंतन जीवनप्रवाह निर्माण करनेवाला अपना कार्य भी उसी विशेषता से युक्त है। उसकी गति बाह्यतः दौड़-धूप से दिखाई देनेवाली नहीं है। सांस्कृतिक आधार पर एक महान गुणप्रणाली की हृदय में जागृति, समष्टि की एकरूपता का साक्षात्कार तथा अभेद्य राष्ट्रभक्ति की मजबूत नींव निर्माण करने का सामर्थ्य उसमें है। इसमें

संदेह नहीं कि यह महाप्रचंड कार्य अंततोगत्वा सफल ही होनेवाला, राष्ट्र को चिरंतन सुख-संपन्नता देने के सामर्थ्य से युक्त है। यही श्रद्धा हृदय में जागृत करने की आज आवश्यकता है।

परिस्थितिनिरपेक्ष सत्य

इतनी गहराई से विचार करने का कोई प्रयास नहीं करता है, परंतु केवल उत्तान, बाह्य विचार न कर अपने भारतीय जीवन के अंतरंग का ज्ञान प्राप्त कर लिया, तो स्वार्थशून्य, विशाल और समष्टि रूप एकात्म जीवन की प्रेरणा देनेवाली वह एकात्मता अपने जीवन में लाकर उसकी नींव पर बाह्य नियंत्रण के बिना स्वयंप्रेरणा से ही उदात्त, स्नेहपूर्ण परस्पर विश्वास, सहानुभूति और सहयोग से परिपूर्ण व्यवहार अपने जीवन में निर्माण करनेवाली अपनी कार्यप्रणाली पर अपनी श्रद्धा दृढ़ होगी। इस दृढ़ श्रद्धा से निर्माण होनेवाली जीवन-रचना के आधार पर आज के लिए ही नहीं, तो सैंकड़ों वर्षों के लिए भी इस राष्ट्र का जीवन सुसंपन्न रहेगा। हम मनश्चक्षुओं से इस चित्र की कल्पना कर सकते हैं। यह जीवन-रचना अपना गृहीत सत्य है। यह एक सत्य हृदय में स्थिर रहना चाहिए। फिर अन्य बाह्यतः रोचक और आकर्षक विचारों का आघात होने का कारण नहीं है।

इस सत्य पर जीवन की रचना करने के संकल्प के बाद बाकी सब अपने प्रयत्नों से जीवन में प्रकट करना है। उसके लिए हमें ज्ञात सारे गुणसमुच्चय व्यवहार में प्रकट होने चाहिए। सफलता-असफलता मूलभूत निष्ठा और इन गुणों के प्रकटीकरण पर निर्भर है। अपने कार्य के सिद्धांत, पद्धति या यशापयश किसी भी तरह से परिस्थिति पर निर्भर नहीं हैं, वरन् हम इसपर निर्भर हैं कि अपना अंतरंग व्यवहार में किस प्रकार प्रकट करते हैं।

यश कैसे मिलेगा- इस प्रकार की भावना के मूल में मुख्यतः आत्मनिर्भरता का अभाव, गुणों की कमी, तत्त्व और व्यवहार में अंतर है। इसी कारण परिस्थिति का प्रभाव होकर कार्य-पूर्ति करना कठिन लगता है, परंतु समष्टिव्यापी एक ही प्राण-तत्त्व के साक्षात्कार से जीवन पूर्ण कर, इसके आधार पर निर्माण होनेवाली गुण-परंपरा प्रत्यक्ष जीवन में उतारकर, विशुद्ध राष्ट्र-प्रीति का चलता-बोलता आदर्श निर्माण कर यदि हम दृढ़ता से खड़े रहे, तो बाह्य परिस्थिति अपने मार्ग में कोई भी बाधा नहीं डाल सकेगी। केवल बाह्य परिस्थिति से कार्य की गति में तेजी-मंदी नहीं आ सकती। अंतःकरण दोलायमान हो, तो समझना चाहिए कि वह अपने आंतरिक गुण-विकास की न्यूनता का ही द्योतक है।

श्रद्धा जागृत करें – कार्य सफल होगा

पिछले डेढ़ वर्ष का कालखंड आँखों के सामने लाओ। बाईस वर्ष कार्य करने के बाद, नाना प्रकार के गुण समाज में चाहिए– यह दृष्टि-सम्मुख रखकर कार्य करने के बाद क्या अनुभव हुआ? उन गुणों का, जीवन की एकात्मता का कितना अनुभव हुआ? हम ही कार्य के प्रेरक, कार्य का गतिमान प्रवाह निर्माण करने की इच्छा करनेवाले, परंतु उन गुणों का जीवन में कितना कम अनुभव लिया, इसका विचार करो। फिर, कार्य अपनी ही त्रुटियों के कारण छिन्न-सूत्र हुआ– यह क्या सच नहीं है? अब भिन्न विचार-प्रणाली ग्रहण करके कार्य करने का विचार मन में हो, तो उसके पूर्व यह विचार करो कि कार्य में जीवन समर्पित करने का भार जिनपर हो, उन्होंने ही इस छोटे से संकट में योग्य गुण प्रकट नहीं किए तो कार्य कठिन क्यों न लगे? इस गुणहीन अवस्था में अन्य बातों की ओर दौड़ते जाने का प्रयत्न किया तो सफलता कैसे प्राप्त होगी? एकात्मता का दृढ़ साक्षात्कार, उसके आधार पर कार्य करने की प्रवृत्ति, स्वतः को स्वार्थ से दूर रखकर काम करने का राष्ट्रभक्ति का संस्कार, ये सारी बातें पूर्ण नहीं हुई हैं। वह संस्कार प्रथम पूर्ण होना चाहिए। ये परम आवश्यक बातें साध्य कर अपना जीवन स्नेहमय कर, संस्कार से परिवर्तित व्यवहार से अपना आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न करें। ऐसा किया तो ही किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्था का, विभिन्न विचारप्रणालियों को स्वीकार कर कार्य की सफलता देखने का प्रयत्न करनेवाली पराभूत वृत्ति से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति का हम विनाश कर सकेंगे। तभी ध्येय दृढ़ होकर उसकी उपासना के मार्ग पर श्रद्धा भी अटल होगी। कार्य का महान व्याप समेटकर वह वर्धमान हुआ दिखाई देगा। सच्ची आवश्यकता तो इस बात की है कि गृहीत सत्य समझकर, उसपर जीवन की रचना करनी है। गुणों का अपने आचरण में प्रकटीकरण कर समष्टि-जीवन का आदर्श स्वरूप दृश्यरूप में निर्माण करने की नितांत आवश्यकता है। इसके लिए समष्टि से, परस्पर से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करो। स्नेह, विश्वास, आदर से परिपूर्ण व्यवहार जीवन में चरितार्थ कर दिखाओ। इस मार्ग से सफलता मिलनी ही चाहिए। इस रीति से किए तेजपूर्ण कार्य की गति में बाह्य परिस्थिति रुकावट डाले, यह सर्वथा असंभवनीय है। मेरे अंतःकरण की यह श्रद्धा है। उसी श्रद्धा को आप सब अपने अंतःकरण में जागृत करें। कार्य सफल होना ही चाहिए। वह सफल होगा, मजबूत होगा। कार्य का जय-जयकार सर्वत्र होगा और हम भारत का जैसा चित्र बनाना चाहते हैं, वैसा ही वह बनेगा।

ॐ ॐ ॐ

ध्येयदर्शन

संघ पर लगाया गया अन्यायपूर्ण प्रतिबंध बिना शर्त उठाए जाने के तुरंत बाद श्री गुरुजी प्रांत-प्रांत में प्रवास कर स्वयंसेवकों के सम्मुख संघकार्य की अनिवार्यता तथा अपना दायित्व स्पष्ट शब्दों में रखने लगे। इसी हेतु वे २३ दिसंबर १९४९ से २ जनवरी १९५० तक उत्तरप्रदेश के त्रि-दिवसीय शिविरों में उपस्थित रहे थे। उस समय दिए गए भाषणों का संकलन।

---

१. विचारों का तूफान

जब प्रांत में भिन्न-भिन्न स्थानों के प्रमुख स्वयंसेवकों के इस प्रकार के एकत्रित कार्यक्रम का विचार किया गया तो मैंने सहर्ष स्वीकार किया, क्योंकि बहुत दिनों से एकत्र बैठकर हम लोग आपस में बातचीत नहीं कर पाए। इतना ही नहीं, एक-दूसरे से मिल भी नहीं पाए। वैसे तो पिछले अगस्त के अंत में मैं इधर आया था, परंतु उस समय कार्यक्रमों की रचना सार्वजनिक ही थी। उस समय का सबका उत्साह भी उसी प्रकार अन्यान्य सार्वजनिक संस्थाओं के समान ही था। इसलिए यह भी स्वाभाविक था कि जैसे सार्वजनिक नेता दूर से देखता है या देखता ही नहीं (जो कि रोशनी पर निर्भर है) उसी प्रकार हमारे कार्यक्रम भी सबके होने के कारण किसी के नहीं रहे। उसमें आपको कितना आनंद और उत्साह मिला होगा, मैं नहीं कह सकता। मुझे नहीं मिला, क्योंकि अपने कार्य का तरीका ही ऐसा रहा है कि हम लोग तथाकथित सत्कार आदि के जीवन से अपरिचित हैं। हाँ,

समाज के अपने बारे में क्या विचार हैं, हमसे उसकी क्या आशाएँ और आकांक्षाएँ है, यह अवश्य मैं देखता गया।

किंतु इन कार्यक्रमों का सब लोगों की मनःस्थिति पर अवश्य परिणाम हुआ। अपने एक कार्यकर्ता का पत्र आया है, जिसमें उसने लिखा है कि 'स्वयंसेवकों की जनता हो गई'। वह कार्यकर्ता प्रचारक है और नए-पुराने सभी स्वयंसेवकों से मिलता है। उसने एक वाक्य में अपना अनुभव लिख दिया। भिन्न-भिन्न संस्थाओं के सदस्य होने के नाते जनता के ऊपर अधिक जिम्मेदारी नहीं रहती। सभा में आना और नारे लगाना, उनका अधिक से अधिक यही काम है। इसी प्रकार का जिम्मेदारी से मुक्त जीवन उसे दिखा होगा। यही उसका भाव है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि हमारा कार्य भिन्न होने से हम 'जनता' नहीं कहते। सामान्य रीति से तो शेष कार्य में प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न भावनाएँ रखकर चलता है तथा किन्हीं भी दो व्यक्तियों के विचार नहीं मिलते। प्रजातंत्र की पद्धति में मानो यही महत्त्व की बात है कि हरेक का रास्ता अलग-अलग है और गंतव्य स्थान पर भी चाहे वह एक ही क्यों न हो, अलग-अलग समय पर पहुँचना है। उसकी दृष्टि से विचार की वही प्रवृत्ति अपने यहाँ भी उत्पन्न हो गई दिखती है। इस सबका उसे दुःख होगा, किंतु मुझे नहीं, क्योंकि विचार करने पर मालूम होता है कि यदि अलग-अलग विचार और धारणाएँ हैं तो चिंता का कारण नहीं, हर्ष का है। बाहर के लोग तो कहते हैं कि हमारे यहाँ विचारों की स्वतंत्रता ही नहीं है, कम-से-कम उनके आरोप का तो यह उत्तर है ही कि हमारे यहाँ भी विचार की भिन्नता है और प्रत्येक व्यक्ति चारों ओर के वायुमंडल से रास्ता निकालने का प्रयत्न करता है। फिर भी ऐसे लोग अभी तक एकत्रित हैं और एकत्रित रहेंगे भी।

मनुष्य विचारशील प्राणी है

जब मैं इधर आ रहा था, तब मेरे अंतःकरण में हर्ष की एक भावना थी कि अपने जिन सहकारियों से मैं पिछले दो वर्षों से नहीं मिल सका हूँ, उनसे फिर मिल सकूँगा। साथ ही आपके सम्मुख मुझे कुछ कहना भी पड़ेगा। यह जब ध्यान में आया तो दो वर्ष पूर्व का दिल्ली में आनंदपर्वत पर इसी प्रकार का आयोजित कार्यक्रम स्मृति-पटल पर आ गया। वहाँ नीति और कार्यपद्धति के विषय में मैंने अत्यंत स्पष्ट रूप में विचार रखे थे। कतिपय संघ-प्रेमी सज्जनों ने यह विचार रखा था कि संघ की नीति में

कुछ परिवर्तन किया जाए। उनका सविस्तार उत्तर देने के लिए ही वह भाषण था, जो आज भी मुझे भली-भाँति याद है। उसके दो महीने बाद ही अपना कार्य बंद हो गया तथा हममें से अनेकों का कारागार का सुख भी भोगना पड़ा। सद्भाग्य से कारागार सभी देशभक्तों के भाग्य में होता है। जो भला करना चाहते हैं, उनके मार्ग में कष्ट आते ही हैं। डूबते हुए को बचाते समय डूबनेवाला, बचानेवाले को अपने भार से कसकर दबाता हुआ तल तक ले जाने का प्रयत्न करता है। इस समय हमको एकांतवास भी मिला, जिससे अपने कार्य का सिंहावलोकन तथा उसके भविष्य के संबंध में विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ। कार्य के अभाव में विचार वैसे ही बलवान रहते हैं। फिर कर्तृत्वशक्ति के जागृत रहने से बाह्य परिस्थिति का जो परिणाम मन पर नहीं होता, वह भी उस शक्ति के सुप्त रहने के कारण हुआ। मनुष्य विचारी प्राणी है। यद्यपि हाथों से काम और मस्तिष्क से विचार होना चाहिए, किंतु प्रायः होता एक ही है। या तो विचार इतने अधिक हो जाते हैं कि काम का ध्यान ही नहीं रहता अथवा कर्मण्यता इतनी अधिक हो जाती है कि अविचार तक हो जाता है। कांग्रेस के इतिहास को ही लें। हमको दोनों ही अवस्थाएँ स्पष्ट दिखाई देंगी। एक समय तो वहाँ सब लोग विचारी ही विचारी थे, काम का नाम भी नहीं था। फिर विचार इतना समाप्त हो गया कि अविचारपूर्ण कर्मण्यता के परिणामस्वरूप देश का विभाजन तक हो गया।

जो लोग जेल नहीं गए, उनके ऊपर भी इसी प्रकार का परिणाम हुआ। क्योंकि हृदय को तो कार्य का अभ्यास था और कार्य करने को नहीं मिलता था। सब लोग अनुशासन के कारण शांत थे। उसके पूर्व कभी प्रातः, कभी सायं और कभी रात्रि शाखाएँ चलती थीं। बैठकें होती थीं- कभी गट की, कभी शाखा की, कभी पथक की, जिले या विभाग की। केवल संघ का ही विचार मन में रहता था। वह यही सोचता था कि आज कितनी संख्या है, कल कितनी होगी, शाखाएँ कैसे बढ़ेंगी? कौन स्वयंसेवक आज नहीं आया, उसे कल कैसे लाएँ? बीमार है तो उससे मिलें, दवा की व्यवस्था करें, शुश्रूषा करें। अनुशासन में वृद्धि कैसे हो? संगठित जीवन किस प्रकार उत्पन्न किया जाए? स्वयंसेवक को तब इसी प्रकार की धुन थी। मनुष्य जब कार्य की धुन में होता है, तब बाहर की बातें उसपर प्रभाव नहीं डाल पातीं। ऐसी ही अवस्था उस समय थी। कार्य का कवच बन गया था, जिससे हम बाह्य वायुमंडल से बचते थे और अपने मन के परस्पर विरोधी भावों से भी बचते थे।

परंतु दैनंदिन कार्य अचानक रोक दिए जाने के कारण वह कार्य का कवच नहीं रहा। ऐसी अवस्था में लोगों ने विचार करना प्रारंभ किया। स्वभावतः विचार उत्पन्न हुआ कि इतना कार्य करने के बाद भी हम रुक गए, तो इसका कारण क्या है? ऐसा क्यों हुआ? अवश्य कोई त्रुटि होगी। जिनके बारे में हमारा आदर था, जो हमारे श्रद्धा स्थान थे, उन्होंने विरोध ही नहीं किया, अपितु हमारा जीवन संकट में डाला। ऐसा क्यों हुआ? जिनकी भलाई के लिए हमने काम किया, अपनी आशाएँ और आकांक्षाएँ बर्बाद कीं, कष्ट झेले और विरक्ति का जीवन स्वीकार किया, जिनके प्रति प्रेम और श्रद्धा है, उन्होंने हमारे साथ दुर्व्यवहार क्यों किया? इतना ही नहीं, हमारे जीवन को समाप्त करने के लिए प्रत्यक्ष आक्रमण भी किया। यह विचार प्रत्येक विचारशील मनुष्य के हृदय में आते हैं, किंतु विचारी न होने के कारण मेरे जैसे मनुष्य के मन में यह विचार नहीं आए। एक कार्यकर्ता ने मुझसे पूछा कि ऐसा उदाहरण कहीं और भी हुआ है? मैंने उनसे कहा कि संसार के इतिहास में यह पहला अनुभव नहीं है। जब अनाचार, व्यभिचार, चरित्रहीनता के कारण समाज छिन्न-विच्छिन्न होकर राष्ट्रीय जीवन से शून्य हो गया था, तब बौद्धमत के काल में राष्ट्रजीवन को बदल देने के लिए तत्त्वज्ञान की भूमिका को स्पष्ट रीति से समाज के सामने रखने के लिए तथा जो जीवन-धारा खंडित दिखती थी, उसे पुनः प्रवाहित करने के लिए अवतरित श्रीमद् शंकराचार्य को भी समाज ने कभी विष, कभी तप्त काँच के रस से मारने का प्रयत्न किया था। किंतु वे योगी थे, सब हजम करके आगे निकले। यहूदियों ने ईसा को परकीय राजसत्ता को सौंपकर मरवा डाला। यदि यह सत्य है तो हमारे लिए दुःख की कोई बात नहीं है। ईसा की हत्या हुई, किंतु उसका मत उन्हीं लोगों के सिर पर चढ़ बैठा। ठीक उसी प्रकार जहाँ शंकराचार्य को कष्ट देकर मारने की चेष्टा हुई, उस भारत में आज सत्तर प्रतिशत व्यक्ति शंकराचार्य का अभिमान रखनेवाले और अपने को अद्वैतवादी कहनेवाले हैं। चाहे वे उसे समझते न हों, पर हैं।

कुछ स्वयंसेवकों के मन में भाव आया कि अपने ही अंदर दोष है, कार्य की नींव कुछ गलत है। अब कार्य की प्रेरणा के लिए कोई परकीय तो रहा नहीं, अंग्रेज चले गए और मुसलमान भी अपने टूटे-फूटे घर में प्रभुत्व जमाकर बैठ गए हैं। ऐसे में अब संघ का स्थान कहाँ रहा? अब संघ की आवश्यकता क्या है? यह प्रश्न उठा है, ठीक है। किंतु उसका उठना ठीक है या नहीं, यह आप विचार करें। आप विचार कर सकते हैं, क्योंकि

आपने विचार किया है। विचार-विभिन्नता मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। हमारे यहाँ अंधश्रद्धा नहीं सिखाई जाती, किंतु सोच-विचारकर कार्य के निर्णय को अपनाकर उसपर श्रद्धा को केंद्रित करने का विचार रखा जाता है। मैंने अनेक बार स्वयंसेवकों के सम्मुख यह विचार रखा है, बार-बार यह बात सामने रखी है कि संघ का कार्य परकीय को देखकर नहीं, शत्रुता करने के लिए नहीं, वरन् हिंदू-समाज के प्रेम पर आधारित है। हमारा कार्य द्वेष पर नहीं, प्रेम पर अधिष्ठित है। फिर भी लोग अपने कार्य को दूसरों की प्रतिक्रिया कहते हैं और योग्य विचार न करने के कारण कभी-कभी हम भी इस भ्रामक धारणा के शिकार होकर अकर्मण्य हो जाते हैं। अकर्मण्यता के कारण बैठे-ठाले बनिये की भाँति बाट इधर से उधर रखते, इधर-उधर के विचारों में भटक जाते हैं और कहते हैं कि आज संघकार्य की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी पहले थी। यह बात मेरे उस मित्र जैसी है, जो पढ़ाई के स्थान पर कमरे का सामान ही इधर-उधर किया करता था। इस कारण उसका कमरा प्रतिदिन बदला हुआ दिखाई देता था। कुछ काम न होने के कारण इन दिनों हमने दूसरों की प्रतिक्रियात्मक विचार-प्रणाली अपने ऊपर लादने के और फिर अपनी विचार-प्रणाली उस कसौटी पर तौलने के काफी उद्योग किए हैं।

राजनीति की उपासना

एक विचार हमारे मन में यह भी आया कि अपने इस पावन कार्य पर जो बाधा आई, वह सत्ता की ओर से आई और सत्ता राजनीति के द्वारा प्राप्त होती है। अतएव राजनीतिक शक्ति की उपासना करके सत्ता प्राप्त करते हुए कार्य के लिए बाधारहित अवस्था उत्पन्न करना चाहिए। मन में इस प्रकार का विचार होने के कारण इस समस्या को लेकर अंतःकरण की प्रवृत्तियाँ बनाने का प्रयत्न हुआ। फलस्वरूप हर एक के मस्तिष्क पर राजनीति चढ़कर बैठ गई। मैं उसके संबंध में कुछ भला-बुरा नहीं कहता, क्योंकि मैं उसे जानता नहीं। अपने दूसरे कार्यकर्ता जो उस अखाड़े में खेले हैं, उसके बारे में कहें। जिन्हें राजनीति करना है, वे करें। किंतु उसके अतिरिक्त कुछ कार्य नहीं है, यह कहना उनके अधिकार-क्षेत्र के बाहर की बात है। राजनीति जीवन का अल्पतम अंग है, जीवन को व्याप्त करनेवाला साधन नहीं। कई लोगों के मन में यह भी विचार आए होंगे कि 'यथा राजा, तथा प्रजा' के अनुसार जनता के मन पर प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सत्ता लेनी चाहिए। किंतु आजकल तो जनतंत्र का जमाना है। अतः

अब तो 'यथा प्रजा, तथा राजा' हो गया है। प्रजा दुर्बल है, तो राजा भी दुर्बल होगा। प्रजा यदि भयातुर, विश्वासहीन, चरित्रहीन तथा अभारतीय तत्त्वों से प्रेम करनेवाली होगी तो राजा भी वैसा ही होगा। अतः सत्य तो यह है कि प्रजा के अधिष्ठान पर राजा का निर्माण है, न कि राजा की सत्ता के आधार पर प्रजा के मार्गदर्शन का विचार।

इस विचार के साथ ही यह विचार भी उठता है कि राजनीति से दूर रहकर अपने राष्ट्र को वैभवशाली कैसे बनाएँगे। हम २४ वर्ष से काम कर रहे हैं। हमने कहा कि शक्ति-संपादन करके हिंदू-राष्ट्र को स्वतंत्र करेंगे। किंतु अंग्रेज जाते-जाते करोड़ों लोगों को निराश्रित कर गया। हमारी मातृभूमि का एक खंड भी हमसे अलग हो गया। हम ऐसे ही बैठे रहे तो और भी टुकड़े हो जाएँगे तथा समाज डूब जाएगा, ऐसी स्थिति दिखती है। क्या हम बैठे ही रहेंगे? हमारी यही गति रही तो जो पुनः नहीं होना चाहिए, वह भी हो जाएगा और इस प्रकार केवल पराभूत भावना ही अपने पास रह जाएगी। इस प्रकार की पराभूतता और निराशा के विचार आना भी संभव है। आज अभारतीय विचारों को लेकर काम करनेवाले लोग सर्वसामान्य जनता को आकृष्ट कर अधिकार-प्राप्ति की इच्छा लेकर चलते हैं। यदि उनकी इच्छा पूर्ण हुई तो हम रहेंगे कि नहीं, यह भी विचार आता है। एक ने तो कहा कि इस कार्य का कोई व्यावहारिक स्वरूप न होने के कारण यह अपने ही बोझ से टूट जाएगा। ऐसे अनेक आशीर्वादों को मैंने ग्रहण किया।

लोग समझते हैं कि दुनिया के इतिहास में राजनीतिक कार्य ही चिरंजीव हुए हैं, जबकि यह सत्य नहीं है। मांधाता जैसे महीपति नष्ट हो गए। यहाँ तक कि ज्ञानेश्वरी में कहा है कि पुराण भी केवल मरे हुओं की कहानियाँ मात्र ही हैं। राजनीतिक विचार-प्रणाली, पंथ, संप्रदाय, राज्य– कुछ भी चिरंजीव नहीं रहे। जल्दी हो या देर से, पर नष्ट हो गए। धर्म पर जो अटल हैं, वे ही जीवित हैं।

रोटी और संस्कृति

कुछ लोग ऐसा कहकर अपने विचारों का मंडन करते हैं कि अब तो सबके सामने रोटी का ही प्रश्न है। केवल संस्कृति से काम नहीं चलेगा। उनका कहना है कि विचार सिर में नहीं, पेट में पैदा होते हैं। यह सोचकर लोग पहले आर्थिक विचार रखते हैं। अर्थ-प्रधान राजनीति या राजनीति-प्रधान

आर्थिक स्थिति को ही जीवन का दृष्टिकोण बनाकर चलते हैं। इस प्रकार की विचार-प्रणाली ने जो शब्द रूढ़ किए हैं, उनका प्रयोग होता है। वे कहते हैं कि एक Haves हैं, एक Have nots हैं। एक श्रम है तो एक पूंजी (Capital) है। इस प्रकार बाहर के शब्दजाल को तोते के समान रटकर विचार करते हैं। ये बड़ी-बड़ी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं, पर लोग उन्हीं के अनुसार समाज-कार्य चलाते हैं।

हमारे लोग भी सोचते हैं कि इन विचारों का परिणाम जनता के मन पर तो होता ही है, इस कारण हमको इस क्षेत्र में कुछ करना चाहिए, अन्यथा हमारा कोई प्रभाव नहीं रहेगा। पेट की समस्या अच्छी है। ऐहिक जीवन में खाना-पीना न मिले, सुख न मिले, घर न हो, शिक्षा सुव्यवस्था न हो– यह कोई नहीं कहता। भारत में उत्पन्न हुए हम लोगों ने मानव समाज की सुसंस्कृत अवस्था की प्राथमिकता में यह प्रार्थना की थी–

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।।

अतः यदि आज इस प्रकार के विचार हमारे सम्मुख आएँ तो कोई दुःख की बात नहीं। शिवाजी महाराज ने भी अन्न उत्पन्न करने की प्रेरणा दी थी, किंतु वह सर्वस्व नहीं था। तानाजी और बाजीप्रभु के जीवन में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। अर्थ को तिलांजलि देकर ही बाजीप्रभु को प्रेरणा मिली और शिवाजी के जीवन की रक्षा करने के लिए उसने अपना जीवन दे दिया। किंतु आज लोगों ने अर्थ को ही जीवन का सारसर्वस्व मानकर उसके आधार पर विचारों और योजनाओं के बड़े-बड़े महल खड़े किए हैं। हम भी सोचते हैं कि दूसरे लोगों के समान हम भी कोई ढाँचा तैयार करके लोगों के सामने रखें। हमारे लोगों ने अप्रगतिशील विचार अपनाए हैं, इसलिए हमारी अधोगति हुई है। अतः अब हमको प्रगतिशील विचार अपनाने चाहिए। लोग यह भी सोचते हैं कि यदि हमारी भी कोई राजनीतिक संस्था होती तो प्रतिबंध नहीं आता।

परंतु यह विचार सामने रखते समय लोगों में और भी विचार आते हैं। यथा, हमारी आर्थिक रचना क्या होगी? क्या चुनाव लड़े जाएँगे? मैं यह सब बातें सुन चुका हूँ और यह स्पष्ट कहता हूँ कि इन बातों से मुझे दुःख नहीं हुआ। वायुमंडल में चारों ओर फैले हुए विचारों का प्रभाव होना स्वाभाविक है। विचार करना अच्छा है। जो विचार करते हैं, मैं उन्हें भ्रष्ट

नहीं समझता। मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धा है। प्रवाह-पतित के समान कार्य करने की बजाए विचारपूर्वक कार्य करना अच्छा है। रामकृष्ण का विवेकानंद पर विश्वास था, जिसके कारण उनकी श्रद्धा थी कि विवेकानंद अन्यथा नहीं सोच सकते। उसी प्रकार मेरी भी अपने कार्यकर्ताओं पर श्रद्धा है कि वे चाहे जैसा सोचें, अंत में कार्य के प्रति मन में प्रामाणिकता होने के कारण वे मार्ग पर ही आएँगे।

अव्यावहारिक सिद्धांतों की जननी – अकर्मण्यता

मैं यह भी नहीं कहता कि यह विचार उठे क्यों? अकर्मण्यता के काल में वायुमंडल के प्रभाव से ऐसा होता ही है। शरीर को कुछ काम नहीं है तो सिर को किसने रोका है? वह तो वायुमंडल में चारों ओर जो है, उसे लेकर विचार करता ही है। बाह्य वातावरण के संस्कारों के अनुसार ही अकर्मण्यता में विचार उत्पन्न होते हैं और कर्मण्यता की अवस्था में जब शरीर काम नहीं करता तो मस्तिष्क जोर से दौड़ने लगता है। बुद्धि और भावनाएँ वेग से काम करने लगती हैं। ऐसा ही अकर्मण्यता का जीवन व्यतीत करने वाले एक व्यक्ति ने संघकार्य के बाद की भी अनेक योजनाएँ बताई। किंतु उसका अपना आचरण कितना था? उत्तर नकारात्मक ही था। जिनका कोई साथी नहीं, उनको योजनाएँ ही अधिक सूझती हैं और वे उन विचारों में ही मस्त रहते हैं। विश्वशांति के प्रयत्न के लिए भारत में भी कुछ लोग आए हैं। जो कमजोर राष्ट्र हैं और जिन्हें तीसरे युद्ध से खतरा है, ऐसे कुछ लोग इकट्ठे हुए हैं। हिंदुस्थान तो उनका मुकुटमणि ठहरा। भारत अंतर्राष्ट्रीयता का इतना प्रेमी है कि उसे राष्ट्र का ही पता नहीं है। किंतु जिनको अपना ज्ञान है, वे तो अपने को अधिक व्यक्त करते हुए संसार भर में फैलकर कर्म करने में लगे हैं। जो अकर्मण्य हैं, वे मानो विश्वशांति के विचार में लीन हैं। वैसे मैं विश्वशांति का विरोधी नहीं, किंतु मैंने केवल उदाहरण रखा है कि अकर्मण्यता किस प्रकार आचरणविहीन एवं अव्यावहारिक सिद्धांतों की जननी होती है।

अकर्मण्यता के इस डेढ़ वर्ष के समय में हमारे लोगों के मस्तिष्क में जो भाँति-भाँति के विचार आए, उनका मुझे कोई खेद नहीं है। यदि हमने विचार न किया होता और जड़वत पड़े होते तो मुझे दुःख होता, क्योंकि हमारा दावा है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ विचारहीनों की संस्था नहीं है। सब स्वयंसेवक विचार करके एक सामान्य निर्णय पर आकर कार्य करते हैं।

केवल एक व्यक्ति निर्णय नहीं करता, किंतु विशेषता यह है कि सबका निर्णय एक-सा रहता है। हम कहते हैं कि हमारा स्वयंसेवक विचारी है और यह बात केवल कहने तक ही सीमित नहीं रहती, वरन् कार्य में भी आती है। अन्य संस्थाओं के लोग भले ही मत-स्वातंत्र्य की गर्जना करें और कहें कि हम प्रजातांत्रिक ढंग से संगठन चलाते हैं, किंतु उनके अंदर एक-आध व्यक्ति की आराधना ही होती है और उसके मत के लिए सबके मत को ठोकर मार दी जाती है। हमारे यहाँ ऐसा नहीं है। हमारे यहाँ सबके विचार बराबर एक-से मिलते हैं। हम सब विचार करते हैं और विचार करने के कारण ही सबके विचार मिलते हैं। आम के पेड़ को सब आम का ही पेड़ कहते हैं और गणित के प्रश्न के समान सबका उत्तर एक-सा ही आता है। मत-स्वातंत्र्य होते हुए भी गणित के प्रश्न का ठीक उत्तर अलग-अलग नहीं हो सकता। ऐसा ही हमारा भी है। एक सज्जन ने डाक्टरसाहब से कहा था कि जब मैं स्वयंसेवकों से कुछ पूछता हूँ तो सब एक जैसा ही उत्तर देते हैं, इसका क्या कारण है? डाक्टर साहब ने उत्तर दिया कि उत्तर एक ही होगा, इसलिए सब एक ही उत्तर देते होंगे। दूर कहीं यदि घोड़ा जा रहा है और वह स्पष्ट दिखाई देता है, तो उसे कोई विचार-स्वातंत्र्य दिखाने के लिए गधा नहीं कह देता। हमारे यहाँ विचारों की एकात्मता है, एकसूत्रता है, किंतु प्रतिभा तथा बुद्धिमत्ता स्वतंत्र चलती है। अकर्मण्यता के काल में भी हमने विभिन्न विचार-प्रणालियों का विचार किया, यह तो ठीक, किंतु उसमें भी यदि सबका विचार करते हुए हम इसी निर्णय पर पहुँच सकें कि यही कार्य चलाना चाहिए, तो ठीक है। मैं अपनी पद्धति से अपने कार्य का मंडन करने आया हूँ, किसी का खंडन करने नहीं। अपने कार्य की फिर से ठीक और स्पष्ट कल्पना रखना ही मेरा उद्देश्य है। आगे के दो दिनों में जो बातें मैं कहूँगा, वह आप सुन चुके होंगे, मैं उन्हें केवल दूसरे शब्दों में रखूँगा। विचारों के इस तूफान में योग्य दृष्टि से अपने कार्य का विचार करते हुए उसके यथार्थस्वरूप का स्मरण मात्र ही कराऊँगा। इस दृष्टि से प्रास्ताविक के नाते, पृष्ठभूमि को विशद करने के लिए मैंने आज की बातें कही हैं। मेरा विश्वास है कि सब लोग निःशंक होकर अधिक काम करने का निश्चय लेकर ही यहाँ से लौटेंगे।

२. अपने कार्य का स्वरूप

जब मैं आपके सामने बोल रहा था, तब यह विचार मन में आया कि आखिर अधिक बोलने की आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि यहाँ जो एकत्र हुए हैं, वे कोई नए स्वयंसेवक तो हैं नहीं, प्रत्युत पुराने और कार्य करनेवाले स्वयंसेवक ही हैं। इतना ही नहीं, तो उन्होने इस कार्य के लिए अनेक कष्ट सहन किए हैं। अतः अधिक कुछ न कहते हुए केवल कार्य और विचारों की पुनरावृत्ति मात्र ही आपके सामने करूँगा। नई-नई बात कहने के गुण का अभ्यास मैंने नहीं किया और यदि पुरानी बात का पुनरुच्चारण नहीं किया गया तो विस्मरण हो सकता है।

डाक्टर जी के अनुभव

अपने कार्य के संबंध में सोचते समय हम उस काल का स्मरण करें, जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आरंभ हुआ था। सन् १९२५ में इसकी नींव डाली गई। उस समय देश में एक परकीय सत्ता थी। एक हजार वर्ष से परकीय आक्रमणों का प्रभाव भारतभूमि पर रहा। उनमें से जो अंतिम सत्ता यहाँ उपस्थित थी, उस सत्ता को दूर करने की इच्छा से भिन्न-भिन्न राजनीतिक संस्थाएँ देश में काम कर रही थीं। कांग्रेस और हिंदू सभा के अतिरिक्त क्रांतिकारियों की भी अनेक संस्थाएँ कार्यशील थीं। अपने कार्य के संस्थापक ने भी बचपन से ही, मानो माता के दूध से ही, प्रखर राष्ट्रभक्ति का पान किया था। जिस समय लोग खेल-कूद में मस्त रहते हैं, उस समय भी उनके मन में यही विचार उठता था कि मैं अवश्य ही भारत को श्रेष्ठ बनाकर रहूँगा।

फलतः वे स्कूल की पढ़ाई पूरी भी न कर पाए थे कि उनको पाठशाला से निकाल दिया गया। जीवन में प्रखर राष्ट्रभक्ति का स्फुरण होने के कारण किशोरावस्था में ही उनका क्रांतिकारियों से संबंध हुआ। उन्होंने उनकी कार्यप्रणालियों का निकट से अध्ययन किया तथा अनुभव किया कि उनमें कुछ मौलिक त्रुटि थी। क्रांतिकारियों में मातृभूमि का प्रेम अवश्य था, सेवा का भाव भी था, किंतु इतना ही तो पर्याप्त नहीं था। थोड़े से आतंकवादी कार्यों से अथवा एकाध विदेशी को गोली से उड़ाकर उन्हें यहाँ से भगाने की धारणा ही गलत थी। जिन्होंने ६००० मील दूर से आकर पराक्रम और बुद्धि-कौशल के भरोसे अपना साम्राज्य स्थापित किया, वे भला

एक-दो व्यक्ति के मारे जाने पर ही राज्य छोड़कर कैसे भाग सकते थे? डाक्टरसाहब ने अनुभव किया कि क्रांतिकारियों में प्रखर राष्ट्रभक्ति तो थी, किंतु उनकी कार्यपद्धति ठीक नहीं थी।

इसके पश्चात् वे कांग्रेस में गए। कांग्रेस उस समय लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में कार्य कर रही थी। वहाँ भी डाक्टरसाहब ने सब प्रकार का कार्य किया। उग्र भाषण दिए तथा समाचार-पत्र भी चलाए। सत्याग्रह-आंदोलन में पकड़े जाने पर अपनी रक्षा में उन्होंने जो भाषण दिया, उसके संबंध में जज को भी यह कहना पड़ा कि यह तो उस भाषण से भी अधिक राजद्रोहात्मक है, जिसके कारण यह अभियोग चलाया जा रहा है। वे डाक्टर हो गए, किंतु पैसा कमाने की चिंता नहीं की, यहाँ तक कि खाने-पीने की चिंता भी नहीं की। कांग्रेस का कार्य उन्होंने अत्यंत लगन के साथ किया। इसके बाद भी उन्होंने अनुभव किया कि कांग्रेस के पास राष्ट्र की कोई कल्पना नहीं है। जो कल्पना थी, वह भी विरोधात्मक थी। वहाँ देशभक्ति का अर्थ अंग्रेजों का विरोध मात्र था।

उन्होंने अनुभव किया कि केवल प्रतिक्रियात्मक भावना से राष्ट्र का उत्थान नहीं होगा। समय-समय पर इस आधार पर जनसाधारण की भावनाओं का स्पर्श करने मात्र से राष्ट्र का चिरकालीन कल्याण कैसे हो सकेगा। भारतभूमि के अत्यंत प्राचीन इतिहास तथा उस इतिहास में अत्यधिक एकता को देखते हुए वे यह मान्य नहीं कर सके कि हमारा कोई राष्ट्र ही नहीं था। उन्होंने अनुभव किया कि अति प्राचीनकाल से ही हमारा हिंदू-राष्ट्र है और इसी के आधार पर सच्ची देशभक्ति की भावना पैदा की जा सकती है। इस कल्पना को लेकर किसी अंश में चलनेवाली संस्था हिंदू महासभा में भी उन्हें सत्य का दर्शन नहीं हुआ। उनकी इच्छा तो देशसेवा करने की थी, अपना महत्त्व स्थापित करने की नहीं थी। इसलिए अलग दल निर्माण न करते हुए उन्होंने तत्कालीन संस्थाओं के द्वारा देश-कार्य करना चाहा, किंतु कोई भी संस्था ठीक मार्ग से कार्य नहीं कर रही थी। भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुभव के बाद उन्होंने सोचा कि उन संस्थाओं द्वारा समस्या सदा के लिए हल नहीं होगी। उन्होंने यहाँ तक अनुभव किया कि यदि कार्य की सही पद्धति नहीं अपनाई गई तो भविष्य में बड़ी हानि हो जाएगी। अतः ऐसा कार्य खड़ा करना चाहिए, जो सर्व समस्याओं को सदा के लिए हल कर सके। हमारी प्रमुख समस्या है आत्मविस्मृति, उससे उत्पन्न कर्तव्य को पूर्ण करने की अपात्रता तथा अनेक बार कर्तव्य के स्थान पर

विपरीत कर्म करने की प्रवृत्ति। इसको दूर कर 'हम क्या हैं? कौन हैं? तथा हमारा क्या कर्तव्य है?' इसकी दिशा निश्चित हो तथा इसके विपरीत कर्म न कर योग्य कर्म ही करें, ऐसा पुनर्जागरण का कार्य करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

आत्म-विस्मरण

अतः हम सर्वप्रथम यही विचार करें कि हम कौन हैं। हमें अपनेपन का विस्मरण हो गया है। किसी से पूछो कि तू कौन है, तो वह अपनी जाति बताएगा। यह नहीं बताएगा कि मैं हिंदू हूँ। एक प्रांत के लोग जब दूसरे प्रांत में जाते हैं तो अपने को परदेशी कहते हैं। स्थायी रूप से रहनेवाले ऐसे अनेक परिवारों ने अपना नाम परदेशी रख लिया है। अपने ही देश में परदेशी? संपूर्ण भारत की कल्पना तथा उसके साथ पुत्रत्व का भाव हृदय से मिट गया है। केवल छोटे-मोटे प्रांत विशेष का ही स्मरण रह गया है। हिंदुत्व के सच्चे अभिमान में यह एक बड़ी बाधा है। लोग अपने को गुजराती, महाराष्ट्री, पंजाबी आदि सब कुछ समझते हैं, किंतु हिंदू नहीं समझते। जाति या प्रांत का नाम तो ले लेंगे, किंतु सार्वदेशिक एवं वास्तविक नाम लेने में हिचकिचाहट प्रतीत होती है। यह है आत्मविस्मृति का पहला स्वरूप।

उसका दूसरा स्वरूप है कि हिंदू का यदि हमें ज्ञान भी हुआ तो हम भूल जाते हैं कि वह एक राष्ट्रजीवन चलानेवाला है। हमारा अखिल भारतीय राष्ट्रजीवन है, इसका विस्मरण हो गया है। अतः विपरीत कर्म होने पर भी आश्चर्य नहीं होता। इसीलिए हमने स्वयं पराक्रम करके भी परकीयों के आसन पक्के किए। उन्हें 'अन्नदाता' कहा और उनकी सेवा में ईमानदारी, अपने बंधुओं के प्रति बेईमान होकर प्रकट की। इसी अर्थ को छत्रपति शिवाजी ने जयसिंह को लिखे अपने पत्र में प्रकट किया था। यह विपरीत परिणाम पिछले हजार वर्षों के इतिहास में दिखता है। अपने राष्ट्रजीवन का ज्ञान न होने के कारण बड़े-बड़े लोगों ने कहा कि नया राष्ट्र निर्माण करना चाहिए और यह कल्पना अभी भी वैसी ही है। पूर्वकाल से चले आनेवाले राष्ट्र का तो बड़े से बड़ा आदमी भी पुत्र ही रहता है, पिता नहीं। अतः नए राष्ट्र के निर्माण के विचार से अंग्रेजों की गुलामी में बँधे हुए सभी लोगों को दासता के एक समान बंधन से बँधा पाकर प्रादेशिक राष्ट्रवाद की कल्पना चारों ओर फैल गई। इस नव-निर्माण में हमने राष्ट्र के सर्व सामान्य

सिद्धांतों को भी छोड़ दिया। इसमें नूतनता या अलौकिकता का भाव हो सकता है, किंतु सड़क पर सिर के बल खड़े होना नूतन होते हुए भी योग्य नहीं। कल्पना में नवीनता के साथ-साथ सत्यांश भी चाहिए। गहराई से न सोचनेवाले जन-साधारण को नवीन कल्पनाएँ असत्य होने पर भी भले ही आकृष्ट कर लें, किंतु उनसे सदा के लिए योग्य कर्तव्य का भाव पैदा नहीं किया जा सकता। अतः इस आत्मविस्मृति के परिणामस्वरूप विपरीत कर्म हुए और आगे भी होने की संभावना है। यहाँ तक कि एक-एक प्रांत अपने को भारत से भिन्न स्वतंत्र राष्ट्र मानने लगा और कहा गया कि अपने प्रांत का मुसलमान दूसरे प्रांत के हिंदू से अधिक निकट है, यद्यपि उस निकटता का 'फल' भी मिल चुका है।

अपना कर्तव्य

जिस बात में हमारी अत्यंत श्रद्धा है और जिसमें श्रद्धा रखना राष्ट्रीयता का परिचायक भी है, वह यह है कि यह विशाल भूमि हमारी मातृभूमि है। हम सब इसके पुत्र हैं। इसकी सेवा करना हमारा कर्तव्य है तथा इस भूमि के कारण राष्ट्र के नाते जो हमारा जीवन संभव हुआ है, उस जीवन की कीर्ति अपनी सेवा से फैलाने का स्वाभाविक कर्तव्य हमने अपने सामने रखा है। इस विशाल देश में भिन्न-भिन्न भाषाओं और रीति-रिवाजों से युक्त होते हुए भी हम एक समाज के अंग हैं और वह हिंदू-समाज है। वह भारत का समाज है, इस भूमि का समाज है। उसका जीवन इस भूमि के साथ मिला हुआ है। भारत का इतिहास, माने हिंदू समाज का इतिहास; हिंदुओं का स्थान, माने हिंदुस्थान का इतिहास है। अर्थात् भारत का जीवन हिंदू का जीवन है। भारतीय राष्ट्र हिंदू-राष्ट्र के नाते जीवन व्यतीत करने की बात हमने स्पष्ट रूप से, निर्भयतापूर्वक, बिना किसी हिचकिचाहट के, दूसरों की टीका का भय पाले बिना पूर्ण विश्वास के साथ रखी तथा इस सत्य की संसार से भी मान्यता प्राप्त करा लेने के लिए हमने आग्रहपूर्वक इसका प्रतिपादन किया और उसे सिद्ध करने तथा प्रकट करने के लिए ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का निर्माण हुआ। अपने कार्य के संस्थापक ने प्राचीन काल से चले आनेवाले राष्ट्रजीवन का साक्षात्कार किया था। इसलिए उन्होंने इस हिंदू-राष्ट्र को जगाने का प्रमुख कार्य अपने सम्मुख रखा।

आज हम विचार करें कि जिस विचार का हमने सन् १९२५ में

आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया, उसकी आज जरूरत है या नहीं। आज हिंदू-राष्ट्र की कल्पना सर्वमान्य हुई है क्या? अथवा आज भी लोग हिंदू-राष्ट्र की कल्पना को भूलकर चल रहे हैं? यदि इस दृष्टि से हम आज के वायुमंडल और २४ वर्ष पूर्व संघ की स्थापना के पूर्व के वायुमंडल का विचार करेंगे तो देखेंगे कि उस समय से आज तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है, विशेष इसलिए कि थोड़ा-बहुत हुआ है।

आज से २५ वर्ष पूर्व इस कल्पना को लोगों ने सांप्रदायिक कहा तथा संघकार्य के विरुद्ध अपप्रचार किया। कई लोग इसे 'पागलपन' कहते थे। सन् १९३२ में जब संघ पर राज्यसत्ता की वक्र दृष्टि पड़ी तब मध्य प्रांतीय धारा-सभा में चर्चा हुई और वाद-विवाद हुआ। वहाँ एक सज्जन, जो आज नागपुर में रह रहे हैं, ने संघ का समर्थन करते हुए कहा कि 'मैं डा. हेडगेवार को भली-भाँति जानता हूँ। वे यह कदापि नहीं कह सकते कि हिंदुस्थान हिंदुओं का है और यह हिंदू-राष्ट्र है। यह विचार-प्रणाली पागल को शोभा देती है। डा. साहब का तो विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण है।' यह उन्होंने संघ के समर्थन में कहा था। परंतु वस्तुस्थिति तो यह है कि यह गलत कहा। प्रारंभ से ही 'हिंदू-राष्ट्र' शब्द अपने साथ रहा है। उन दिनों जब इसका प्रतिपादन किया गया था, तब इसे लोग 'पागलपन' कहते थे और आज एक कदम आगे बढ़कर लोग इसे 'द्रोह' कहते हैं। हम जिस परिमाण में वातावरण में परिवर्तन कर अपनी कल्पना का सर्वसामान्य जनता के अंतःकरण में प्रभुत्व देखना चाहते थे, वह नहीं हुआ। इसके उलट, विपरीत विचारधाराएँ चारों ओर फैलीं और उनके प्रवाह में प्रवाहित होनेवालों ने हमारी कल्पना को 'द्रोह' कहा, अभी तक केवल यह परिवर्तन हुआ है। जिस सिद्धांत को हम लेकर चले, उस दृष्टि से कोई परिवर्तन नहीं हुआ, अर्थात् कार्य आज भी शेष है।

संभव है कि यह देखकर कोई कहे कि पिछले २४ वर्ष के सब प्रयत्न व्यर्थ रहे हैं क्या? या २४ वर्ष तक कुछ परिणाम नहीं हुआ तो कार्य में कुछ दोष होगा। ऐसी बात नहीं है। कार्य का परिणाम एकदम नहीं होता। कार्य शुरू होते ही चारों ओर उसका प्रभाव नहीं हो जाता। वह तो धीरे-धीरे होता है। जैसे बीज बोया जाता है तो कुछ समय तक ऐसा लगता है, मानो वह मिट्टी में मिल गया। तब लगता है कि इसका क्या होगा? पर कुछ काल बाद छोटा-सा अति कोमल पौधा सामने आता है, तब हमें उसे सुरक्षित करने की चेष्टा करनी पड़ती है। खाद-पानी देने से वह धीरे-धीरे

वृद्धिंगत होता हुआ फल और छाया– दोनों ही देता है। इसके लिए समय लगता है, समय की आवश्यकता होती है। चमत्कार से भी वह पौधा एक दिन में ही दिखाई नहीं पड़ सकता। जिन्हें हम ईश्वर का अवतार मानते हैं, ऐसे राम और कृष्ण के पैदा होते ही, शरीर धारण करते ही, कोई सतयुग का निर्माण नहीं हो गया। सौ–सौ वर्ष विपरीत बातों से टकराते-टकराते सफलता पाई। यदि यह बात उनके जीवन में सत्य है तो हमें भी समय लगेगा। २४ वर्ष का समय कोई लंबा काल नहीं है। शताब्दियों में गिने जानेवाले राष्ट्र के महान जीवन में २४ वर्ष नगण्य हैं।

जिस संस्था का आज सर्वत्र बोलबाला है, वह सन् १८८५ में प्रारंभ होने के बाद अपने २४वें साल में, अर्थात् १९०९–१० में क्या थी? उससे भी दस साल बाद अपने नागपुर अधिवेशन में– महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने के लिए आयोजित अधिवेशन के अवसर पर सारे देश से आनेवाले लोगों को मिलाकर प्रतिनिधियों और दर्शकों की संख्या २०,००० होगी। यह अवस्था तब थी, जब उसे चारों ओर से रुपया–पैसा भी प्राप्त था और वह भी कार्य–प्रारंभ के ३५ वर्ष बाद। हम लोग तो अपने २४ वर्ष में ही सोचें कि अखिल भारतीय अधिवेशन करना हो तो कितने लोग आएँगे? १९२१–२२ में, १९३१ में और १९४२ के स्वातंत्र्य युद्ध में, तीनों में एक के बाद एक बढ़ती हुई संख्या कारागार में गई। पर हमने २४ वर्ष में जिसे (सत्याग्रह) एक बार ही किया, उसमें कांग्रेस के अंतिम कार्यक्रम में जानेवाले लोगों से कहीं अधिक लोग हमने जेल में भेजे। यह बात मैं अकारण अभिमान के लिए नहीं कहता, बल्कि इसलिए कह रहा हूँ कि यह भाव उत्पन्न न हो कि हमारा कार्य छोटा है। वास्तव में काल के अनुसार ही लोग और कार्य की शक्ति बढ़ती है। हमने दूसरों की अपेक्षा ज्यादा जल्दी से कार्य बढ़ाया है। हमने अधिक प्रगति की है।

कार्य का प्रभाव

हिंदू–राष्ट्र की सत्य कल्पना ने लोगों को आकृष्ट किया है और वे धीरे–धीरे इसे मान रहे हैं। आज तत्त्वतः इसे मानते हुए भी लोग स्वार्थवश न मानते हुए दिखते हैं। बड़े–बड़े लोगों ने माना है कि आखिर यह हिंदू–राष्ट्र ही तो है, पर हम ही जरा कम आग्रह से बोलते हैं। एक बड़े सज्जन से मेरी बात हुई। उन्होंने कहा कि हिंदू–राष्ट्र तो मैं भी चाहता हूँ, परंतु अपने बीच में जोर देने का अंतर है। हम इसे बोलते नहीं हैं और

आप हिंदू-राष्ट्र बड़े जोर के साथ बोलते हैं। 'कंप्रोमाइज' (समझौते) के कारण चाहे वे न कहते हों, पर जब कभी बाहर के प्रभाव को दूर करने में समर्थ होते हैं, तब इसे जरूर मान लेते हैं। हम पर बाहर का प्रभाव नहीं पड़ता। एक सज्जन ने एक दिन मुझसे धीरे से कहा कि जिस दिन इन लोगों को विश्वास हो जाएगा कि आपके कारण उन्हें बड़प्पन मिलेगा, तो वे आपकी प्रशंसा करेंगे। एक स्थान पर एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ। मैं भी उसमें उपस्थित था। अध्यक्ष के नाते राजनैतिक क्षेत्र में प्रतिष्ठा-प्राप्त एक बड़े नेता आए थे। उनकी आधी से ज्यादा जिंदगी जिस कार्य में बीती थी, उसकी राष्ट्र-संबंधी विचार-दृष्टि हिंदू और मुसलमान सबको बटोरकर धर्मशाला के समान खड़ा करने की थी। उनसे लोगों ने कहा कि सांप्रदायिक संस्था के अध्यक्ष बनकर वे क्यों जा रहे हैं। फिर भी अध्यक्ष के नाते वे आए। जरा देरी से आए, पर जब वे आए कार्यक्रम प्रारंभ हो चुका था। मैंने प्रास्ताविक भाषण किया। जनता अत्यधिक संख्या में आई थी और संघ के स्वयंसेवक भी काफी थे। उन्होंने जनता के सम्मुख बोलते हुए अपने प्रकट भाषण में कहा, 'आखिर हिंदुस्थान हिंदुओं का नहीं तो और किसका है?' स्वयंसेवकों की बड़ी संख्या सामने देखकर प्रकट रूप से सत्य कहने का साहस उनमें आ सका। उन्होंने शायद विचार किया हो कि मेरे कहने का कोई प्रतिवाद नहीं करेगा। अतः यह स्पष्ट है कि अपने कार्य के अस्तित्व से दुनिया क्या कहेगी– यह सोचकर जो लोग चुप रह जाते थे, वे धैर्य के साथ साहसपूर्वक कहते हैं कि 'यह हिंदू-राष्ट्र है'। २४ वर्ष के कार्य का यह प्रभाव है।

किंतु स्वार्थमूलक भावना से ही क्यों न हो, लोग आज भी यह कहते हैं कि अब तो अंग्रेज चले गए, अब हिंदू-राष्ट्र का क्या सवाल रह गया। पाकिस्तान की निर्मिति ने तो इस समस्या को और भी समाप्त कर दिया है। इसलिए अब अल्पतम प्रतिरोध लेकर चलना चाहिए। सत्य के लिए 'परिश्रम' से मुक्ति पाने हेतु लोग झगड़े से दूर रहने की भावना से ऐसा कहते हैं, पर इससे अपना विस्मरण ही होता है और परकीयों को भी लाभ होता है। जिन्होंने हमारे झगड़ों का लाभ उठाकर राज्य किया, फिर उनके पश्चात् दूसरे आए और चले गए, किंतु उनके अंदर से विजेता का भाव नहीं गया। अब साम्राज्य की कामना रखनेवाले जो परकीय यहाँ बैठे हैं, वे हमारी आत्मविस्मृति से उत्पन्न होनेवाले मतभेदों को बढ़ाकर, झगड़े से लाभ उठाने से क्यों चूकेंगे। राजनैतिक पक्षोपपक्ष में जाकर भी वे लाभ उठाएँगे।

उनके मत लेने का लालच सबके मन में रहेगा और उससे अपना महत्त्व (कीमत) बढ़ाने का वे प्रयत्न कर भी रहे हैं।

इस संबंध में एक विचार और आता है। यदि बाहर के लोगों ने हमारे इस विचार का इतने आग्रह से प्रतिपादन न भी किया हो, तो भी हमें समाधान है। इस विचार को लेकर चलनेवाले संघकार्य के प्रारंभ के समय केवल एक व्यक्ति था और आज तो लाखों स्वयंसेवक हैं। प्रार्थना में कहा जानेवाला 'हिंदुराष्ट्रांगभूता' का अब लक्षावधि कंठों से उच्चारण होता है। २४ वर्ष में हम इस प्रमाण मे बढ़े हैं। जिस समय हिंदू-राष्ट्र की कल्पना भी कोई नहीं कर सकता था, उस समय एक व्यक्ति था, जो अभिमान से स्वयं को हिंदू कहता था, तथा हिंदू-राष्ट्र के वैभव के लिए सर्वस्व की बाजी लगाकर प्रयत्नशील था। तब केवल एक व्यक्ति था और आज तो घर-बार छोड़कर, संघकार्य घर-घर में पहुँचाने का दृढ़ निश्चय रखनेवाले सहस्रावधि लोग हैं। आज भारतव्यापी एक संगठित शक्ति स्वाभिमान से कहती है 'हिंदू-राष्ट्र है' और यह शक्ति उसी के वैभव के लिए प्रयत्नशील है। यह हमारी प्रगति है। कार्य रुका नहीं है। जब वह चारों ओर जोर-शोर से होता है, तब लोग समझते हैं कि बड़ा कार्य हो रहा है। पर संघ का कार्य दृढ़ता से, मुँह से आवाज न करते हुए चुपचाप कदम बढ़ाता जा रहा है। यदि यह कार्य न होता तो आज हिंदू का नाम लेना भी कठिन हो जाता। जो लोग एक मिश्रित संस्कृति की बात करते थे और कहते थे कि हिंदू संस्कृति की आवाज लगानेवाले हठवादी हैं, हिंदू नाम का तो कोई समाज ही नहीं है, इस भूमि में तो कोई राष्ट्र ही नहीं है, उन्होंने भी जब संघकार्य के आंदोलन के रूप में इसकी शक्ति का थोड़ा सा अनुभव किया तो यह कहा कि संघ की जरूरत है, क्योंकि हम भी तो हिंदू हैं और हिंदू संस्कृति की रक्षा कर सकते हैं। जिसे २४ वर्ष पूर्व वे थोथा कहते थे, उसी की रक्षा का भाव उनमें क्योंकर पैदा हो गया? यह केवल अपने कार्य के अस्तित्व के कारण है। भिन्न-भिन्न दीक्षांत भाषणों में नेताओं ने संस्कृति की आवश्यकता को बताया है तथा अपने प्राचीन आदर्शों की दुहाई दी है। आर्थिक ढाँचे को ही जीवन का सर्वस्व समझनेवालों को यह प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हो गई? संघ के कार्य का पूरी तरह से विरोध करनेवाले तथा इस प्रकार का निश्चय करनेवाले कि 'इस कार्य को नष्ट ही कर दूँगा', वे भी यह कैसे कहने लगे कि भारत का कल्याण हिंदू संस्कृति के आधार पर संगठन करके ही हो सकेगा। इसलिए कि उन्होंने इस संस्कृति के माननेवालों

की प्रबलता देखी। हमारे कार्य ने हिंदू न कहनेवालों के मन में भी 'हिंदू' कहने का भाव पैदा किया और हिंदू-राष्ट्र को न माननेवाले भी लुके-छिपे ही क्यों न हो, उसका उच्चारण करने लगे हैं। यह शक्ति बढ़ जाए तो उनको स्पष्टतया कहना सुलभ हो जाए।

अक्सर लोग कहते हैं कि जब कार्य आरंभ हुआ था, उस समय कार्य ठीक रहा होगा, पर आज की बदली हुई परिस्थिति में इसकी क्या आवश्यकता है। किंतु हम जानते हैं कि उस समय और आज की परिस्थिति में विशेष अंतर नहीं आया है। इसके विरुद्ध चेष्टा करनेवाले उस समय भी थे और आज भी हैं। आज विरोधी भी बढ़े हैं, क्योंकि परिवर्तित परिस्थिति ने उन्हें विरोध कर स्वार्थ-साधन का अच्छा अवसर दिया है। अतः आज स्वार्थांधतावश विरोध बढ़ने की अधिक संभावना है। हम जरा विचार करें कि किस भाव को साध्य करने के लिए हमने अपना कार्य प्रारंभ किया था, वह कितना हो गया है और अब कुछ कार्य करने की आवश्यकता रह गई है या नहीं? क्या आज भारत में लोग यह कह सकते हैं कि हम हिंदू हैं? ऐसा कहने में क्या वे गौरव अनुभव करते हैं? या नहीं। गौरव के साथ हिंदू कह सकने की स्थिति अभी नहीं आई है। इंडियन, नॉन-मुस्लिम, जनरल आदि अनेक नाम हमको अभी तक प्राप्त हुए थे। अब हमको 'सांप्रदायिक' नाम प्राप्त हो गया है। आज भी 'हिंदू' कहने में डर लगता है। मानो हिंदू न कहने से शेष लोग गले मिल जाएँगे। परकीय सत्ता के प्रभाव से बुद्धि की दासता भी उत्पन्न हो गई है। फलतः चारों ओर परानुकरण की ही प्रवृत्ति दिखाई देती है। अपना सब कुछ बुरा दिखाई देता है और दूसरों का सब कुछ अच्छा लगता है। अतः धर्म लोगों की समझ में नहीं आता और संस्कृति को थोथा कह देते हैं। समाज को केवल अपनी जय-जयकार करनेवाला एवं बुद्धिहीन मानकर चलते हैं। जब हिंदू-धर्म, हिंदू-संस्कृति और हिंदू-समाज के बारे में इतनी अश्रद्धा है, तो हिंदू-राष्ट्र का प्रश्न ही कहाँ उठता है। आज भी ऐसे पक्ष हैं, जो भारत का विभाजन न्याय्य मानते हैं, बल्कि वे मुसलमानों को और भी अधिक अधिकार देना चाहते हैं। परकीय गुण का वर्णन एवं उनको गले लगाने की इच्छा आज भी है। जिस ध्येय के लिए हमने इतने दिनों से कार्य किया, उसकी अभी सिद्धि कहाँ हुई है? अतः यह सोचकर घर बैठ जाना कि अब तो स्वतंत्रता मिल गई, अब क्या करना है– ठीक नहीं होगा। अभी तो 'स्वतंत्र' कहना भी कठिन है। हम स्वाधीन तो अवश्य हो गए हैं। अभारतीयता के प्रचार

के लिए चारों ओर प्रयत्न हो रहा है। वह प्रयत्न कैसे रुकेगा? तनिक इतिहास की ओर देखें। हिंदुत्व का जहाँ कट्टर अभिमान रहा, वहाँ सैंकड़ों वर्ष तक मुस्लिम-शासन होने पर भी धर्मान्तरण कम हुआ। आज अभारतीयता के प्रसार से कट्टरता कम करके धर्मांतरण को सुलभ बनाने का भी प्रयत्न हो रहा है। अतः हिंदू-राष्ट्र के सिद्धांत का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करने की आवश्यकता आज पहले से भी अधिक है। यदि यह नहीं किया तो भारत का ईरान बन सकता है। सन् १९२५ के समान आज भी राष्ट्रजीवन का आग्रह और उसके लिए श्रद्धा रखनेवाले लोग निर्माण करने हैं। राष्ट्र संस्कृति से बनता है और यहाँ की मूल संस्कृति को लेकर चलनेवाले पुत्र-रूप समाज का ही हिंदू-राष्ट्र है। यह आग्रह छोड़ दें, ऐसा परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया है। अभी हमारे सिद्धांतों को संपूर्ण समाज से मान्यता मिलना बाकी है। अतः इधर-उधर बिल्कुल न देखते हुए, किसी भी परिस्थिति में इस कार्य की धारणा जैसी की तैसी रखते हुए, इसे ही आगे बढ़ाने का निश्चय करना होगा।

इतने वर्षों तक लगातार काम करने के बाद भी अपने विचार चारों ओर क्यों नहीं प्रसृत हुए? क्या हमारी कार्यपद्धति में कुछ कमी है? क्या अब हमको प्रचार के साधन अपनाकर समाज में एक प्रवाह पैदा करना चाहिए? ऐसे अनेक प्रश्न हमारे सामने आते हैं। वैसे तो प्रवाह छोटे-छोटे पहाड़ी नालों में आता है, गंगा में नहीं। उसमें कभी-कभी इस प्रकार का ज्वार आता है और वैसा हमने भी आवश्यकता पड़ने पर कर दिखाया है। किंतु यह अपना कार्य-क्षेत्र नहीं है।

अपनी संस्कृति

हमने अपने सामने हिंदूभूमि और हिंदू-राष्ट्र कह कर राष्ट्र की एक कल्पना रखी है। राष्ट्र संस्कृति का एक व्यावहारिक स्वरूप है, वह संस्कारों का समुच्चय है। समाज की एकात्मता जिन संस्कारों पर आधारित हो, उन्हीं संस्कारों का समुच्चय संस्कृति है। मैं इसका उदाहरण आपके सामने रखता हूँ।

अपने इस देश में संकट काल में स्त्री राखी भेज कर दूसरों को भाई बनाती थी। जिसे रक्षा भेजी जाती वह भाई हो जाता और एक बार जो भाई बना, वह अपने प्राण देकर भी अपनी बहन की रक्षा करता था। यह परिपाटी पुरानी चली आ रही है। भैया-दूज के समय हर एक मनुष्य बहन से टीका लगवाता है। बहन न हो तो पड़ोसी के घर टीका लगवाने जाता

है और बहन बनाता है। एक बार टीका लगा कि जन्म-भर के लिए बहन के भाव आ जाते हैं। क्या उस व्यक्ति में स्त्री-पुरुष कल्पना नहीं होती? विषय-भावना नहीं उठती? पर सब कुछ होते हुए भी उस प्रेम में अति पवित्रता एवं शुद्धता होना संस्कारों का ही परिणाम है। बाकी के समाजों की ओर भी हम देखें। जिसे खेल-कूद में आदमी ने 'बहन' कहा उसे जवानी में, बड़े होने पर वह कहता है....। यह उनके भाव हैं, उनके संस्कार हैं, उनकी समाज-रचना है। इसीलिए दृष्टि और भावना के परिवर्तन में उन्हें कोई पाप नहीं दिखता। अपने यहाँ के संस्कार भिन्न हैं। अनेकानेक शुद्ध और पवित्र संस्कारों द्वारा हमारे जीवन का दृष्टिकोण बना है। हममें यह भाव उत्पन्न होता है कि एक स्त्री को छोड़कर बाकी सब जगन्माता के रूप में हैं, परंतु दूसरी संस्कृतियों में ऐसा नहीं है। उनके संस्कार भिन्न हैं, उनका दृष्टिकोण तुच्छ है, निंद्य है। वे एक भिन्न जीवन-प्रणाली के संस्कारों में पले हैं, अतएव उनके जीवन का दृष्टिकोण भिन्न है। अपने संस्कार शुद्ध हैं। अपने जीवन की आत्मा, जो राष्ट्रजीवन की नींव है, संस्कृति और संस्कारों पर निर्मित है।

इसीलिए अपने यहाँ कहा गया है कि इस भूमि पर पुत्र के नाते रहनेवाले लोगों का यह राष्ट्र है, इस भूमि के नाम पर ही राष्ट्र का नाम है, इसका इतिहास ही राष्ट्र का इतिहास है, इसका जीवन ही राष्ट्र का जीवन है। विशुद्ध भारतीय जीवन की इस कल्पना में रूढ़ि के कारण यदि कोई बुराई आ गई हो तो उसे झाड़कर पुनः शुद्ध करके एक बार फिर से खड़ा कर देना है। इसीलिए तो हम कहते हैं कि हमारा कार्य सांस्कृतिक है। विशुद्ध संस्कृति को सामने रखकर, उसे अधिक से अधिक तेजस्वी कर, शुद्ध कर, भिन्न-भिन्न भ्रमात्मक विचार हटाकर, शुद्ध राष्ट्र कल्पना के आधार पर विशुद्ध राष्ट्रजीवन उत्पन्न करने का अपना सांस्कृतिक कार्य है। इसीलिए प्रतिज्ञा में 'हिंदू-संस्कृति' शब्द आया है। संस्कृति के उत्थान का, जीवन के विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण से समाज और राष्ट्र के उत्थान का कार्य जो हमने लिया है, उसे इसीलिए 'सांस्कृतिक' कहा है। जिस समय इन विचारों को सामने रखकर हमने कार्य आरंभ किया था, उस समय देश में अन्य लोगों के विचार भिन्न थे। उस समय भी खिचड़ी बनाने को ही 'सांस्कृतिक संगम' कहा जाता था। आज उसी बात को जरा भिन्न शब्द देकर 'मिश्रित संस्कृति'' के नाम से पुकारा जाता है।

अतः जिस सिद्धांत का सन् १९२५ में हमने आग्रहपूर्वक प्रतिपादन

किया, उसकी आज भी नितांत आवश्यकता है। किंतु जिस प्रकार अब हिंदू या हिंदू-राष्ट्र को लोग कहने लगे हैं, उसी प्रकार संस्कृति के विषय में भी है। दो-ढाई वर्ष पहले की बात है कि एक बड़े समाजवादी नेता ने अपने भाषण में कहा था कि भगवा झंडा फाड़कर पैरों तले कुचल डालेंगे। कुचलना तो सामर्थ्य की बात है। कलाई की शक्ति के आधार पर ही झंडा उठता है, सामर्थ्य के अभाव में नहीं। अब ढाई वर्ष बाद उन्हीं के मुख से यह बात निकली है कि हिंदुओं के संगठन के बिना भारत में समाजवाद नहीं आ सकता। आजकल ऐसे लोग भी खड़े हो गए हैं, जो कहते थे कि हिंदू-संस्कृति कुछ नहीं है, पर आज कहने लगे हैं कि हिंदू-संस्कृति के बारे में संघ से ज्यादा हमें मालूम है।

व्यावहारिक स्वरूप

इन सिद्धांतों के अतिरिक्त अपने कार्य का एक व्यावहारिक रूप भी हमने अपने सामने रखा है। हमने कहा कि हिंदू-समाज असंगठित है, दुर्बल है। सन् १९२५ में यह बात स्पष्ट रूप से हमने कही कि समाज का संगठन कर हिंदुओं को बलशाली बनाना चाहिए। इतनी स्पष्ट भाषा में इसे इसके पहले किसी ने नहीं कहा था। हमें गत १,००० वर्ष के इतिहास से पता चलता है कि हिंदू-समाज ने अपनी असंगठित अवस्था के कारण सुख खोया, व्यक्ति खोए और दुर्बलता के कारण पराधीन जीवन व्यतीत किया। उस समय हमारे महान श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान को किसी ने नहीं सुना। लोगों ने तब कहा कि पराभूत लोगों का तत्त्वज्ञान कौन सुने? यह विचार कर हमने एक व्यावहारिक बात रखी कि हमारा हिंदू-समाज है, वह असंगठित है, छिन्न-विच्छिन्न है। उसमें प्रांत के झगड़े भाषा के झगड़े, झगड़े ही झगड़े होते हैं और उसपर स्वार्थ और भर गया है। भयंकर स्वार्थ फैल गया है। इन स्वार्थ और भेदों के कारण उसमें दुर्बलता उत्पन्न हो गई है। अतः भेदों से ऊपर उठते हुए छिन्न-विच्छिन्न हिंदू-समाज को राष्ट्रजीवन प्राप्त कराने के लिए एक सूत्र में सुसंगठित करना चाहिए। पर उसके संगठन का आधार कौन-सा हो? वह आधार बाहर का नहीं हो सकता। एक-सी टोपी सबको पहना देने से संगठन नहीं हो सकता। यदि सबको एक-सी वर्दी पहना दी या एक-सा चिह्न दे दिया अथवा जबरदस्ती सबसे एक भाषा बुलवाई, तो ऐसे एक जैसे आचरण कराने से संगठन नहीं किया जा सकता। उसमें तो दूसरी ही चीज की आवश्यकता रहती है। वह है भावों की।

सन् १९२५ में लोग कहते थे कि हिंदुओं में खान-पान का कितना भेद है। उनमें तो 'नौ कनौजिया तेरह चूल्हे' हैं। अतः संगठन तो खान-पान एक करने से ही होगा। उस समय लोगों के सामने मुसलमानों का समाज था और लोग उन्हीं से अपनी तुलना करते थे। लोग कहते थे कि देखो, उनमें खान-पान का भेद नहीं है, इसीलिए उनमें कितनी ताकत है। अंतःकरण से उत्पन्न होनेवाली श्रेष्ठ और सच्ची प्रवृत्ति के स्थान पर दूसरों की नकल करने की भावना जो अपने दौर्बल्य-काल में फैली, उसी कारण लोग ऐसा कहने लग गए। मैंने सोचा कि जगन्नाथ के पवित्र क्षेत्र में खान-पान का कोई भेद नहीं है, अतः वहाँ खूब संगठन होगा। किंतु वहाँ भी ऐसी बात नहीं है। वहाँ भी अच्छाई और एकता का कोई चित्र नहीं है। कारण स्पष्ट है, बाह्याचार के अधिष्ठान पर सुसंगठितता नहीं आ सकती। प्राचीन जीवन-प्रवाह को आसेतुहिमाचल प्रवाहित होनेवाली इस भारतीय जीवनधारा, जिसे 'संस्कृति' कहते हैं, के अधिष्ठान को जगाना और फिर उस आधार पर हिंदू-समाज को सर्व भेदों से मुक्त कर एक सूत्र में गूँथने का हमारा व्यावहारिक निश्चय रहा है। यही हमारे कार्य का आधार रहा है, अधिष्ठान रहा है।

पर कुछ लोग कहते हैं कि उस समय तो मुसलमानों का डर था, उनके भय से उनका सामना करने के लिए डा. हेडगेवार ने कुछ लट्ठबाज तैयार किए थे। उस समय लोगों ने संघ में लाठी चलती देखी थी। इसीलिए कहा था कि यह लठैतों का कारखाना है। कार्य-प्रारंभ के समय संघ में लाठी-भाले के कार्यक्रम होते थे। उसी प्रकार अन्य अखाड़ों में भी उनकी शिक्षा दी जाती थी। अतः लोगों ने व्यायामशालाओं और अखाड़ों को देखकर कहा कि संघ भी लाठीवालों का कारखाना है। धीरे-धीरे जब यह बढ़ा तो कारखाना दिखने लग गया। लोगों ने पहले समझा था कि प्रतिक्रिया के लिए यह कार्य प्रारंभ हुआ है। उस समय हिंदू-मुस्लिम झगड़ा कराने के लिए परकीय सत्ता थी, तब इसकी जरूरत थी; पर आज तो वह चली गई, अब झगड़े कौन करवाएगा। अतः उसके न रहने पर इन लाठीवालों का कारखाना चलाने की जरूरत क्या है?

लोग कहते हैं कि जब स्वतंत्र भारत का विधान बन चुका है, तब हिंदू नाम से हिंदुओं के संगठन की क्या जरूरत रह गई है? पर वे एक बात भूलते हैं कि जब इस देश में हिंदुओं पर आक्रमण हुआ, तब हिंदुस्थान में हिंदू ही हिंदू थे। उनकी अपनी सेना थी, उनके हाथ में शस्त्रास्त्र थे, दुर्ग

थे, सब कुछ था, पर वे हार गए। ऐसा क्यों हुआ? इटली के एक लेखक ने कहा था कि तीस हजार आदमी खैबर से हिंदुस्थान को जीत सकते हैं। अंग्रेजों ने इस मनुष्य का वेदवाक्य सफल किया। अगर हमारे भीतर एकता होती तो इंग्लैंड के सब स्त्री-पुरुष एक साथ आने पर भी वे सब चूर-चूर हो जाते।

प्राप्त स्वतंत्रता की रक्षा भी आवश्यक

आज लोग कहते हैं कि हमने अंग्रेजों को भगा दिया है। पर वास्तव में तो वे स्वयं चले गए हैं। जब शत्रु चला जाता है, तब लोग कहते ही हैं कि उसकी रहने की हिम्मत नहीं पड़ी। पर सत्य तो यह है कि वे गए और आज उनके जाने पर लोग कहते हैं कि अब आत्मरक्षा की, संगठन की आवश्यकता नहीं है। जैसे यदि किसी गाँव में किसी विशेष रोग का प्रादुर्भाव न हुआ हो और लोग कहें कि वर्जिश मत करो, खाना-पीना चाहे जैसा खाओ। पर ऐसा करना तो ठीक नहीं होता। सर्वमान्य नियम तो जीवन को हमेशा सुव्यवस्थित रखने का है। यह बाह्य परिस्थिति भली हो या बुरी, प्रतिकूल हो या अनुकूल, पर अपना कार्य तो ऐसा स्वरूप निर्माण करने का है, जिससे विच्छेद संभव ही न हो सके। मैंने कुछ वर्ष पहले इंग्लैंड की अवस्था का वर्णन पढ़ा था। इंग्लैंड एक स्वतंत्र देश है, उसपर तब किसी आक्रमण का भय नहीं था। उसके लोग एक बड़ा साम्राज्य चलाते थे। उस समय वहाँ एक ऐसी अवस्था निर्माण होने लगी, जिससे समाज की सुसंपन्नता एवं एकरूपता पर धक्का पहुँचता। स्वतंत्रता, संपन्नता एवं ऐश-आराम के समय कई बार समाज में विघटन आता है। उसके चिह्न जब वहाँ देखे गए, तो वहाँ के लोगों ने संगठन करने का प्रयत्न किया। उसके लिए सब मतों के लोग– राजनीतिक नेता से लेकर तथाकथित राजा, सम्राट तक– सबने रुचि ली और स्वार्थभाव के प्रयत्नों को नष्ट करने में सफलता प्राप्त की। इसीलिए पिछली लड़ाई में वे लड़ सके। सभी वैभवसंपन्न समाजों के लिए यही बात होती है। परंतु हमारे देश में लोग कहते हैं कि अब काहे के लिए कार्य करें, आराम से रोटी-दाल खाएँ और यदि वह न मिले तो हवा पर रहें, पर कार्य क्यों करें? इतिहास ने भी इसे स्पष्ट किया है। रण में जाकर शत्रु को परास्त कर लौटनेवाले पृथ्वीराज चौहान जब ऐश-आराम से घर में पड़े, तो शत्रु ने उन्हें समाप्त कर दिया। दरवाजे पर शत्रु ठोकर मार रहा था, पर पृथ्वीराज नूतन पत्नी के साथ आराम से पड़े थे।

आज हम मान भी लें कि हमने अंग्रेजों को भगा दिया है, पर ऐसी अवस्था निर्माण करना तो ठीक नहीं है कि अब कोई दूसरा शत्रु आ जाए। परकीय के सामने तो उससे अधिक बलशाली बनने की आवश्यकता है। यह बात अवश्य हो सकती है कि वह आज आँख के सामने दिखलाई न देता हो, पर जिन्हें हमने स्वकीय समझने की भूल की है, जो राष्ट्रजीवन में चुपचाप घुसते हैं, उनकी वास्तविकता को न समझने की भूल करना भी अब उचित नहीं है। समाज की विच्छिन्न अवस्था नग्न रूप से हमारे सामने है। उन दिनों प्रांतीयता, भाषावाद और वर्गवाद के झगड़े नहीं थे। तब वे झगड़े होते भी थे तो हम कह देते थे कि अंग्रेजों की चाल है। हमें दुर्बल बनाने का उनका यह प्रयास है, किंतु उनके चले जाने पर तो हिंदू-समाज ने गत एक हजार वर्षों से चलनेवाले भेदों को नष्ट करने के बजाय अपनी अकर्मण्यता के जीवन में बाह्य सत्ता के आवरण में ढके झगड़ों को नग्न रूप से उभारा है। एक प्रांत के लोग दूसरे प्रांत के लोगों को मारकर खून की नदी बहाने की बातें कर रहे हैं। क्या इन विभेदकारी प्रवृत्तियों का निर्मूलन कर विशुद्ध राष्ट्रीय जीवन प्राप्त कराने के लिए हिंदू-समाज के संगठन की जरूरत नहीं है? हम भ्रम को समझें। यदि न समझ सकें तो बड़ी भूल होगी। आज भी संगठन की वैसी ही आवश्यकता है, जैसी सन् १९२५ में थी। अपने अंदर के अवगुणों को दूर कर विशुद्ध हिंदू-संस्कृति के आधार पर एक राष्ट्र और एक जीवन के प्रतिष्ठापन की नितांत आवश्यकता है। यदि सत्य में आज स्वाधीनता प्राप्त है तो उसकी रक्षा और भावी भाग्य-निर्माण के लिए आवश्यक पर्याप्त शक्ति लानी चाहिए, यह भाव हमें अपने हृदय में रखना होगा। अपनी संस्कृति का पुर्नजागरण कर यह भाव जगाना होगा कि यह विशाल समाज एक है। उसकी एकसूत्रता की जितनी आवश्यकता सन् १९२५ में थी, उतनी ही आज भी है। आज तो विच्छेदकारी शक्तियों को खुला मैदान मिल गया है। अतः उसका कौशल से, चतुराई से मुकाबला करने की नितांत आवश्यकता है। हमारे तत्त्व अटल हैं, विचार अटल हैं, संस्कृति अटल है।

दुनिया छोटी हो गई है तो राष्ट्र के विषय में अधिक आग्रह उत्पन्न करना पड़ेगा। जागतिक जीवन उत्पन्न होता है तो हमको आनंद है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का सिद्धांत हमारा ही तो है। इस तत्त्वज्ञान को शेष लोग अपनाएँ तो अच्छा है। किंतु हम यह भूल जाते हैं कि जागतिक जीवन की घोषणा करनेवाले ही तीसरे विश्व-युद्ध की तैयारी में संलग्न हैं। इन दोनों

भावों का समन्वय कैसे होगा? या तो मित्रता बढ़ी है या विद्वेष। वस्तुस्थिति यह है कि आगामी युद्ध का भय सबको है। उसमें से रास्ता है शक्ति का। उसके लिए यह प्रेरणा प्रबल है कि दुनिया छोटी हो गई, खतरा बढ़ गया। अतः बल अधिक चाहिए। पड़ोस में चोर रहता है, यह जानकर मकान अधिक मजबूत बनाना होगा। दुनिया के आक्रमणकारी पड़ोस में हैं, अतः राष्ट्र को अधिक शक्तिशाली एवं तेजस्वी बनाने की आवश्यकता है। यह कार्य प्रखर राष्ट्रभक्ति से ही संभव है, क्योंकि वही शक्ति की प्रेरणा है। इसकी आवश्यकता तब तक रहेगी, जब तक संसार में किसी विशाल तत्त्वज्ञान के आधार पर एकात्मकता न हो और वह तत्त्वज्ञान भी अपना है, शेष तो विद्वेषकारी ही हैं। किंतु दुर्बलों को कौन पूछता है?

जो भ्रम आज बहुत से लोगों के मन में हो जाता है कि अब स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद अपने कार्य की क्या आवश्यकता है, उसका निराकरण डाक्टर साहब ने प्रारंभ में ही कर दिया था। समष्टि-जीवन की भावना के आधार पर निर्मित संगठन से उत्पन्न सामर्थ्य के भाव या अभाव में ही स्वतंत्रता का भाव या अभाव होता है। जिस परिश्रम से स्वतंत्रता प्राप्त की जाती है, उसकी रक्षा के लिए उससे अधिक परिश्रम की आवश्यकता है। इतना ही नहीं, राष्ट्र का गौरव, मान, सम्मान और वैभव भी उस समाज के संगठन पर ही निर्भर है। इस कार्य में परिस्थिति के कारण परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए उन्होंने संघकार्य को परिस्थितिनिरपेक्ष कहा। यह कार्य परिस्थिति की प्रतिक्रिया से उत्पन्न नहीं हुआ, अपितु इसका आधार तो भावात्मक है। अपने समाज को सुसंगठित करने के लिए, राष्ट्र के प्रवाह को अखंड बनाए रखने के लिए ही इस कार्य का निर्माण हुआ है।

हमारे संगठन का आधार : क्रियात्मक भाव

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि एक समय था, जब हिंदू-संस्कृति और समाज पर परकीय सत्ता एवं समाज का आघात होता रहता था, उस समय तो संगठन आवश्यक था। किंतु अब तो अपना ही राज्य है। जिन्हें हम हिंदू कह सकते हैं, उनका ही राज्य है। अब किसी के भय का कारण नहीं। अतः अब किसी भी प्रकार के संगठन की क्या आवश्यकता है? आघात का जो सर्वसाधारण स्वरूप दिखता है, अर्थात् हमारे देव-देवालयों पर आक्रमण होना, हमारी लड़कियों का भगाया जाना आदि, इनको देखकर

पहले भी लोग पूछा करते थे कि संघ इनको रोकने के लिए क्या करनेवाला है? हम तब भी यही कहते थे और आज भी यही कहते हैं कि आघात और आघात की संभावना– दोनों ही समाज की वर्तमान अवस्था के परिणाम हैं। जब तक यह अवस्था है, तब तक इन परिणामों से हम किसी भी दशा में मुक्त नहीं हो सकते। इस अवस्था को दूर करने का एक ही उपाय है और वह है संगठन। साथ ही, आघातों की स्थिति अथवा उनकी संभावना से उत्पन्न प्रतिक्रिया के आधार पर संगठन करने की अपेक्षा तो जीवन के क्रियात्मक भाव के आधार पर ही संगठन अधिक स्थायी एवं हितावह होगा। अतः हमने इस आधार पर संगठन प्रारंभ किया कि हम हिंदू हैं, हमारी एक संस्कृति और सभ्यता है तथा इस संस्कृति रूपी आत्मा से प्रेरित हमारा एक समाज है, एक राष्ट्र है। इस राष्ट्रजीवन को सुसंगठित, बलशाली एवं वैभवशाली बनाना हमारा एकमात्र कर्तव्य है। उक्त भाव से ही हमने अब तक अपना कार्य किया है। आज भी इस भाव की ही आवश्यकता है। जाति और प्रांत का भेद मिटाकर एकात्मवृत्ति उत्पन्न करके केवल यही भाव गूँजता रहे कि मैं हिंदू हूँ; हमारी यह इच्छा अभी भी पूर्ण नहीं हुई है।

सभी संस्थाएँ समाज के भेदों को अपनाकर अपनी रोटी पर ही अधिक घी चुपड़ने की इच्छा से भिन्नता को बढ़ाने की कोशिश कर रही हैं। नई-नई विभिन्नताएँ पैदा की जाती हैं। यहाँ तक कि अनेक वर्षों से जो एकता की गर्जना करते आ रहे थे, उनकी परकीय सत्ता के दबाव के कारण उत्पन्न होनेवाली 'प्रतिक्रियात्मक एकता' उस सत्ता के हटते ही समाप्त हो गई और सब भेद नग्न रूप में प्रकट हो गए हैं। अखिल भारतीय नेतृत्व के दावेदार भी इन भेदों से ऊपर नहीं हो पाए हैं। यहाँ तक कि वे कहते हैं 'यदि भाषा के अनुसार प्रांतों की मर्यादा नहीं बाँधी गई तो खून की नदियाँ बह जाएँगी।' जब हिंदू समाज के लक्षावधि लोगों का रक्त बहता था, तब उनकी वाणी बंद रही। उस समय तो उन्हें एकात्मता सूझी नहीं और आज अपने ही बंधुओं के बारे में वे इस प्रकार के घृणा के भाव व्यक्त करते हैं। निश्चित उनका 'बंधुत्व' का राग केवल भय का परिणाम था, ढोंग मात्र था। एक-दूसरे को धमकाते रहें, उनके जीवन को समाप्त करने के भाव को जागृत करें, यह तो एकात्मता नहीं है। जिन्होंने सबकी खिचड़ी बनाकर नए राष्ट्र के निर्माण की घोषणा की, वे ही आज विभिन्न प्रकार के भेद उत्पन्न कर रहे हैं।

केवल हमारा ही कार्य है, जहाँ कोई भेद नहीं है। 'संपूर्ण हिंदुस्थान का एक-एक कण मेरा है। अखिल हिंदू समाज का प्रत्येक हिंदू व्यक्ति मेरा है', इतनी एकात्मता अपने ही कार्य में है। आसेतु हिमाचल चलनेवाले आंदोलन में जिस हिम्मत, धैर्य और निष्ठा से भिन्न-भिन्न स्थानों के स्वयंसेवक गए, उतनी एकात्मता और कहीं दिखाई नहीं देती, जो प्रांतीयता की बू बड़े-बड़े नेताओं में भी दिखाई देती है उससे अपना छोटे से छोटा स्वयंसेवक भी मुक्त है। यहाँ तो आत्मीयता का भाव है, पढ़े और बेपढ़े, अधिकारी और स्वयंसेवक सबके मन में। इसके अतिरिक्त और कोई भाव पैदा कर संघ के संबंध में प्रबल भ्रममूलक प्रचार होने के बाद भी जब मैं राजकोट गया तो मैंने सबके असामान्य प्रेम और अद्वितीय एकात्मता के भाव का अनुभव किया। लोगों ने चाहे प्रचार किया हो कि यह कार्य मराठों का है, चितपावन ब्राह्मणों का है, किंतु कार्य की एकात्मता के कारण इस प्रकार का भ्रम अधिक नहीं टिक पाया। इस प्रकार २४ वर्ष में भाषा, प्रांत, जाति, प्रतिष्ठा के क्षुद्र अभिमानों को दूर कर हमने किसी अंश तक हिंदू-समाज, हिंदू-संस्कृति और भारतीय राष्ट्र का अभिमान जागृत किया है। इसी को हम और बड़े प्रमाण में करें कि शेष समाज पर भी इसका असर पड़े; तो जो समस्या कार्य के प्रारंभ में थी, वही आज की विच्छिन्नता और विघटन की समस्या हमारे कार्य की विशालता के परिणामस्वरूप दूर हो सकेगी। यह कार्य अपनी पद्धति से ही, परिस्थितिनिरपेक्ष रहते हुए पूर्णतया निःस्वार्थ भाव से 'कोऊ नृप होय हमें का हानि' का भाव समझते हुए किया गया, तो राजसत्ता भी हमारे ही इशारे पर चलेगी। राष्ट्र के सामान्य जीवन को अपनाकर उसके प्रकट होनेवाले मूल सिद्धांतों को न भूलते हुए यदि हमने कार्य किया तो अपने अस्तित्व मात्र से संपूर्ण भारत हमारे सिद्धांतों को मानने वाला हो जाएगा। जिस मार्ग से हमने त्याग, निष्ठा, और श्रद्धा उत्पन्न करते हुए इतनी सफलता प्राप्त की, उसी मार्ग से हम कर्तव्यपरायण जीवन व्यतीत करते हुए इतनी शक्ति उत्पन्न कर सकेंगे कि संपूर्ण भारत का भाग्य-विधान अपने ही इंगित से हो, अन्यथा कदम बढ़ाना कठिन होगा।

३. राष्ट्रीय चारित्र्य

कल अपने कार्य के मूलभूत विचार आपके समक्ष रखे थे और उसके आधारभूत सिद्धांतों पर विचार किया था। उनको एक बार पुनः रखने की आवश्यकता हुई, क्योंकि कई बार समय के बीतने पर लोग समझने लगते हैं कि परिस्थिति-परिवर्तन के साथ-साथ कार्य की रचना में भी परिवर्तन करना चाहिए। सामान्यतः यह सिद्धांत ठीक हो सकता है, किंतु अपने कार्य के लिए यह ठीक नहीं है। कारण, परिस्थिति यदि बदली है तो खराब ही हुई है, अच्छी नहीं। जैसी परिस्थिति अपने कार्य के जन्म के समय दिखाई देती थी, उसी प्रकार की आज भी है। वही आत्मविस्मरण, वही भेद, वही दुर्बलता, वही परानुकरण करने की चेष्टा- सब कुछ वही दिखाई देता है। उससे भी आगे यदि विचार करें तो गत एक हजार वर्ष के लंबे काल-खंड में जिस दुर्गुण का प्रभाव, कुछ अपवाद छोड़कर, सभी में दिखाई दिया- वह चरित्र का अभाव आज भी है। वास्तविकता यह है कि जिसे 'स्वतंत्रता' कहते हैं, उसके बाद भी जनता सुखी नहीं है तो उसका मूल कारण चरित्र का न होना ही है। इसीलिए सब ओर दुःख है। जनता के अंतःकरण में यह भाव उत्पन्न नहीं हुआ कि सत्ता-परिवर्तन होकर अपनी सत्ता आई है। उसके हृदय में यह भाव नहीं है कि यह स्वाधीनता है, यह स्वराज्य है, स्वातंत्र्य है। यदि यह भाव होते तो जिम्मेदारी के भाव आते और चारित्र्यहीनता को मिटाने के प्रयत्न होते। परंतु मूल में कुछ परिवर्तन न होने के कारण यह चित्र दिखाई देता है। यह एक जटिल प्रश्न है। प्रत्येक व्यक्ति इसपर विचार करता है और बड़े-बड़े व्यक्ति प्रतिदिन चरित्र-निर्माण का उपदेश देते हैं। वे यह ध्यान में नहीं रखते कि उपदेश मात्र से चरित्र का निर्माण नहीं होता।

मुझे यहाँ एक घटना का स्मरण होता है। जब अपने कार्य पर प्रतिबंध था, तब मुझे दिल्ली जाने का काम पड़ा। प्रतिबंध हटाने के संबंध में बात होती थी। उस समय भिन्न-भिन्न पंथ तथा मत के लोग मिलने आए। उनमें से एक परिचित सज्जन, जो कांग्रेस के बड़े कार्यकर्ता थे, भी आए। उन्होंने मुझसे कहा कि आप प्रतिबंध की चिंता क्यों करते हैं? देश में चरित्रहीनता, घूसखोरी और चोर बाजारी आदि है। इन्हें दूर करने के लिए सरकार ने बड़े-बड़े विभाग बना रखे हैं, जिनपर बड़ा व्यय होता है। इसलिए वे चाहते थे कि हम काला-बाजार आदि का उच्छेद करें और

हिंदू-समाज के नीति-भ्रष्ट लोगों को ठीक करने का प्रयास करें। उन्होंने कहा कि आपका कार्य हिंदुओं में है और बड़े-बड़े व्यापारी हिंदू होने के कारण आप यह कार्य सुगमता से कर सकते हैं। मैंने उनकी बात मान ली और कहा कि सुझाव अच्छा है, किंतु मैं यह कार्य किससे आरंभ करूँ? किसे नीतिमत्ता का पाठ दूँ? इसपर वे कुछ नहीं बोले। वे प्रश्न का उत्तर समझ गए, क्योंकि वे उस क्षेत्र से संबंध रखते थे, जहाँ सदैव यह पाठ देना पड़ता है।

चरित्र की नींव

अस्तु। यह स्पष्ट है कि समाज में एक ऐसा भाव पैदा हो गया है, जिससे उन्नति नहीं दिखाई देती। जब तक देश में व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय चरित्रहीनता है, तब तक परिवर्तन कैसे होगा? इसके लिए हम इसपर विचार करें कि चरित्र की नींव क्या है? हम पाठ तो बहुत देते हैं, किंतु जब तक प्रेरणा देनेवाले मूल निर्झर का पता नहीं लगता, तब तक उसकी निर्मिति कैसे होगी? यदि एक बार अधिष्ठान का पता लग जाए तो फिर बाद में जगाना भर रह जाता है। हम लोग कहते हैं कि यदि राष्ट्र की कल्पना स्पष्ट है और हम उसके साथ अपना यह संबंध जानते हैं कि उसकी श्रेष्ठता हमारी श्रेष्ठता है, उसकी भलाई में हमारी भलाई है– इतना तादात्म्यभाव, इतनी एकात्मता, इतनी एकतानता, प्रेम, श्रद्धा विश्वास उत्पन्न हो तो चारित्र्य का निर्माण संभव हो जाएगा। किसी व्यक्ति ने यदि व्यक्तिगत सुख की, निजी बड़प्पन की, स्वार्थ की, एक भी बात की हो तो यह विशुद्ध राष्ट्रभक्ति नहीं है। यदि राष्ट्रभक्ति के आधार पर कोई नौकरी या मान-सम्मान या व्यापार की प्राप्ति न करे और चाहे यह कहे कि मैं व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कुछ भी नहीं करता हूँ, किंतु अपने भाई को, लड़के-लड़की या दामाद को, साले को कुछ दिलाने का भाव रखे, तो यह राष्ट्रभक्ति नहीं है। यहाँ सत्यनारायण की कथा कहनेवाले उन पंडितजी की याद आती है, जो अशर्फी चुराकर चल दिए, किंतु सूत लौटाने आधे रास्ते से वापस आए। सूत को लौटा देने की यह नीतिमत्ता आज सर्वत्र है। लड़का, दामाद सबकी सहायता इसी के अंतर्गत आती है। कोई कहेगा कि इन सबका विचार करने की क्या आवश्यकता है? हम कहेंगे कि है। चरित्र का आदर्श ऊँचा ही रखना पड़ता है। आदर्श विशुद्ध हों, फिर चाहे उसे कोई पा सके या न पा सके, किंतु आदर्श तो ऊँचा ही हो। इस संबंध में कोई समझौता नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि हमारे व्यक्तिगत चरित्र की ओर क्यों देखते हो, हम घर में चाहे जैसे रहें, मगर बाहर तो अच्छा करते हैं। किंतु भारत में इससे समाधान नहीं किया जा सकता। हमारे यहाँ अंतर-बाह्य एवं मानसिक शुद्धता की महत्ता स्वीकार की गई है। ग्रीन नामक एक पाश्चात्य तत्त्वज्ञ ने सत्य के विषय में लिखते हुए कहा है कि सत्य अच्छा है, किंतु अपवाद में कभी-कभी असत्य बोलने में कोई हर्ज नहीं। जैसे कोई व्यापारी व्यापार में और वकील वकालत में झूठ बोले तो कोई हर्ज नहीं। भारत का अनपढ़ से अनपढ़ व्यापारी भी झूठ बोलना ठीक नहीं मानेगा। अपने यहाँ का आदर्श है– युधिष्ठिर, जिसने केवल एक बार, और वह भी श्रीकृष्ण के कहने पर पूर्ण मिथ्या नहीं तो अंशतः सत्य कहा 'अश्वत्थामा हतः' क्योंकि शस्त्र-संन्यास द्वारा सिद्धहस्त, सिद्धमंत्र, पराक्रमी, ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज से परिपूर्ण गुरु द्रोणाचार्य को परास्त करना था। इसलिए उनके पुत्र की मृत्यु का समाचार फैलाया गया। अश्वत्थामा चिरंजीवी था, किंतु यह समाचार फैल गया। द्रोणाचार्य ने उसे सुनकर सत्यवादी होने के नाते, शत्रु होते हुए भी युधिष्ठिर से जाकर पूछा। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को इसके लिए बड़ी कठिनाई से तैयार किया और 'नरो वा कुंजरो वा' कहलाकर सत्य बोलने की गुंजाइश दी। द्रोणाचार्य यह अंतिम पद नहीं सुन पाए। यद्यपि युधिष्ठिर का यह भाव नहीं था कि द्रोणाचार्य न सुन पाएँ, किंतु हृदय के भाव के कारण उनको नरक का दर्शन करना ही पड़ा। पहले उनके रथ का पहिया धरती पर नहीं लगता था, परंतु इसके कारण खट से पृथ्वी पर आ गया।

परकीय और भारतीय तत्त्वज्ञान की तुलना में हमारी जीवन-प्रणाली विशिष्ट है, विचार-प्रणाली भिन्न है। आचरण और नीतिमत्ता में भेद है, किंतु आज हमें अपना अच्छा नहीं लगता। घर का जोगी जोगना और आन गाँव का सिद्ध हो गया है। हम दूसरों का अनुकरण करते हैं। परानुकरण करके कहते हैं कि घर का व्यवहार मत देखो, हम बाहर क्या करते हैं, यह देखो। घर में शराब पीते हैं तो क्या हुआ, बाहर तो उसका विरोध करते हैं। किंतु वास्तविकता यह है कि जिसके अपने अंदर ही शुद्धता और पवित्रता नहीं है, वह दूसरों को क्या देगा? जो वस्तु अपने पास है ही नहीं, वह हम दूसरों को कैसे दे सकेंगे? जिसकी जेब में एक पैसा नहीं है, वह दूसरों को सौ रुपए कहाँ से देगा? अतः उसकी बात का कोई परिणाम नहीं होता। उसका मूल खोजकर अंतर-बाह्य जीवन में शुद्धता लाना आवश्यक है। यदि राष्ट्रभक्त तथा राष्ट्रसेवी होने का दावा रखनेवाले के जीवन में

स्वार्थ, मद, लालसा, लोभ, मोह आदि दिखाई दिए तो यह समझना चाहिए कि राष्ट्र पर उसकी श्रद्धा कम है, विश्वास कम है। ऐसी दशा में उससे गलती हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं है। अतः राष्ट्रीय चारित्र्य का मूलाधार तादात्म्य तथा प्रेम है। यह मेरा राष्ट्र है, मैं इसका अंश मात्र हूँ, इसकी भलाई मेरी भलाई है, मैं मरूँ, चाहे परिवार डूबे, किंतु राष्ट्र जिए, राष्ट्र अच्छा रहे'– यह भाव जब उत्पन्न होता है, तब राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण होता है। 'मेरे कार्य से भले लाभ न हो, पर कम से कम हानि तो न हो', यह भाव उत्पन्न होने पर चारित्र्य प्रकट होता है। जब यह विचार जाग्रत होता है और अहोरात्र राष्ट्र-चिंतन होता है, राष्ट्र को उठाने का, राष्ट्र को सुखी करने का, राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति कर्तव्यपूर्ति का विचार होता है। मैं अपने बारे में नहीं सोचूँगा, राष्ट्र सुखी है या नहीं केवल यही सोचूँगा, मैं रहा या न रहा, उससे क्या? राष्ट्र रहना चाहिए– जब इस प्रकार का भाव जागृत होता है, तब इस राष्ट्र-प्रेम से परिपूर्ण राष्ट्र-कल्पना से विशुद्ध चारित्र्य उत्पन्न होता है।

परिपूर्ण राष्ट्र-कल्पना और दलगत स्वार्थ

वर्तमान में सर्वसाधारण रीति से यह चारित्र्य दिखाई नहीं देता, उसका कारण यह है कि लोग विचार करते समय राजकीय अथवा अर्थिक दृष्टि से विचार करते हैं। वे दल की महत्ता को अधिक मानकर उसको बढ़ाना और उसी के द्वारा राष्ट्र का कल्याण करना चाहते हैं। अपने दल को बढ़ाने का ही प्रयत्न करते हैं। राष्ट्र के लिए भला-बुरा क्या होगा, इसका विचार नहीं करते।

लोग चुनावों में देश का भला करने के भाव से नहीं, दलगत स्वार्थ लेकर आते हैं। आज जीवन के सभी क्षेत्रों में आसेतुहिमाचल फैले हुए राष्ट्र के बारे में परिपूर्ण कल्पना नहीं है। अतः सेवा की संपूर्ण प्रवृत्ति भी दलगत स्वार्थ में फँस जाती है। दलगत-स्वार्थ और अनुशासन ही सम्मुख रह जाता है और 'राष्ट्र' दृष्टि से ओझल हो जाता है। लोग कहते हैं कि दल बनाकर भी ऐसा हो सकता है कि दल के संस्कार न हों और मनुष्य ऐसा न बने, किंतु ऐसा संभव नहीं। ऐसा मनुष्य आज तक कोई हुआ नहीं। यदि इतना श्रेष्ठ भाव हो तो दल और पक्ष बनाने की आवश्यकता ही क्या, फिर चरित्रहीनता की इतनी रट क्यों? दल बनाकर दलगत स्वार्थ से ऊपर उठने की बात असंभव है।

यदि कोई तपस्या करनेवाले से कहे कि जंगल में जाकर तपस्या क्यों करते हो, यहाँ प्रलोभनों के बीच रहकर तप करो, तो जिसे परिपूर्ण एकात्मवृत्ति उत्पन्न करना है, ऐसा नहीं करेगा। जहाँ स्पर्धा उत्पन्न हो, स्वार्थ की गुंजाइश हो, दल और पंथ का भला करने की प्रवृत्ति हो, वहाँ दल से विलग होकर सम्यक् राष्ट्र-कल्पना लेकर चलना ही अच्छा है। हम संसार में अपने चरित्र के कारण श्रेष्ठता प्राप्त करें। हिंदू-समाज के श्रेष्ठ व्यक्ति-समूह को, उसके एक-एक व्यक्ति को ऊँचा उठाकर राष्ट्रप्रेम के सूत्र में गूँथकर, उसमें राष्ट्रप्रेम कूट-कूटकर भर, प्रबल राष्ट्र खड़ा करने की इच्छा रखनेवालों के समान दल अथवा पंथ का रूप ग्रहण न करते हुए एकात्मता को बनाए रखने की दृष्टि रखना हमारे लिए आवश्यक है। इसलिए हमने अपने को किसी दल या राजनीतिक पक्ष या पंथ के रूप में नहीं रखा, अपितु हम राष्ट्रव्यापी सम्यक् कल्पना रखकर एक-एक व्यक्ति को इस कल्पना का ज्ञान कराने और राष्ट्रप्रेमी बनाने की कल्पना लेकर चले हैं।

आचरण ही पहचान

कुछ समय पूर्व एक कार्यकर्ता ने सुझाव रखा था। उस समय संख्या बढ़ रही थी और प्रत्येक स्वयंसेवक को पहचानना कठिन था। उन्होंने कहा कि पहचान के लिए कोई चिह्न बनाया जाए, जैसे कोई लोग फूल लगाते हैं, कोई बैज लगाते हैं अथवा कुछ लोग प्रतिदिन के जीवन में टोपी को ही चिह्न मानते हैं। परंतु मैंने कहा कि यदि हमने यह किया तो अपना भी एक पंथ बन जाएगा और अपने यहाँ वैसे ही बहुत से पंथ हैं। दक्षिण में वैष्णवों के दो पंथ हैं– एक पंथवाले मस्तक पर एक प्रकार का त्रिपुंड लगाते है और दूसरे अन्य प्रकार का। दोनों में परस्पर मारपीट, झगड़ा, सिरफुटौवल होती है। यहाँ तक कि एक बार कोर्ट में उनका झगड़ा हो गया कि उत्सव में इस त्रिपुंड वाला हाथी आगे रहे या उस त्रिपुंड वाला। चिह्न से इस प्रकार के संप्रदाय उत्पन्न हो जाते हैं। हम हिंदू हैं, यही हमारा चिह्न है। इस विचार के कारण हमारे बर्ताव में जो परिवर्तन होगा, जैसा आचरण होगा, वही हमारा चिह्न है। अंतःकरण के शुद्ध राष्ट्रीय भाव, संपूर्ण जीवन को राष्ट्र के लिए व्यतीत करने के व्रत की तेजस्विता से उत्पन्न आत्मविश्वास के कारण स्वयंसेवक की चाल-ढाल, रंग-ढंग– सभी कुछ बदल जाता है और यही उसका वास्तविक चिह्न है। परमपूज्य डाक्टर जी ने कई बार बिना परिचय के ही स्वयंसेवकों को पहचान लिया था। इसलिए जो गणवेश

है, वह चौबीस घंटे नहीं पहना जाता। वह तो केवल कार्यक्रम के लिए है। किसी ने कहा कि चिह्नस्वरूप छोटा-सा ध्वज लगाओ। पर उससे भी संप्रदाय की निर्मिति होती है। आज शायद हम कहें कि इससे संप्रदाय नहीं बनेगा, किंतु यह आगे बन सकता है। यदि बाह्याकर्षण बढ़ा, संप्रदाय बना तो यह राष्ट्र के पूर्ण चित्र का खंडित होना है, राष्ट्र-एकत्व की कल्पना का भंग होना है। इसलिए हमने अपने को पंथ से अलग रखा है। भिन्न-भिन्न विचार, पंथ और दल में हम नहीं मिले। कारण यह है कि राष्ट्र की शुद्ध कल्पना आँखों के सामने चाहिए। वह अशुद्ध होने पर राष्ट्रभक्ति कम हो जाती है और उससे चरित्र का पतन हो जाता है। अपने को तो चारित्र्य बढ़ाना है। जब तक भिन्नता है, तब तक सच्चे चारित्र्य का निर्माण नहीं हो सकता। जिसमें यत्किचित् भी स्वार्थ है, वह पूरे राष्ट्र पर प्रेम कैसे करेगा? जो भक्ति राष्ट्र का पूर्ण चित्र आँखों के सामने रखकर की जाती है, उसके लिए सब समान होते हैं। उसी से निःस्वार्थ भाव के द्वारा चरित्र का निर्माण होता है। जिसमें विलगता का भाव है, ऐसी कार्यप्रणाली नहीं आनी चाहिए। इस एक बात को हम समझें।

शक्ति को उन्मार्गी करना ठीक नहीं

कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि हिंदू-समाज के पतन का कारण अच्छे लोगों का जवानी में संन्यास लेना और बचे हुए कचरा लोगों की संतान का बढ़ना है। वे कहते हैं कि जब यह दशा है, तो कचरे से बना हुआ आज का समाज प्रगति कैसे करेगा? इस कथन में तनिक भी वास्तविकता नहीं है। यह कहना कि व्यवहार करते हुए, सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए उसी प्रकार के चरित्र का निर्माण हो सकता है, ठीक नहीं है।

विवेकानंद का एक उदाहरण है। अपनी प्रसिद्धि के पूर्व जब वह श्रीरामकृष्ण परमहंस के पास जानेवाले एक नवयुवक मात्र थे, तब जन्मजात गुण के कारण उनका चित्त एकाग्र हो जाता था और एक प्रकार की पवित्र शक्ति का अनुभव होता था। बार-बार के अनुभव से उसके प्रयोग की इच्छा उत्पन्न हुई। एक नवयुवक को बैठाकर समाधिस्थ होकर उन्होंने उसका स्पर्श किया, वह भी ध्यानस्थ हो गया। इसपर परमहंस ने बुलाकर कहा कि ऐसी गलती मत करना। अपनी शक्ति को उन्मार्गी करना ठीक नहीं। हम भी एक प्रकार की शक्ति का संचय कर रहे हैं। लोगों को लगता है कि कुछ शक्ति है, अतः इधर-उधर हाथ लगाएँ। यह अच्छा नहीं। उनकी

(विवेकानंद की) शक्ति विशुद्ध जीवन को प्रकट करने में थी, हमारी शक्ति राष्ट्रजीवन को प्रकट करने में है। शक्ति को उन्मार्गगामी नहीं होने देना चाहिए।

श्रद्धा और ध्येय सत्ता से श्रेष्ठ

कुछ लोगों का कहना है कि अपने कार्य की अधिक सफलता के लिए सत्ता का अधिष्ठान रहे तो अच्छा है। विचार रोचक है। सत्ता की लालसा भी प्रेरणा देती है। भूतकाल में बौद्धमत तथा इस्लाम का प्रचार भी सत्ता के कारण ही हुआ तथा आज भी अनेक अहिंदू बातें सत्ता के कारण ही चलती दिखती हैं। यह भी कहा जाता है कि यदि सत्ता दूसरों के हाथ में रही, तो सत्तालोलुपता के कारण अपने कार्य पर फिर प्रतिबंध आ जाऐगा। किंतु यह बात समझ में नहीं आती। ईसा के विरुद्ध संपूर्ण राजसत्ता थी, यहाँ तक कि जनता भी विरोध में थी। उनको क्रॉस पर लटका दिए जाने के बाद तो उनके शिष्यों का कोई मार्गदर्शक भी नहीं रहा था। किंतु उनके अंतःकरण में ध्येय था, श्रद्धा थी और विचारों का साक्षात्कार था। उसी के आधार पर वे चारों ओर फैले। विश्व उनके चरणों पर झुका। उनके पास कोई सत्ता नहीं थी। जब सत्ता लेने की कोशिश की तो उनमें भ्रष्टाचार फैल गया। इसी प्रकार बड़ा भारी बौद्ध-साम्राज्य हुआ। हिंदुत्व-प्रणाली को खंडित करके भगवान बुद्ध की दुहाई देकर सब कुछ नष्ट करने का प्रयत्न किया। जीवन की श्रद्धा चली गई, किंतु सत्ताधीश उस बौद्ध संप्रदाय को सत्ताशून्य श्रीशंकराचार्य ने संपूर्ण भारत में सांस्कृतिक अधिष्ठान पर ही शक्ति जागृत कर समाप्त कर दिया। सर्वसाधारण जनता का विरोध होते हुए भी अपनी श्रद्धा, बुद्धि, कार्यप्रवणता और तत्त्वज्ञान की अटल नींव पर खड़े होकर उन्होंने सफलता प्राप्त की। सत्ता ने भी फिर उनसे चैतन्य प्राप्त किया। जिन्होंने एक विशेष राष्ट्रजीवन को चिरंजीव रखने का कार्य किया, उनके मन में सत्ता का प्रेम उत्पन्न होते ही वे भ्रष्ट और फलतः नष्ट हो गए।

हमारा कार्य चिरंजीवी हो, उसमें संपूर्ण समाज की श्रद्धा हो, यदि ऐसी मन की इच्छा है और उसे पूर्ण करना चाहते हैं तथा वायुमंडल में अपना स्वर विलीन नहीं करना चाहते तो अपने जीवन को भ्रष्ट करनेवाले विचारों से मुक्त रखना पड़ेगा। दूर की बात जाने दीजिए। हाल के ही

इतिहास का एक उदाहरण लें। कांग्रेस में एक समय बड़े त्यागी और देशभक्त व्यक्ति थे। देश की सेवा करते हुए उनके द्वारा समाज में श्रेष्ठ गुण प्रकट हुए। उनके पास राजसत्ता आई और अब......? उसी के कर्णधार आज कहते हैं कि उनके चरित्र का पतन हो गया है। अनाचार, स्वार्थ, पदलोलुपता की प्रवृत्ति चारों ओर बढ़ गई है। 'मैं तो इस विषय में सोचता हूँ कि कांग्रेस या तो अपने को भंग कर दे या सत्ता छोड़ दे'– इस प्रकार का विचार महात्मा गाँधी जी ने प्रकट किया था। विचार योग्य था, किंतु शेष सामान्य अनुयायियों को नहीं जँचा। उसका परिणाम प्रत्यक्ष है। कोई कहे कि कांग्रेस के लोगों का ऐसा पतन हुआ होगा, हमारा नहीं होगा, यह तो मिथ्याभिमान है।

अपने कार्य का निर्माण तो आसेतुहिमाचल महान एवं चिरंतन राष्ट्र की भव्य मूर्ति को हृदय में देखते हुए उसकी भक्ति की धारणा पर ही हुआ है। क्या व्यक्ति छोटी-मोटी बातों की ओर देखेगा? दक्षिणेश्वर के मंदिर में एक बार चोरी हो गई, उनमें मूर्ति के अलंकार भी चोरी चले गए। स्वामी रामकृष्ण के मन में आया कि जो अपने अलंकार नहीं बचा सके, वे विश्व को कैसे बचा सकेंगे? किंतु दूसरे ही क्षण उनको ज्ञान हुआ कि जिसे सृष्टि की सम्यक् कल्पना है, वह अलंकार को भी मिट्टी के समान समझता है। उसी प्रकार राष्ट्र की सम्यक् कल्पना लेकर चलनेवाले को पंथ आदि की बातें क्षुद्र मालूम होती हैं। जिसका अंतःकरण राष्ट्रव्यापी है, वह इन बातों की ओर ध्यान नहीं देता।

चिरंजीव सुसंगठित शक्ति का आधार चारित्र्य संपन्नता

अपने कार्य का ध्येय चिरंजीव सुसंगठित शक्ति निर्माण करना है। इसका आधार हमने प्रत्येक व्यक्ति की चारित्र्यसंपन्नता को माना है। यह चरित्र दोनों ही प्रकार का चाहिए– व्यक्तिगत भी और सामाजिक भी। स्वयं अत्यंत शुद्ध चरित्र का होने के बाद भी यदि सामाजिक दृष्टि से हम कुछ विचार नहीं करते तो हमारा चरित्र अधूरा है। उसी प्रकार समाज के लिए अत्यंत परिश्रम करने के बाद जो व्यक्तिगत चरित्र की चिंता नहीं करते, वे पाश्चात्य आदर्शों के पीछे चल रहे हैं। हमारे यहाँ तो यह कहा गया है कि जो अशुद्ध है, वह शुद्ध काम नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति कानून से शराबबंदी करके भी व्यक्तिगत दृष्टि से अनाचार का शिकार बनकर कानून को तोड़ने की कुशलता ही उत्पन्न करेगा। वास्तविक रीति से वह आदर्श

नहीं हो सकता। व्यक्तिगत चरित्र की महत्ता के बाद भी सामाजिक चरित्र के अभाव और उसी प्रकार समाज में महत्त्व प्राप्त करने के बाद भी व्यक्तिगत चरित्र के पतन से समाज की किस प्रकार से हानि होती है, इसका ज्ञान राजा कर्ण के उदाहरण से होगा। उनका महामात्य अत्यंत विद्वान एवं सात्विक था, किंतु राजा कर्ण की दृष्टि एक स्त्री पर पड़ने के कारण वह इतना क्रुद्ध हो गया कि देश की भलाई की चिंता न करते हुए, राजा से बदला लेने के लिए मुसलमानों को आक्रमण के लिए निमंत्रण दे दिया। एक के व्यक्तिगत और दूसरे के सामाजिक चारित्र्य के अभाव ने गुजरात को गुलाम बना दिया। यह अभाव आज भी है। अभी भी भारत को नष्ट करने और रूस को जिंदा रखनेवाले यहाँ अनेक मिल जाएँगे। परिपूर्ण चारित्र्य का निर्माण तभी संभव है, जब सब प्रकार के स्वार्थ से मुक्त हों।

चारित्र्य-निर्माण का आधार संस्कृति

चरित्र का निर्माण किस आधार पर होगा? सब विद्वानों ने विचार करके यह बात रखी है कि चरित्र या स्नेह का आधार एकात्मता है। जो इस एकात्मता को पहचानेगा, वही स्नेह कर सकेगा, वही असुखी होते हुए भी प्रेम करेगा। अतः केवल चारित्र्य का आग्रह करने से चारित्र्य-निर्माण नहीं होगा, उसके लिए ठोस आधार लेना पड़ेगा। भारत में प्राचीन काल से चला आनेवाला हमारा संस्काररूप जीवन जिसे संस्कृति कहते हैं, वही सामान्य अधिष्ठान है। उसके जागरण से ही एकात्मता संभव है। प्रत्येक व्यक्ति एकात्मता का व्यक्त रूप है, यह समझकर समाज की सेवा करना ही धर्म है। जैसे जीवाणु शरीर की सेवा करते हैं, कोई भी आवश्यकता से अधिक संचय नहीं करता; वैसे ही समाज को एकात्म स्वरूप जानकर, मानकर नहीं, अपने जीवन को समष्टिरूप समाज की सेवा में लगा देना ही जीवन का साफल्य है। एकात्मता का भाव ही सुसंगठित रूप दे सकेगा। इस प्रकार के सांस्कृतिक विचारों को लेकर ही हम समाज की पुनर्रचना करना चाहते हैं। संस्कृति को राष्ट्र की आत्मा जानकर उसे ही हम जगाना चाहते हैं। छोटे-मोटे स्वार्थों के कारण यह एकात्मता लुप्त हो जाती है। अपनी सांस्कृतिक भावना से उत्पन्न होनेवाले गुण-समुच्चय के कारण ही एकात्मता का साक्षात्कार अनुभव में हो, शब्दों में नहीं। इसके लिए सत्ता की आवश्यकता नहीं।

सत्ता के द्वारा श्रेष्ठ जीवन का निर्माण असंभव

इतिहास बताता है कि सत्ता के कारण बनी हुई एकता शीघ्र नष्ट हो जाती है। पुराना भी और आज का भी यही अनुभव है। नूतनतम समाज के निर्माण में आर्थिक समता की प्राप्ति के लिए सत्ता का प्रयोग हुआ है। रूस का रस-भरा वर्णन किया जाता है, किंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। मानव-समाज के प्रति प्रेम रखने वाले निष्काम, त्यागी एवं आधुनिक ज्ञानसंपन्न एक महापुरुष ने विश्वभ्रमण के बाद कहा था कि न जाने क्यों लोग रूस की इतनी जय-जयकार करते हैं। वह नंदनवन नहीं है और न उसके पीछे जाने की आवश्यकता ही है। सत्ता प्राप्त होने पर सत्ता को बनाए रखने की आवश्यकता होती है और फिर स्वयं 'सत्ताधारी' और शेष 'गुलाम'– यही भाव पैदा हो जाता है। वहाँ स्वप्रेरणा से कार्य करने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है। समानता भी विश्व के चित्र-विचित्र जीवन में नहीं दिखती। फलतः वह प्रयोग असफल हुआ है। अब तो कुछ रोचक वाक्यों को लेकर वह साम्राज्यलिप्सा की वृद्धि का एक मार्ग रह गया है। मनुष्य के अंदर श्रेष्ठ जीवन उत्पन्न करने का कार्य केवल सत्ता से नहीं हो सकता। जिन्होंने सत्ता नहीं पाई, वे तो दुःख और कष्ट का जीवन अपनाकर ही समाजहित के लिए कार्य करते रहे। उन्हीं से समाज की धारणा रही। सत्ता से मद और एकांतिक अनाचार की ओर प्रवृत्ति होकर व्यवस्था के स्थान पर अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। आर्थिक विषमता के कारण समाज में दौर्बल्य है, सामान्यतया लोग इसी समस्या को रखते हैं। सारे मानव समाज को शोषक और शोषित– दो बड़े वर्गों में बाँट दिया गया है। जैसे पहले लोग दैव और कर्म आदि को रखते थे, अब दैव के स्थान पर द्रव्य को रखते हैं। उसी को आधार मानकर समाज की अव्यवस्था का कारण भी अर्थ ही बताया जाता है। क्या भारत में ऐसी भयंकर विषमता है? कुछ धनवानों का धन भी संसार के धनिकों की तुलना में उपेक्षणीय है। यहाँ तो धनी से निर्धन तक एक सीढ़ी है। दो स्पष्ट वर्ग समाज में हैं, यह कहना भी सर्वसामान्य लोगों को भ्रम में डालना है। यह तो समाज को टुकड़ों में बाँटने की विभेदकारी नीति का परिणाम है। जैसे अभी तक मुस्लिम, नॉन-मुस्लिम आदि शब्दों का प्रयोग हुआ। उसी प्रकार परकीय नारों के आधार पर यह भेद निर्माण किए जाते हैं। दो भाग और उनका संघर्ष अटल नहीं है, न उस संघर्ष से उस भेद को दूर कर अभेद-समाज की निर्मिति ही संभव है। फिर एकात्मता कैसे होगी?

चिरंतन संगठन का आधार

ऐहिक प्रयत्नों में सफलता न मिलने का कारण भी अपने अधिष्ठान का ठीक ज्ञान न होना ही है। भौतिकता की दृष्टि से तो स्वार्थ ही प्रत्येक कार्य का कारण होता है। इससे निर्माण होनेवाला भाव ही समाज धारणा के लिए योग्य भौतिक भाव है, किंतु शक्तिशाली मनुष्य को दूसरे को पीड़ित करने से रोकने का सामर्थ्य इसमें नहीं है। शरीर को सुखी व सुरक्षित रखने के लिए समाज-रचना का भाव अपर्याप्त है। भौतिक विचार से दिखने वाली सुव्यवस्था बाह्य परिस्थिति के भय के कारण अथवा 'सोशल-कॉन्ट्रैक्ट थ्योरी' के अनुसार जीवन के संकटों से मुक्ति और स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों को साथ लेने की इच्छा से है। उस आधार पर चलने के कारण ही आज की अशांति झेल रहे हैं। हमारे यहाँ समाज का सौहार्दपूर्ण जीवन हजारों वर्षों से चलता आया है। इसका कारण केवल लेन-देन का समझौता नहीं, वरन् समाजरूपी व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप है। यही आधार परस्पर स्नेह सिखाता है। यदि स्नेह न हो तो स्वार्थों में बाधा आने पर प्रेम एवं मित्रता नष्ट हो जाती है। अतः मनुष्य के अंदर निर्हेतुक स्नेह का कारण समाज की एक ही आत्मा की, सत्य की, अभिव्यक्ति है। भेद में अभेद का दर्शन कर समाज को सुव्यवस्थित स्वरूप देने की शक्ति इस धारणा में ही है, अन्यथा संगठन नहीं होगा। राजनीतिक या आर्थिक आधार पर कुछ काल के लिए लोग एकत्रित आएँगे, किंतु चिरंतन संगठन इसी आधार पर होगा। संघ के कार्य का अधिष्ठान तात्कालिक प्रश्न पर एकत्रीकरण नहीं, अपितु चिरकालिक जीवन की एकात्मता है। शेष प्रश्नों का विचार कम महत्त्व का है। इसीलिए संस्कृति को ही अपने यहाँ प्रधानता दी गई है।

संस्कृति क्या है, यह लोग पूछते हैं। परिभाषा कठिन है। 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है। जीवन को सर्वांगपूर्ण करते हुए परलोक की साधना स्वतंत्रतापूर्वक करवाते हुए, उस स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय पर संपूर्ण एकात्मता के संस्कार आदि कठिन शब्दों का प्रयोग करते हुए संस्कृति की व्याख्या का प्रयत्न किया जा सकता है। किंतु बिना व्याख्या के क्या काम अड़ता है? वाद-विवाद के लिए यह प्रश्न खड़ा करना अच्छा है, किंतु काम के लिए नहीं। जीवन की व्याख्या किसने की है? जीवन के इस अंतिम तत्त्व को केवल 'एककोषीय' (प्रोटोप्लाज्म) कहकर छोड़ दिया है। जीवन को लेकर सभी विचार सामने आते हैं। कार्य चलता है तो उपलक्षणों से समझा जाता है। हम भी लक्षण

बताकर संस्कृति की परिभाषा कर सकते हैं। समाज को एकात्म समष्टि-शरीर समझना, यह संस्कृति का प्रमुख लक्षण है। व्यक्ति को अकेले में रहना अच्छा नहीं लगता। ईश्वर भी अकेला न रह सकने के कारण ही सृष्टि का विधाता बना। एक ही अनेक में व्यक्त होने के कारण समाज में एकात्मता है। स्नेह या द्वेष– दोनों के लिए समान अधिष्ठान चाहिए। यदि जोड़नेवाली चीज न हो तो वे एक-दूसरे का विचार भी नहीं कर सकेंगे। इस दृष्टि से सबका स्नेह से विचार कर सकते हैं, क्योंकि उन सबमें एक ही चीज है, जो अलग-अलग विचारों से टूटती नहीं। इसको समझना ही संगठन की नींव है। इसका जागरण हमारे यहाँ होता है। मैं एक हूँ, समष्टिरूप समाज से मिला हूँ, हम सबमें एक ही जीवनधारा बहती है, व्यक्ति के नाते कुछ दिनों का हूँ और समाज के नाते चिरंतन हूँ, यह विचार ही हमारे कार्य का आधार हे। भाई-भाई के, मित्र के और परिवार के पारस्परिक संबंधों के भाव का कारण उनके साथ एक-जीवन का अनुभव ही है। इस अनुभूति के बढ़ते-बढ़ते ही व्यक्ति राष्ट्ररूप बनता है। अपने अंदर संपूर्ण राष्ट्र को और व्यक्ति-व्यक्ति के अंदर स्वयं को देखने की संस्कृति की शिक्षा ही हमारे कार्य का अधिष्ठान है। इसके आधार पर जिस समाज की रचना की जाएगी, वह शक्तिशाली होगा।

एकात्मता का अनुभव स्वार्थ को छोड़ने पर ही होता है। मतभेद व शत्रुता स्वार्थ से ही उत्पन्न होती है। निःस्वार्थता और त्याग– दो शब्द हैं, किंतु भाव एक है। इस एकात्मता के कार्य की रचना ही सांस्कृतिक कार्य है। हम एकत्रित क्यों आते हैं? हमारे कार्यक्रम किस ध्येय से होते हैं? उनमें एकात्मता की अनुभूति के अतिरिक्त और कोई भाव नहीं। इसी कारण हमारे यहाँ सबमें समानता का भी भाव है। हम 'हाई कमांड' जैसे शब्द नहीं जानते। कार्य की सुलभता के लिए चाहे कोई शिक्षक आदि बन जाए, किंतु स्वयंसेवकत्व ही उसके जीवन का सबसे बड़ा गौरव है। समय के प्रवाह में एकात्मता अविच्छिन्न रहे, वह प्रभावी हो, समाजव्यापी हो, भेद को समाप्त करके एकरूप देखने को प्रवृत्त करे, यही कार्य योग्य है। शेष बातें तो आने-जानेवाली हैं।

राजसत्ता अधिष्ठान नहीं

राजसत्ता पर हमारा जीवन निर्भर होता तो परकीयों के आक्रमण होते ही हम समाप्त हो जाते, किंतु वे आए और चले गए। गजनवी, गौरी, तुगलक, मुगल, फ्रांसीसी, अंग्रेज सबके सब चले गए। हम ही रहे, क्योंकि

हमने अपने समाज का अधिष्ठान संस्कृति को रखा और अभी तक है। जब तक हम सांस्कृतिक धारा को जागृत रख सकेंगे, तब तक हम जीवित रहेंगे– यह ध्यान में रखा तो हमको यह भय करने का कारण नहीं कि हिंदू-राष्ट्र के प्रति द्वेष करनेवालों की सत्ता आई तो हम जीवित भी रहेंगे कि नहीं। संपूर्ण भारत को म्लेच्छ बनाने का बीड़ा उठानेवालों के समय में भी हम जीवित रहे। सत्ताधीश पहले परकीय थे, अब स्वकीय हैं, तो भी चिंता नहीं। हमारे जीवन का ठोस अधिष्ठान और अतीत के पुरुषार्थपूर्ण प्रयत्न हमारे लिए आशा के केंद्र हैं। प्रजा यदि संस्कृति को मानती है तो किसका राज्य हो सकता है? यदि यह सत्य है तो संपूर्ण प्रजा को सांस्कृतिक आधार पर सुसंगठित करने से कार्य होगा, हाथ पर हाथ रखकर रोने से नहीं और न ही ठोस और सत्य आधार को छोड़कर बालू पर महल खड़ा करने से। यदि स्वकीय की सत्ता हो और वह अपने जैसा प्रबल न रहा, तो समाज किस विचार-प्रणाली को प्रकट करेगा? क्या अपनी संस्कृति के अनुभव के आधार पर शक्ति के अभाव में सत्ताधिष्ठित होने पर भी हम अपनेपन के भाव को प्रकट होता हुआ देख सकेंगे? सत्ता के अनुभव से नहीं, सामर्थ्य के अस्तित्व मात्र से लोग हिंदू-संस्कृति की पूजा करेंगे। आज के संस्कृति-विरोधी स्वकीय भी उसे अपनाएँगे। हम तो राष्ट्र में अपनी संस्कृति के आधार पर चेतना उत्पन्न करते हुए उसके कल्याण की ही कामना करते हैं। हममें किसी को मंत्री बनने की इच्छा तो है नहीं। भारत में चलनेवाले प्रत्येक कार्य पर यदि हम अपना रंग चढ़ाना चाहते हैं, तो हमें इस ठोस चिरंतन कार्य को ही अपनाना चाहिए। जैसे सूर्य के प्रकाश से चंद्रमा प्रकाशित होता है, उसी प्रकार प्रजा के प्रकाश से ही सत्ता को जीवन, प्रकाश तथा प्रभाव मिलता है। सूर्य के अंदर की प्रभावान चैतन्ययुक्त-शक्ति के समान हम प्रजा के सर्वस्व, उसकी आशा-आकांक्षा के मूर्तरूप बनें, फिर उसके प्रकाश से चमकनेवाली सत्ता और कौन-सा प्रकाश दे सकेगी?

उपनिषदों में भी इस तथ्य को प्रकट करनेवाली एक कथा है। असुरों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् देवताओं में मद आ गया कि वे बड़े शक्तिशाली हैं। उस समय भगवान ने उनका मद दूर करने का सोचा और एक विशालकाय मूर्ति के रूप में प्रकट हो गए। देवता आश्चर्यचकित थे, क्योंकि वे समझ नहीं पाए कि यह कौन है? उसका पता लगाने के लिए वायु और अग्नि– दोनों ही एक-एक करके गए। प्रभंजन ने अपनी उड़ानों की और अग्नि ने भस्म करने की अपनी शक्ति का वर्णन किया, किंतु उस

यक्ष द्वारा रखे एक तिनके को न तो वे उड़ा सके और न जला सके। अंत में इंद्र गया पर उसके सम्मुख वह यक्ष एकदम अदृश्य हो गया। वह भी उसका रहस्योद्घाटन न कर सकने के कारण अति लज्जित हुआ। उनको ज्ञान हुआ कि वह भगवान की ही शक्ति है, जिससे प्रत्येक देवता को उसकी शक्ति प्राप्त होती है।

मूर्त समाज की अमूर्त शक्ति

मूर्त समाज की अमूर्त शक्ति को लोग पहचान नहीं पाते। सत्ता का स्थान क्या है– यह लोग समझते नहीं हैं। सत्ता आकाश से नहीं आती। वह जनता के सामर्थ्य में से आती है। मनुष्यों के बीच से ही एक मनुष्य सत्ता ग्रहण करता है। हिंदू-संस्कृति के अनुसार ही भारत का भाग्य निर्णय होगा, यदि यह सांस्कृतिक दृष्टिकोण रहा तो कुर्सी पर कोई बैठे– 'कोऊ होय नृप'। कितनी सत्ताएँ आईं और गईं, किंतु सांस्कृतिक दृष्टिकोण रखनेवालों ने अपने को जीवित रखा। मुगल सल्तनत में जब हिंदू जनता की रक्षा के लिए सत्ता को चुनौती देनेवाला कोई न था, सबने परकीय सत्ता स्वीकार कर ली थी, तब प्रलोभन और जबरदस्ती के बीच हिंदू को अहिंदू बनाने के प्रयत्नों में भी हिंदू कैसे जीवित रहे? वे केवल उनके बल पर जीवित रहे, जिन्होंने सांस्कृतिक अधिष्ठान रखकर प्रभु रामचंद्र के गीत सुनाए, कृष्ण के गान किए, जीवन-परंपरा को बनाए रखा, श्रद्धा को जाग्रत रखा और पतन में भी नैतिक स्वर ऊँचा उठाया। यही सर्वत्र हुआ। सांस्कृतिक कार्य करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषों की परंपरा जब सौ-सौ, दो-दो सौ साल चलती है, तब एकाध ऐसे व्यक्ति का, जो सांस्कृतिक अधिष्ठान लेकर राजसत्ता निर्माण करे, जन्म होता है। शिवाजी के पीछे की ही परंपरा हम देखें। संत ज्ञानेश्वर से लेकर तुकाराम तक की धार्मिक लहर से चैतन्य उत्पन्न करनेवाली परंपरा द्वारा जब वायुमंडल बना, तब उस अधिष्ठान पर वे चमके। अतः जिसका अधिष्ठान पक्का है, वह चिरजीवन के नाते खड़ा हो सकता है। हम भी यदि स्पर्धा की पंक्ति में खड़े हुए तो अपने श्रेष्ठत्व को छोड़कर नीचे आ जाएँगे। हमको अपनी जय-जयकार नहीं चाहिए। मैं तो कई बार कहता हूँ कि मेरे जीवन को दो ही बातें कम कर रही हैं। वे हैं– घोषणा और फोटो। संस्था के नाते हम भी प्रभुत्व जमाकर दूसरों को गुलाम बनाएँ, यह भाव हममें न हो। हममें संपूर्ण राष्ट्र की एकात्मता का भाव हो।

कई बार लोगों को लगता है कि बाकी दल प्रगति कर रहे हैं, उनके झंझावात में क्या हम जीवित रह सकेंगे? भय तो अलग-अलग देखने

वाले को होता है। 'द्वितीयादेव भयं भवति' यह हमारे यहाँ कहा गया है। भारत को भारत के नाते संसार का गुरु बनाने के लिए हम जिस उद्देश्य से खड़े हैं, उसकी ओर ध्यान दें। यदि झंझावात में हम नहीं रहे तो कुछ नहीं रहेगा और हम रहे तो उसे हजम करके भी भारत अपने संपूर्ण ऐश्वर्य के साथ खड़ा रहेगा। हम हैं तो राष्ट्र हैं, नहीं तो भारत का नाम भी नहीं रहेगा। अपने लक्ष्य का पूर्ण विचार हो। हवा के प्रत्येक झकोरे से विकारग्रस्त होने से काम नहीं चलेगा। हिमालय के समान जो अटल होगा, वही गंगा-यमुना जैसी शुद्ध धाराएँ प्रवाहित कर सकेगा। आप शांत-चित्त से विचार करें, यही मैं कहूँगा। यह आग्रह नहीं करूँगा कि आप मेरे विचार ज्यों के त्यों ले लें। हम मूर्ति बनना चाहते हैं या मूर्तिकार? इसका विचार करें। अपना कार्य तो मूर्तिकार का है, जहाँ राष्ट्रात्मा पूर्ण प्रभाव से प्रकाशित है। यह कार्य विघटनकारी पद्धतियों का गुलाम बनकर नहीं हो सकता। यह तो एकात्मा से ही होगा। जब क्षुद्र स्पर्धाएँ दूर होंगी, तब भारत का नाम श्रद्धा से लिया जाएगा। आज बाकी के लोग तो भारत को आर्थिक और कोई बौद्धिक गुलाम बनाने पर तुले हुए हैं। हम भी यदि भारतीय दृष्टि को छोड़कर खड़े हो जाएँ तो इसे सच्चे 'स्व' का ज्ञान कौन कराएगा?

अविचल श्रद्धा, अविकारी मन

यदि हमारे मन में विकार नहीं है, हमारी श्रद्धा का केंद्र नहीं हिला है, तो हमारे मन में झंझावातों में उड़ने की प्रवृत्ति पैदा नहीं हो सकती। राष्ट्र का चैतन्य किसी न किसी रूप में प्रकट होगा ही। बीज बो दिया है, वट वृक्ष अवश्य ही खड़ा होगा। संपूर्ण भारत इसके नीचे आएगा। स्थान-स्थान पर नई जड़ जमेगी। इस निश्चय पर अडिग होकर चलेंगे तो संकट नहीं आ सकता। संकट तो अधूरी शक्ति पर आता है, पूर्ण पर नहीं। एकात्मता के आधार पर पूर्ण नीतिमत्ता से उसको प्रबल एकसूत्रता में संगठित किया तो उसपर कोई संकट नहीं आएगा, बल्कि संपूर्ण राष्ट्रजीवन उसकी प्रेरणा से चलेगा। माधवाचार्य परकीय सत्ता से लड़ने को प्रवृत्त तो हुए, किंतु स्वयं झोंपड़ी में रहे। सत्ताधीश कौन है, इसका सवाल नहीं। हम बढ़े हैं या नहीं, यह देखें। फिर, अपना राष्ट्रजीवन चिरंजीव है। प्रत्येक व्यक्ति को शुद्ध चारित्र्य एवं स्वार्थशून्यता के साथ एकात्मता का अनुभव कराते जाएँ तो महान चिरंजीव सामर्थ्य उत्पन्न होगा। यह सामर्थ्य संपूर्ण समाज के हितों को सुरक्षित रखने में समर्थ होगा।

४. हमारी समाज-रचना

जब हम अपने कार्य की ओर देखते हैं और यह चाहते हैं कि उसका सब प्रकार का प्रभाव हो, तो मन में यह विचार स्वाभाविक रूप से आता है कि उस प्रभाव से युक्त राष्ट्रजीवन का चित्र कैसा होगा? हमारे सम्मुख कोई चित्र है भी या नहीं? भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र रखते हैं। यह कहाँ तक संभव है, इस बात का वे विचार नहीं करते, किंतु हम अवश्य करें। कुछ लोग तो समाजवाद या साम्यवाद के आधार पर भावी समाज का चित्र रखते हैं। उनके चित्र में सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक अधिष्ठान के लिए कोई भाव नहीं है। लोग उसे समझते ही हों– ऐसा भी नहीं है, फिर भी लोग उसकी ओर आकर्षित होते हैं।

फासीवाद और नाजीवाद

बहुत बार लोग नारों के पीछे जाते हैं। उदाहरण के लिए– कुछ लोग अपने कार्य को फासिस्ट कहते हैं। एक सज्जन से मैंने पूछा कि आखिर इसका मतलब क्या है? वह मतलब नहीं बता सके। उन्होंने माना कि इसे उपयोग में लानेवाले कई बार इसका मतलब नहीं जानते। जिस प्रकार बच्चा गाली देता है, उसका अर्थ नहीं समझता, उसी प्रकार की यह बात है। जिसे 'फासिज्म' कहा जाता है, उसका मूलभूत विचार कुछ बुरा नहीं है, क्योंकि वह भी आर्थिक रचना का एक प्रयत्न है और उसकी स्थापना भी समाज-सत्ता के ही द्वारा होती है। परंतु हिंदू-संस्कृति में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। लोग जिन्हें 'नाजी' (हिटलरवादी) कहते हैं, चाहे गाली में ही कहते हों, उनका निर्माण भी राष्ट्रीय समाजवादी (National Socialist) से हुआ था। 'नाजी' में नेशनल का 'न' और सोशलिस्ट का 'ज'' है। इस प्रकार के शब्दों के प्रारंभिक अक्षर लेकर आज भी शब्द बनाए जाते हैं। जिसे आज 'मजदूरों की संस्था' कहा जाता है, वह भी Indian National Trade Union Congress का संक्षिप्त रूप होकर I.N.T.U.C 'इन्टक' हो गई है, जो पाँच शब्दों का जोड़ है। इसी प्रकार United Nations Organization भी 'यूनो' हो गया है। इस दृष्टि से नाजीवाद भी समाजवाद का ही एक रूप है। सारी सत्ता को, धनोत्पादन के समस्त साधनों को, एक स्थान पर केंद्रित करना ही नाजीवाद है। उसे हम भला-बुरा नहीं कहते, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की एक उपयोगिता होती है और अपने स्थान पर कुछ भला कर जाती है। किंतु आज जो दूसरों को फासिस्ट कहते हैं, वे स्वयं

उस रास्ते पर हैं और अपने को छुपाने के लिए ही दूसरों पर धूल डालते हैं।

समाजवाद

आज समाज-रचना के जो चित्र हमारे सामने रखे जाते हैं, उनमें मन को आकृष्ट करनेवाला एक चित्र यह भी है कि सब वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण हो जाए। राज्यसत्ता ही सब कुछ करे, व्यक्तियों को उसके ईमानदार नौकर के नाते ही काम करना चाहिए। ये विचार सुखमय जीवन का विश्वास दिला सकते हैं क्या? समाज की एकात्मता को मानते हुए समाजवाद किस आधार पर इसकी रचना करेगा, इसका हम विचार करें।

पंथ के आधार पर द्वेषकारी भावना लेकर चलनेवाला कार्य समाजवाद नहीं हो सकता। उनके अनुसार, समाज का जो अंतिम स्वरूप है, उसमें कैसा जीवन होगा? कैसी नीतिमत्ता होगी? मनुष्य की पात्रता क्या होगी? वह मनुष्यता का आधार लेगा या पशु-भाव का? इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिलता। पश्चिमी विचार है कि मनुष्य भौतिक जीवन तक ही सीमित है। इसी को पूर्ण करना वहाँ इति-कर्तव्यता समझी जाती है। समाजवाद इसी पूर्णता का नाम बताया जाता है। किंतु प्रश्न यह होता है कि मनुष्य यदि केवल पशु-भावयुक्त प्राणी ही है तो वह सुव्यवस्थित जीवन क्यों व्यतीत करे? समान दुःख, सहायता और सर्वस्वार्पण जैसे भाव के आधार पर त्याग की भावना उसके मन में क्यों पैदा हो? क्या इस विचार-प्रणाली से इन प्रश्नों का उत्तर मिलता है?

एक व्यक्ति निर्धन गृहस्थ था, किंतु सदा ही दूसरों की सेवा में रत रहता था। एक दिन जोर की वर्षा हो रही थी, पानी से लथपथ और ठंड के मारे सिकुड़ते हुए कुछ व्यक्ति उसके मकान पर आश्रय के लिए आए। उसने उनको आश्रय दिया, अपनी और पत्नी की एकमात्र अतिरिक्त धोती के दो भाग करके उनको पहनने के लिए दिए। भोजन पकाने के लिए घर में लकड़ी न होने पर छत की धरनी लेकर भोजन पकाया, किंतु आगंतुकों को भूखा नहीं रहने दिया। अपनी गरीबी के कारण वह जीवन-भर छत ठीक नहीं कर पाया था, यह उदाहरण बीसवीं शताब्दी का है। उसकी इस प्रेरणा का क्या कारण है। इस प्रकार की प्रेरणा के अनेक उदाहरण हमारे जीवन में मिलते है। संसार का सुख अपने इस मत में बतानेवाले इस व्यवहार का स्पष्टीकरण नहीं कर पाते। सब यदि प्राणी मात्र ही हैं तो

'जीवो जीवस्य जीवनम्' के सिद्धांत के अनुसार एक-दूसरे को भूनकर क्यों नहीं खा जाते?

साम्यवाद

इसी प्रकार का दूसरा न समझ में आनेवाला शब्द, किंतु जिसका लोगों को आकर्षण है और जिसका विजयी झंडा चारों ओर फहरा रहा है, वह साम्यवाद है। इस विचार के लोगों का मानना है कि उनके चारों ओर ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो बुद्धिमत्ता या अन्य कारणों से धन का उत्पादन करते हैं और ऐश करते हैं। अधिकांश लोग ऐसा नहीं कर पाते। इसलिए वे सोचते हैं कि किसी भी उत्पादन-शक्ति और बुद्धि न रहे। अपनी उन्नति दूसरे के बराबर हो, यह नहीं सोचते, परंतु दूसरे की अवनति अपने बराबर अवश्य करना चाहते हैं। 'लेवलिंग डाउन' है 'लेवलिंग अप' नहीं। इसी का परिवर्तित रूप दूसरा भी है। किसी भी मनुष्य के लिए किसी भी प्रकार की संपत्ति निजी संपत्ति न रहे। यहाँ तक कि समाज की रचना भी इस सब संपत्ति की समानता के लिए बदल दी जाए।

कुटुंब के कारण संपत्ति का विचार पैदा होता है, अतः विवाह ही नहीं करना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि ब्रह्मचर्य का पालन किया जाए, परंतु परिवार की जिम्मेदारी और संस्कार-रूप बंधन को तोड़कर पशु के समान स्वैर जीवन, व्यतीत किया जाए। कुछ को इसका आकर्षण भी है, क्योंकि मनुष्य के अंदर पशुता का जागरण बड़ा सुखदायी है। वह ऊँचे विचारों की अपेक्षा निम्न विचारों से बहुत जल्दी प्रभावित होता है, पर यह असंभव चित्र कैसे उत्पन्न होगा।

उसके लिए एक अंतरिम केंद्रीभूत सत्ता के निर्माण की कल्पना करनी पड़ती है, जो सबको नीचे दबाकर एक कर दे। फिर भी संग्रह की प्रवृत्ति नष्ट नहीं होती। हाँ, कर्तव्य पराङ्मुखता से अनवस्था अवश्य उत्पन्न होती है। उसको टालने के लिए विवश करके काम करानेवाली केंद्रीय सत्ता की आवश्यकता होती है, जिसका मनुष्य गुलाम बन जाता है। कहा जाता है कि यह सत्ता आगे चलकर नष्ट हो जाएगी। इसी को वे 'राजसत्ता का क्रमशः नष्ट होना' (Withering away of the state) कहते हैं, किंतु यह सत्ताशून्य जीवन कैसे उत्पन्न होगा? वस्तुतः साम्यता का अनुभव तो वह कर सकता है, जिसने हिंदू-संस्कृति का तत्त्वज्ञान जाना है। साम्य का प्रयोग अपने यहाँ स्थान-स्थान पर हुआ है- 'एषां साम्य मनः, समत्व योग....'

आदि। यह साम्य सत्य के आधार ही पर प्रकट हुआ है। किंतु अपनी बात समझ में न आने और बाहर की बात जल्दी समझ में आने का कारण यह है कि मनुष्य को यद्यपि बुद्धिजीवी प्राणी कहा जाता है, फिर भी उसका ध्यान विषय-तृप्ति की ओर शीघ्र ही आकर्षित हो जाता है। सर्वसाधारण मनुष्य तो क्या, बड़े-बड़े व्यक्ति भी उदर-भरण और विषय-भोग की ओर आकर्षित होते हैं। ये दोनों आकर्षण इस तत्त्व-प्रणाली में हैं। लोग समझते हैं कि उसमें खाना भी मिलेगा और स्वैराचार भी। कदाचित् लोग इसलिए भी उसके पीछे जाते हैं कि उसमें विषय-लालसा तथा नूतनता का भाव है।

इस विचार प्रणाली की एक और समस्या है। इसने आर्थिक वैषम्य के अनुसार मनुष्य मात्र को दो वर्गों में बाँट दिया है। एक संपत्तिशाली *(Haves)* और दूसरा संपत्तिहीन *(Have nots)*। इनके परस्पर संघर्ष में संपत्तिशाली को नष्टकर संपत्तिहीन को जीवित रखना ही उनका ध्येय है। इस सुखपूर्ण चित्र को पूर्ण करने के लिए एक मध्यवर्ती सत्ता की कल्पना की गई है, जो संपत्ति को सबमें समान रूप से बाँट देगी। इसके पश्चात् कहा जाता है कि वह सत्ता नष्ट हो जाएगी।

मेरे एक मित्र, जिन्होंने इस मत का अभ्यास किया था और जो इसका सर्वत्र प्रचार किया करते थे, ने मुझे यह कल्पना समझाने भरसक चेष्टा की। वाद-विवाद में जब इस निर्णय पर पहुँचे कि राज्यसत्ता शून्य समाज होगा और संघर्ष का कोई कारण न रहेगा, क्योंकि सबको भोजन मिलेगा और फिर किसी का किसी से कोई झगड़ा नहीं होगा; तब मैंने कहा कि मनुष्य का स्वभाव सर्वसाधारण जीवमात्र से अधिक चतुर है और अपना पेट भर जाने के बाद वह दूसरे की रोटी नहीं लेगा, ऐसी बात नहीं है। गाय-बैल के भूसे पर बैठनेवाले कुत्ते की भाँति, जो न तो स्वयं खाता है और न दूसरों को ही खाने देता है, प्रायः मनुष्य भी दूसरों के उपभोग में हस्तक्षेप करता है। अतएव मैंने पूछा, संघर्ष न होने के आधार का निर्णय किस प्रणाली से किया जाएगा? ऐसी कौन सी बात होगी, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य संघर्ष नहीं करेगा? यह शिक्षा किस प्रकार की होगी? 'अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः' की बात तो नहीं है? उन्होंने कहा कि आप विश्वास रखें। मैंने कहा– ऐसा नहीं, मुझे यदि विश्वास ही रखना होगा तो अपने बाप-दादा पर रखूँगा। भोली श्रद्धा रखनी है तो परकीयों पर क्यों रखी जाए, अपनों पर हो। उन्होंने दो दिन तक मुझे समझाया, पर इस बात का उत्तर नहीं दे सके। हारकर उन्होंने कहा कि यह मान लो कि ऐसा

होगा। मैंने कहा– 'कैसे मान लें, पहले समझाओ भी तो, उसका प्रमाण तो दो'। हम तो तीर्थयात्रा के उस पंडे की भाँति हैं कि यदि साथ में पिता हैं तो ठीक, अन्यथा श्राद्ध करना पड़ेगा और दक्षिणा देनी होगी। बुद्धि और हृदय का समाधान होना आवश्यक है। अतः जिस पद्धति का सर्वत्र बोलबाला है और जिसकी ओर लोग आकर्षित होते हैं, उसे मैं अभी तक समझ नहीं पाया हूँ।

क्रांति अथवा शांति

मनुष्य यदि पूर्णतया पशुभाव से युक्त है तो वह केवल सत्ता के भय से ही एक-दूसरे को नहीं खा पाता। किंतु जब सत्ता ही नहीं रहेगी, तब वह क्योंकर एक-दूसरे का विरोध न करते हुए रहेगा। मनुष्य वह प्राणी है, जो विकारों का शिकार होता है। विकार तृप्त होने पर बढ़ते ही जाते हैं। फिर ऐसा मनुष्य दूसरे के साथ स्नेह का व्यवहार कैसे करेगा? इसका उत्तर वहाँ नहीं मिलता। वे तो केवल 'ऐसा होगा' यह कहकर शांत हो जाते हैं। न तो किसी प्रकार का प्रमाण देते हैं, न तर्क ही। मनुष्य यदि पशु है, तो समानता का निर्माण हो भी गया तो वह पुनः वैषम्य उत्पन्न कर देगा और इस प्रकार फिर क्रांति की आवश्यकता होगी। क्रांति, क्रांति, क्रांति, अर्थात् सतत रक्तप्रवाह। उलट-पुलटकर संघर्ष ही उनका आधार है। शायद इसीलिए इन्कलाब-जिंदाबाद के नारे लगाए जाते हैं। क्रांति चिरायु हो या शांति चिरायु हो? हमारे यहाँ तो मंत्र के अंत में 'शांतिः शांतिः शांतिः' ही कहा जाता है। सदा के लिए क्रांति की आवाज लगाते रहना–सशस्त्र संघर्ष, अव्यवस्था और अशांति को निमंत्रण देना है। यह शब्द-प्रयोग इस प्रकार का जीवन रखनेवाले कुत्तों को शोभा दे सकता है, न कि मानव को। उक्त चित्र में प्रथम तो मध्यवर्ती सत्ता के नष्ट होने का न तो कोई लक्षण दिखता है और न सत्ता के नष्ट होने पर समानता के बने रहने की संभावना ही दिखाई देती है। फिर जिस आधार पर मनुष्य की जिस प्रवृत्ति को सत्य मानकर इस चित्र की कल्पना की गई है, उसके अनुसार मनुष्य क्योंकर दूसरे के जीवन को सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील होगा, इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं। अतः यह चित्र अपूर्ण ही नहीं, अपितु त्रुटिपूर्ण और तर्क की कसौटी पर खरा न उतर सकनेवाला है।

हमारी समाज रचना का चित्र

लोग कहते हैं कि अधूरा ही सही, हमने एक चित्र तो रखा है।

तुम्हारी हिंदू-संस्कृति ने क्या रखा है? इस प्रश्न का विचार करते समय हमारे सम्मुख जो अपना चित्र आता है, उसमें हम देखते हैं कि हमारे यहाँ समाज-जीवन के भाव के अनुसार ही युग की कल्पना रखी गई है। सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग– इनमें से प्रत्येक में समाज की विशेष स्थिति होती है। सतयुग में सब समान थे, संपत्ति सबकी थी, जिसमें से आवश्यकता के अनुसार लेकर सब सुख का जीवन व्यतीत करते थे। धर्म चारों अंगों से समाज में व्याप्त होता था। समाज की धारणा करनेवाली तथा ऐहिक और पारलौकिक सुख को संप्रदान करनेवाली शक्ति को ही हमने धर्म की संज्ञा दी है। अखंड मंडलाकार विश्व को एकात्मता का साक्षात्कार करानेवाले धर्म के आधार पर प्रत्येक अपनी प्रकृति को जानकर दूसरे के सुख के लिए काम करता है। सत्ता न होते हुए भी केवल धर्म के कारण ही न तो एक-दूसरे पर आघात होते हैं और न आपस में संघर्ष ही होता है। चराचर के साथ एकात्मता का साक्षात्कार होने के कारण किसी प्रकार का बाह्य नियंत्रण न होते हुए भी मनुष्य 'नायं हन्ति न हन्यते' के भाव के अनुसार ही पूर्ण शांति का व्यवहार करता है। यह सतयुग की कल्पना है। यह अवस्था समाप्त होकर फिर दूसरे युग की कल्पना की गई है। धीर-धीरे जैसे-जैसे मनुष्य में स्वार्थ की उत्पत्ति होती है, सत्ता की आवश्यकता का अनुभव होने लगता है। बढ़ते-बढ़ते आज की कलियुग की स्थिति हो जाती है, जिसमें चारों ओर सब प्रकार का संघर्ष ही दिखता है। आर्थिक, राजनीतिक, वैचारिक आदि सभी आधार पर लोग संघर्ष के लिए तैयारी कर रहे हैं। सैन्य शक्ति के आधार पर साम्राज्य लालसा की तृप्ति की जाती है। आत्मोपम्य बुद्धि कम हो गई है। धर्म की कमी के कारण उत्पन्न आज की तरह का दुःख-दैन्य और अशांति से परिपूर्ण जीवन ही रह जाता है।

कृतयुग का निर्माण

किंतु हमारे पूर्वज इस स्थिति की कल्पना से निराश नहीं हुए थे। उन्होंने पराभव की तथा हीनता की मनोवृत्ति को कभी भी स्वीकार नहीं किया। अतः उन्होंने आगे कृतयुग की कल्पना की। यह युग मनुष्य के प्रयत्नों से ही निर्मित होगा। इसीलये इसे 'कृतयुग' कहा गया। इस युग में धर्म फिर से एक बार पूर्णता के साथ प्रकट होगा। इसी से संपूर्ण मानव समाज के साथ समान सुख-दुःख की भूमिका उत्पन्न होगी। ऐसे मानव-समाज का निर्माण कर उसे सुसंस् कृत करना ही हमारा ध्येय है। किसी सत्ता के अथवा बाह्य नियंत्रण के कारण नहीं, अपितु केवल धर्म के

भाव से संपूर्ण समाज-शरीर की एकात्मता का अनुभव तथा पूर्ण राष्ट्र की सेवा, अपना सुख-दुःख भूलकर भी अपने बंधुओं के लिए सर्वस्वार्पण करते जाना ही कृतयुग निर्माण करने का एकमेव मार्ग है।

समाज की साम्यावस्था का यह चित्र उस मार्ग से निर्माण करना चाहिए, जिसमें सत्ता का नियंत्रण न होते हुए भी समाज की सुख और शांति बनी रहे। यह स्थिति कैसे और क्योंकर हो सकेगी, इसका प्रमाण माँगा जा सकता है। प्रमाण तो मैं दूँगा, किंतु वह हिंदू-संस्कृति के कर्णधारों का ही है। जिन्होंने कृतयुग की कल्पना, उसकी रीति, नीति और लक्ष्य का शास्त्रीय विवेचन कर ऐसे जीवन की प्रेरणा पैदा की, उनका ही प्रमाण दूँगा। किंतु उस प्रमाण को समझने की पात्रता चाहिए। परकीय प्रभाव से उत्पन्न बौद्धिक दासता के परिणामस्वरूप जिनको केवल परकीय प्रमाण ही अच्छे और सही मालूम होते हैं, वे न तो भारतीय प्रमाणों की सत्यता को आँक सकेंगे और न उन प्रमाणों के मौलिक तत्त्व को ही समझ सकेंगे। उनके लिए तो हर चीज पश्चिम की गोमुखी से आने पर ही ग्राह्य बन सकती है। जर्मनी के विद्वानों द्वारा कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' की प्रशंसा करने पर ही उन्हें इस बात का ज्ञान हो सका कि 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' इतना महान ग्रंथ है। अपनी बातों को भी अंतर्राष्ट्रीय जामा पहनाकर ही स्वीकार कर सकते हैं। वास्तव में यह देशभक्ति नहीं है, क्योंकि देशभक्ति का आधार तो अपनेपन का अभिमान है। अपने देश, अपने समाज और उसकी जीवन-प्रणाली से प्रेम करने का दृढ़ निश्चय ही देशभक्ति का आधार है। उसके संबंध में तो भले-बुरे का भी विचार नहीं किया जा सकता। उसके प्रति तो अहेतुक श्रद्धा ही चाहिए। अपने पूर्वजों में प्रखर राष्ट्रभक्ति का भाव था, इसलिए उन्होंनें कहा 'दुर्लभं भारते जन्म मानुषं तत्र दुर्लभम्'। किंतु आज हमारी श्रद्धा का केंद्र हिंदुस्थान के बाहर चला गया है। इसीलिए जाड़े में बारिश होने पर हमारे यहाँ के लोग भी कहने लगते हैं कि 'होम वैदर' हो गया है। मानो हमारा घर कहीं बाहर हो गया है। अंतःकरण में भारत के प्रति श्रद्धा न होने के कारण लोग समझते हैं कि वे तो भारत में और उसमें भी हिंदू के नाते धोखे से पैदा हो गए हैं। इस प्रकार अपनेपन के भाव के अभाव में जीवन व्यतीत करते हुए दूसरों से ही सब कुछ सीखने की इच्छा लेकर उनकी ओर आँखें लगाए हुए बैठे रहते हैं, जबकि हमारे पूर्वजों ने अभिमान से कहा था कि संसार को शिक्षा लेनी है तो वह हमसे आकर लें-

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा :।।

(मनुस्मृति-२-२०)

कृतयुग की हमारी इस कल्पना में आज के 'राजसत्ताशून्य राज्य' के चित्र में साम्य दिखाई देता है। साम्य यह है कि दोनों में राज्य की कल्पना नहीं है। फिर भी हमारी कल्पना कम्यूनिज्म या अनारकिज्म नहीं है। यदि वह कोई 'इज्म' ही है तो केवल हिंदूइज्म है। तेजी से चलनेवाला चक्र और न चलनेवाला चक्र, दोनों दूर से एक जैसे दिखाई देते हैं, फिर भी दोनों में अंतर है। एक जड़ है तो दूसरा चैतन्य। समाधिस्थ व्यक्ति और मुर्दा एक ही जैसे दिखाई देते हैं, किंतु वे एक जैसे नहीं होते। मुर्दा मृत है, जीवनशून्य है, जबकि समाधिस्थ सजीव है और सजीव ही नहीं, इसके बाद के जीवन में भी उसकी दृष्टि है। दोनों में इतना महान अंतर है। हमारे पूर्वजों ने एक स्पष्ट कल्पना रखकर संस्कृति का ढाँचा बनाया है। बाह्य परिस्थिति के कारण यदि वह चित्र पूर्ण न हो सका तो उसका कारण यह है कि हमने अपनी शक्ति खोई, एकता खोई, बुद्धि की स्वतंत्रता खोई और दूसरों की दासता स्वीकार कर हम छिन्न-विच्छिन्न बने। इसीलिए हम सफल नहीं हुए। यही कारण है कि हमारा समाज उस चित्र को प्रकट न कर सका। किंतु हमारा एक चित्र अवश्य है और उसे रखते हुए हमें दूसरों का, अभाव का, आश्रय नहीं लेना है।

मैं और लोगों की देखा-देखी अपने यहाँ दुनिया की सभी बातों को खोज निकालने के पक्ष में नहीं हूँ। हवाई जहाज देखकर लोग कहते हैं कि यह तो वेदों में भी है। मैं ऐसा नहीं कहता। मेरा कहना है कि बाहर की सब बातों को शास्त्रों में मत घुसेड़ो। अन्य विचारों को लेकर हम हिंदू संस्कृति को बड़ा बताना नहीं चाहते। दूसरों के विचार उधार लेकर हम हिंदू-संस्कृति के नाम पर उन्हें चलाना नहीं चाहते।

हमारे अपने पुराने ग्रंथ हैं। उनमें एक समाज-व्यवस्था है, एक विशेष प्रकार की राज-व्यवस्था भी है। हमारे यहाँ 'ना विष्णुः पृथ्वीपतिः' कहा है। राजा विष्णु का ही रूप है। हमारे यहाँ कभी राजतंत्र, कभी प्रजासत्ता, कभी समान अर्थ और कभी उसका व्यक्ति समूह में वितरण, कभी एक व्यक्ति में केंद्रीकरण- इस प्रकार के भिन्न-भिन्न प्रयोग किए गए। किंतु सबमें एक ही दृष्टि थी कि समाज ज्ञानसंपन्न हो, चरित्र्यवान हो और अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करता हुआ चिरंतन सत्य को प्रकट करे; और व्यक्ति अपने

सुख से ऊपर उठकर समाज के तथा अंततोगत्वा मानव-समाज के सुख के लिए प्रयत्नशील हो। उसमें परस्पर द्वेष, द्रोह, वैमनस्य और अशांति को स्थान न हो। सब शांति के साथ जीवन बिताते हुए सुख प्राप्त करें।

शास्त्रीय प्रमाण

हमारे यहाँ नीतिशास्त्र में ऐसा वर्णित है कि उस समय राज्य नहीं रहेगा, राजा नहीं रहेगा, राजसत्ता नहीं रहेगी, दंड विधान नहीं रहेगा। कोई पापी ही नहीं रहेगा, इसलिए किसी को दंड देने की आवश्यकता ही न रहेगी। सब एक साथ रहेंगे, किंतु 'जीवो जीवस्य जीवनम्' की भाँति जंगल का कानून नहीं चलेगा। पर यह किस आधार पर हो सकेगा? मेरे मित्र इस प्रश्न का उत्तर न दे सके थे, किंतु अपने यहाँ उसका उत्तर दिया गया है। बताया गया है कि यह सब धर्म के आधार पर होगा। सबके अभ्युदय की चिंता और आत्मसाक्षात्कार के आधार पर ही यह संभव हो सकेगा। तभी समाज सुखी होगा, तभी नियंत्रणशून्य समाज की स्थापना हो सकेगी। धर्म के आधार पर बिना किसी नियंत्रण के, बिना किसी संदेह के लोग प्रेम से रह सकेंगे। उस अवस्था में परिग्रह नहीं होगा, संचय नहीं होगा, स्वार्थ नहीं होगा और समस्त विश्व को घर मानकर सभी मनुष्य सुख और शांति से जीवन बिता सकेंगे। यह कल्पना हमारे यहाँ प्राचीन काल से चली आ रही है। इसके लिए अपने प्राचीन ग्रंथों का, अपने पूर्वजों का प्रमाण है-

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

(महाभारत, शांतिपर्व ५९-१४)

आत्मा का आधार ही वास्तविक आधार है, क्योंकि आत्मा सम है, सबमें एक ही जैसी समान रूप से अभिव्यक्त है। सबका एक ही चैतन्य है, इस पूर्णता के ज्ञान के आधार पर ही प्रेमपूर्ण व्यवहार, व्यक्ति को परमात्मा का अंग मानकर नितांत प्रेम, विश्व को परमेश्वर का व्यक्त रूप मानकर विशुद्ध प्रेम, निरपेक्ष, निर्हेतुक, श्रेष्ठ तथा सर्वस्व के त्याग का व्यवहार, यही वह अवस्था है। याज्ञवल्क्य ने गार्गी को यही बताया है-

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वमेव प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मा वा अरे दृष्टव्यः' (बृहदारण्यक, २-४-५) आदि। प्रेम के कारण सारा समाज एक दिखाई देता है। चिरंतन तत्त्व है, इसलिए स्नेहास्पद है, परम प्रेमास्पद है। उसमें एक-दूसरे के प्रति न तो द्वेष है, न

भेद है, वरन् परिपूर्ण प्रेम है, सच्चे अर्थ में स्नेह है। तभी आत्म-साक्षात्कार होने पर हम कहते हैं कि आत्मा एक है। वस्तु का प्रिय होना या उस वस्तु से प्रेम करना है, उस वस्तु का गुण नहीं। गुण तो अपने और उसके चैतन्य के एक होने के ज्ञान का है। यह अनुभव की बात है। इस एकात्म के अनुभव का प्रयास और उसके निर्माण का प्रयत्न हिंदू ने रखा है। यही हिंदू-संस्कृति का चित्र है। इसे हम पहले अपने राष्ट्र में प्रयोग कर सिद्ध करके बतावें। दुनिया को बाद में देखा जाएगा। दुनिया रुकेगी, वह अभी नष्ट नहीं हो रही है। हम इसे पहले अपने यहाँ सिद्ध करें। उसके लिए अंतःकरण को विशाल करते हुए, संपूर्ण राष्ट्र में एकात्मता की, समष्टि रूप देह के अंग-प्रत्यंग की पूर्ण धारणा करें। अपने कार्य के द्वारा इसी एकात्मता की अभिव्यक्ति करने की चेष्टा हो रही है। इस एकात्मता की, चिरंतन के तत्त्वज्ञान की भूमिका न होने से बाहर के लोगों ने कहा है कि 'हमारी सफलता का आधार द्वेष है' *(Intense hatred is the basis of our success)*। इसी आधार पर उन्होंने मनुष्यों को दो हिस्सों में बाँटकर एक को धनी और दूसरे को निर्धन बताकर कहा कि संघर्ष होने दो।

कार्य का आधार प्रेम

एक बार बैठक में एक सज्जन, जो कांग्रेस का काम करते हैं और बहुत अच्छे हैं, ने बातचीत में कहा कि 'आपका कार्य धीरे-धीरे चलता है, उसकी गति बढ़नी चाहिए। इसलिए प्रचार के वर्तमान साधन, जैसे कम्युनिस्ट काम में लाते हैं, वैसा प्रचंड प्रचार-तंत्र आप भी अपनाएँ। उस आधार पर काम करें तो कार्य तीव्र गति से होगा।' मैंने कहा कि 'प्रचार तक तो ठीक है, किंतु क्या आधार भी वैसा चाहिए? उन्होंने कहा कि 'आधार भी वैसा ही चाहिए, क्योंकि आप और वे– दोनों ही साम्य की बात कहते हैं'। मैंने कहा कि 'साम्य तो हमारे यहाँ है, यहाँ सब स्वयंसेवक हैं। कल अधिकारी थे तो आज स्वयंसेवक हो जाते हैं। हम तो अपने यहाँ सर्वोच्च अधिकारी को भी पैसा नहीं देते। सब अपना-अपना छोड़कर एक जैसी समानता रखते हैं। इसी कारण हमारे विचारों का आधार भी एक ही है, परंतु हमारे कार्य का आधार प्रेम है।' इसपर उन्होंने कहा कि 'आपका कहना बराबर है, ऐसा ही चलना चाहिए'। इस प्रकार हमारे कार्य का अधिष्ठान प्रेम ही है। सर्वसाधारण व्यक्ति कुछ न कुछ इच्छा रखकर ही प्रेम करता है। कम से कम आखिरी समय चार आदमी शरीर उठाएँ, इस भाव से मित्र बनाता है। पर हम अपने यहाँ तो निःस्वार्थ एवं निरपेक्ष प्रेम का ही आदर्श रखते हैं।

प्रेम के बदले में किसी से अपेक्षा नहीं रखते। कोई चाहे गालियाँ दे, हम तो प्रेम ही करेंगे। लोगों ने कहा कि जो आपको गालियाँ देते हैं, उनका आप क्या करेंगे। मैंने कहा कि जिनके पास गोबर है, वे गोबर ही उछालेंगे। हमारे पास तो प्रेम है, हम तो प्रेम ही उछालेंगे।

ईशावास्यमिदं सर्वम्

हिंदू तत्त्वज्ञान कहता है कि विरोध भी तो एकात्मता का प्रदर्शक है, प्रेम और द्वेष एकात्मता के ही तो प्रकट रूप हैं। एक शुद्धता से और दूसरा अशुद्धता से। टेढ़े आईने मे व्यक्ति टेढ़ा दिखाई देता है और सीधे आईने में सीधा। इसमें दोष व्यक्ति का है या आइने का? स्वार्थ के आईने के सामने खड़े होकर द्वेष का निर्माण होता है, एकात्मता के कारण नहीं। हम सब संपूर्ण समाज की एकात्मता और राष्ट्र की समष्टिरूप विराट देह के अंग हैं और उस नाते सर्वस्व का समर्पण कर सबका समान भाव से पूजन करेंगे, यही भाव है। पेट भरा तो अच्छा, परंतु माँगेंगे कुछ नहीं। माँगना तो व्यापार है। यदि किसी ने कहा कि मैं तुम्हारी सहायता करूँगा, तुम पाँच हजार का चेक दो, तो यह व्यापार है, अपने को बेचना है। क्या हम शाक-सब्जी हैं, जो ऐसा करें? समष्टि को परमेश्वर का प्रत्यक्ष रूप समझनेवाले के द्वारा माँगना ठीक नहीं। 'माँगनो भलो न बाप सों' इसलिए हम कुछ माँगेंगे नहीं। प्रत्युत निरपेक्ष और निरहेतुक भाव से, व्यक्तिगत जीवन में मान, बड़प्पन तथा सम्मान का तनिक भी विचार न कर, केवल सेवा का अधिकार समझकर, समाज को ईश्वर रूप मानकर, उसकी पूजा का भाव व्यक्ति-व्यक्ति में निर्माण होने की साम्य-वृत्ति उत्पन्न कर, सबमें एक ही चैतन्य है, इस समानता का साक्षात्कार करते हुए राष्ट्र का पुनर्गठन करना, उसको सारी संपत्ति अर्पित करना, व्यक्ति को कुछ नहीं चाहिए– यह भाव रखना हमारी संस्कृति सिखाती है। एक साधु ने कहा है कि मुझे मुक्ति, संपदा कुछ भी नहीं चाहिए, चाहे दुनिया मुझे ठोकर मारे, फिर भी मैं राष्ट्र के लिए सर्वस्व का समर्पण करूँगा। यह हिंदू-संस्कृति है, यह पवित्रता है, यह हमारा आदर्श भाव है। इसे उत्पन्न कर हम राष्ट्र की सेवा करेंगे।

पूजा माँगने के लिए नहीं की जाती

ऐसा कहते हैं कि वनवास में जब पांडव, कौरवों द्वारा पीड़ित थे और जब उनका जीवन संकट में था, तब भी युधिष्ठिर सात्विक था और परमात्मा का चिंतन तथा पूजन करता था। उसकी स्त्री द्रौपदी परम

तेजस्विनी थी। उसने एक बार कहा– 'जिस ईश्वर का आप पूजन करते हैं, क्या वे हमारा दुःख दूर कर सकते हैं।' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया– 'भगवान की पूजा उनसे कुछ माँगने के लिए नहीं की जाती है।' इसी प्रकार एक बार स्वामी विवेकानंद, जो कि तब तक नरेंद्र ही थे, ने बहुत दुःखित होने के कारण सोचा कि भगवान रामकृष्ण काली की इतनी पूजा करते हैं, अतः वे अवश्य ही काली से उनके दुःख दूर करवा सकेंगे। यह सोचकर वे दक्षिणेश्वर के काली मंदिर में गए और रामकृष्णजी को अपनी अवस्था बताई। सब कुछ सुनकर उन्होंने कहा कि 'मेरे पास क्या है, मैं तो फकीर हूँ, तुम्हारी सहायता कैसे करूँ?' इसपर नरेंद्र ने कहा कि 'आप तो जगन्माता काली से बात करते हैं। उनसे मेरे लिए कुछ माँग लीजिए।' तब रामकृष्ण ने कहा कि 'तुझे माँगना हो तो माँग ले, मैं तो नहीं माँगूँगा। तुझे मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि जो तू माँगेगा, वह तुझे मिलेगा।' नरेंद्र आशीर्वाद लेकर मस्त होता हुआ काली के मंदिर में पहुँचा। उस समय तक वह पत्थर की पूजा को नहीं मानता था, वह अद्वैतवादी था, बाद में भी वे अद्वैतवादी थे। किंतु जैसे ही मंदिर में मूर्ति के पास खड़े हुए तो देखा कि चैतन्यमय, तेजोमय, प्रकाश से देदीप्यमान मूर्ति खड़ी है। नरेंद्र सब कुछ भूल गया और उसने प्रार्थना की कि 'हे माँ, तू मुझे ज्ञान दे, वैराग्य दे, मानव जाति के प्रति प्रेम दे, मुझे मोक्ष नहीं चाहिए, मुझे तब तक भारत में बार-बार जन्म दे, जब तक यहाँ का बच्चा-बच्चा तेरा साक्षात्कार न कर ले। मुझे कुछ नहीं चाहिए।' यह प्रार्थना कर जब नरेंद्र लौटा तो रामकृष्ण ने पूछा कि 'तूने क्या माँगा?' यह प्रश्न सुनते ही उसको होश आया, मानो ईश-साक्षात्कार की मस्ती हट गई, घर की दरिद्रता याद आ गई। उसने कहा कि मैं तो भूल गया। अब क्या होगा?' रामकृष्ण जी ने कहा कि 'जा, तुझे एक और अवसर है, माँग ले।' नरेंद्र फिर गया। किंतु पुनः वही प्रार्थना करके लौट आया। रामकृष्ण ने उसे फिर तीसरी बार जाकर माँगने का अवसर दिया और कहा कि 'इस बार होश न भूलना।' नरेंद्र तीसरी बार गया और मंदिर के वायुमंडल में इस बार उसका होश तो न गया, किंतु लज्जा अवश्य उत्पन्न हुई। उसने सोचा कि जो जगन्माता माँगने पर अखिल मंडलाकार का राज्य दे सकती है उससे थोड़ा-सा रुपया क्या माँगूँ। यहाँ तो करोड़ों भाई-बंधु भूख से मर रहे हैं, तो क्या मैं दो प्राणियों के लिए कुछ माँगूँ? विचार करके नरेंद्र ने फिर वही प्रार्थना की और लौट आया। आकर रामकृष्ण से कहा कि अब नहीं माँगूँगा।

इसलिए जीवन में कभी कुछ माँगना नहीं। देशभक्ति का व्यापार क्या करना? समष्टिरूप परमात्मा को राष्ट्र के रूप में सेवा के लिए सामने व्यक्त देखकर, अपनी संपूर्ण शक्ति और बुद्धि उसके चरणों में अर्पण कर उसकी कृपा के ऊपर अपना जीवन चलाना है। उसको चलाने के लिए जितना वह देगा, उतना ही लूँगा– यह समझकर किंचित् प्रसाद मात्र ग्रहण कर उसमें भी रुचि न रखना, प्रसाद की मिठाई खाकर चटनी न फेंकना, उसका एक कण भी न फेंकना। इस राष्ट्र रूप परमात्मा की सेवा करते हुए वह जैसे रखे, वैसे रहते हुए जीवन की, शरीर की आवश्यकता को समझकर ग्रहण करते हुए, किंतु वह भी उपयोग के भाव से नहीं, अपितु अच्छी प्रकार सेवा करने के भाव से– यह विचार, यह दृढ़ विश्वास लेकर हमारे पूर्वकाल के शास्त्रकारों ने एक चित्र रखा है। इस धारणा के अनुसार एकात्मता का साक्षात्कार करें। आसेतुहिमालय सारे राष्ट्र को एक महान श्रेष्ठ, दैवी, चैतन्यमय व्यक्तित्व के रूप में देखें और उसके अंग होने के नाते अपने को एक समझें। सब अंगों की पवित्रता पर विश्वास करें और यह समझकर सारी संपत्ति राष्ट्र को अर्पित कर, जीवन मात्र के लिए, देह धारण मात्र के लिए, थोड़ा लेकर चलने की प्रवृत्ति रखें। जितना कुछ अपने सामने आएगा, वह सब परमात्मा के सामने निवेदन करने के कारण उसपर हमारा कुछ अधिकार नहीं। अधिकार जमाया तो यह ईश्वर की चीज को चुराना होगा। यह उपनिषदों की स्पष्ट कल्पना है–

ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।

(ईशावास्योपनिषद्-१)

राष्ट्र जीवन की इसी संपूर्ण एवं सम्यक् कल्पना से सर्वव्यापी अंतःकरण उत्पन्न होकर कृतयुग आएगा। बाह्य आडंबर से रहित यह आध्यात्मिक भूमिका ही हमारी समाज-रचना के लिए उपयुक्त है। जो साम्य को तो देखते नहीं, वे भला साम्यवाद कैसे ला सकेंगे? चैतन्य तत्त्व का दर्शन न करते हुए केवल विषमता ही देखने से साम्य भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। हिंदू-संस्कृति सच्ची समता का, एक में ही सब कुछ का दर्शन कराती है। संघ भी इसी चित्र को लेकर काम कर रहा है। राष्ट्र की एकात्मता का अनुभव कराते हुए प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख की अनुभूति की शक्ति उसके बंधुओं में उत्पन्न करते हुए प्रत्येक व्यक्ति धर्मशील बने, इसका अपने कार्य से प्रबंध करते हुए संघ ऐसी शक्ति के लिए प्रयत्नशील

है, जिससे हम पूर्णता के आधार पर ऐहिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार का सुख प्राप्त कर सकें। इस कार्य के लिए एकाध पक्ष निर्माण कर विद्वेष फैलाने की आवश्यकता नहीं है। अन्य लोगों के कार्य का आधार घृणा होगा, किंतु हमारे कार्य का आधार तो प्रेम ही है। हम तो धर्म के आधार पर, एकात्मता के आधार पर– न कि पशुबल और भौतिकता के आधार पर– इस सत्य चित्र को वैचारिक अधिष्ठान पर आत्मानुभूति के द्वारा प्रकट करें। विश्व की शांति प्रस्थापित करने योग्य मनुष्य का अंतिम एवं अनुभवगम्य चित्र हिंदू-संस्कृति ने रखा है। हमारी कार्यप्रणाली से उस चित्र की अनुभूति संभव है। अतः हम उसी आधार पर अपने हृदय को विशाल बनाते हुए, आसेतु हिमाचल भारत-भूमि की एकता का साक्षात्कार करते हुए हिंदू-राष्ट्र को वैभव से खड़ा होता हुआ देखेंगे, इसी निश्चय से काम करेंगे।

५. परिपूर्ण राष्ट्रजीवन खड़ा करें

पिछले दो दिनों में जो कुछ कहना था, वह सब कह चुका हूँ। अब हम सब अपने स्थान पर लौट कर जाएँगे। इस समय मैं यही प्रार्थना करूँगा कि पिछले दो वर्ष अकर्मण्यता में व्यतीत हो गए हैं, यदि ऐसा न हुआ होता तो अपने कार्य की उस समय की गति, जनता के प्रेम आदि के अनुसार कितनी प्रगति होती, समाज के हृदय में हमारे प्रति कितना आकर्षण और मार्गदर्शन की इच्छा होती– इस बात का हम विचार करें। लोगों ने हमारा प्रभाव कम करने हेतु कई बातें कीं। आज भी वे ऐसा कर रहे हैं, परंतु उस समय हमारा कार्य बंद था। तब हम अपने कार्य के ऊपर लगाए गए आरोपों का खंडन तो दूर रहा, उसका मंडन भी नहीं कर सकते थे। मनुष्य का स्वभाव है कि आँखों से चित्र दूर होने पर विस्मृति हो जाती है। इस स्वभाव से लाभ और हानि– दोनों ही हैं। यदि वह समय के साथ-साथ दुःख भूलता है तो अपना कर्तव्य भी भूल जाता है, किंतु हमारा नाम लेकर, चाहे वह हमको बदनाम करने के लिए ही क्यों न हो, लोगों ने हमको जनता द्वारा विस्मृत नहीं होने दिया। अतः जनता हमको पूर्णतया भूल तो न पाई, परंतु उसकी विपरीत धारणाएँ अवश्य बन गईं। अपने कार्य में खंड पड़ने का एक परिणाम हुआ है। हमारे कार्य की प्रगति के कारण भिन्न विचार-प्रणालियाँ पनप नहीं पाती थीं। बुद्धिवादी, किसान, मजदूर, विद्यार्थी

सभी में अपने कार्य का प्रभाव था। अभारतीय तत्त्व-प्रणालियों को इस विशाल समाज में से अपने पंथ के अनुयायी लेना कठिन था, किंतु इस बीच उन्हें अवसर मिल गया। अतः आज अपने कार्य के संबंध में भिन्न प्रकार के भाव है। अविचार, अपचार, विरोध और संघर्ष– सभी प्रकार के भाव हैं। अतः कार्य करते समय कठिनाई हो सकती है। दो वर्ष पूर्व तो अपने कार्य के प्रति समाज की श्रद्धा थी। दिन-प्रतिदिन बढ़ते हुए कार्य के कारण समाज इसे श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। कुछ स्वार्थी चाहे इससे प्रेम न करते हों, किंतु जन साधारण, जो किसी गुट में नहीं है, इसको अपने अंतःकरण का कार्य समझकर इससे प्रेम करता था। आज भी कई लोग अपने हृदय में तो इस बात का अनुभव करते हैं कि वे अति प्राचीन काल से चले आने वाले हिंदू-समाज के अंग हैं तथा इस समाज की उन्नति की चाह भी उनके मन में है, किंतु वे स्पष्ट कहने का साहस नहीं कर पाते। वृद्धावस्था में यह साहस और भी कम हो जाता है। साहस तो यौवन का द्योतक है। अंतःकरण की वृद्धता में यह साहस कहाँ? आज की शाब्दिक गुलामी को नष्ट करने का सामर्थ्य तभी उत्पन्न होगा, जब भारत का जीवन हिंदू-जीवन होगा।

हमारे कार्य की सुसूत्र अवस्था हमारे कार्यक्रमों के द्वारा ही हुई थी। उनके न होने से शिथिलता ही नहीं, उदासीनता भी उत्पन्न हुई। इसका कारण क्रियाशीलता का अभाव था। फिर भी कार्य की आवश्यकता के संबंध में सब एकमत हैं। सबकी यह धारणा है कि इसके बिना भारत का उत्थान नहीं होगा, भारत का अस्तित्व नहीं रहेगा। समाज अपनी प्राचीन जीवनधारा को लेकर स्वाभिमानपूर्वक आगे बढ़ता हुआ नहीं दिखेगा। इतिहास का खंडन हो जाएगा। यह हमारा विचार युक्तियुक्त है। इसके विषय में कोई संदेह नहीं उत्पन्न हो सकता। अतः दो वर्ष की हानि कैसे पूरी करें, यही विचार होना चाहिए। केवल रोने से काम नहीं चलेगा। हमने आघात सहे हैं और विजय भी पाई है। अतः हम क्षतिपूर्ति कर सकेंगे। हाँ, परिश्रम अधिक करना पड़ेगा। लोगों को वैयक्तिक जीवन में कुछ और कमी करनी पड़ेगी। अधिक त्याग, यदि उसे 'त्याग' कहा जाए तो, करना पड़ेगा।

संघकार्य का रहस्य – कबड्डी

इसके लिए कार्य की आवश्यकता के साथ-साथ अपने कार्यक्रमों की उपादेयता को भी ध्यान में रखना होगा। अपना कार्य सन् १९२५ से आरंभ

होकर सब प्रकार के विरोध और अपप्रचार के होते हुए भी बढ़ता ही गया। जनता ने यह भी अनुभव किया कि कार्यकर्ता गुणी, विद्वान, निरलस, कष्टसहिष्णु और पारिवारिक जीवन से मुक्त होकर कार्य करते हैं; स्वार्थ में नहीं पड़ते, त्यागमय जीवन, जो हिंदू-संस्कृति की देन है, व्यतीत करते हैं। यहाँ स्वार्थशून्य जीवन का प्रत्यक्ष आचरण है। जब समाज के ऊपर भीषण आघात हुए, तब भी स्वयंसेवकों ने उसकी रक्षा की। उस प्रयत्न में अनेक स्वयंसेवकों को अपना जीवन भी देना पड़ा। जब मैं पंजाब गया तो स्वयंसेवकों के साहस और पराक्रम की प्रशंसा करनेवाले अनेक लोग मिले। एक सैनिक अधिकारी ने तो यहाँ तक कहा कि जहाँ मरने-मारने की शिक्षा प्राप्त सैनिक तक जाने से भय खाते थे, वहाँ संघ के स्वयंसेवकों में इस वृत्ति को निर्माण करने वाली शिक्षा का वे रहस्य जानना चाहते थे। मैंने उनको बताया कि हम तो कोई शिक्षा नहीं देते, केवल खेल खेलते हैं। यह सत्य भी है। स्वार्थ-त्यागपूर्ण पराक्रमी अंतःकरण जो इस कार्य के द्वारा निर्माण होता है, वह समाज की दुःस्थिति देखकर तड़पता है। उसी तड़पन के कारण संघ के स्वयंसेवकों ने इतनी वीरता और धीरता दिखाई। यह सब कैसे हुआ? न तो बड़े-बड़े ग्रंथ पढ़कर और न वाद-विवाद ही करके।

हमारे कार्य के दो ही रहस्य हैं– एक है, रहस्य का न होना और दूसरा, कबड्डी। आज भी कार्यक्रम में वह गुण है। नीचे मातृभूमि, ऊपर भगवान का बनाया हुआ आकाश और चारों ओर फैला हुआ हिंदू-समाज– इसी के आधार पर चलनेवाली कबड्डी यशस्विनी है। उसे एक आध्यात्मिक अधिष्ठान प्राप्त हो गया है। एक स्थान पर एक स्वयंसेवक काम करने के लिए गया। वह अधिक पढ़ा-लिखा नहीं था, परंतु अपने कार्य के मूलभूत सिद्धांतों को जानता था कि मैं हिंदू हूँ, यह मेरी मातृभूमि है, दोनों का अखंड संबंध है और इस समाज में प्रेम पैदा करके संगठन और उसकी भलाई करना ही हमारा एकमात्र कर्तव्य है। परंतु जहाँ वह गया, वहाँ एक सज्जन ने कहा कि पहले हमसे विवाद करो, तब हम काम करेंगे। इतना पंडित तो वह था नहीं कि तर्क करता। उसने कहा कि आप मेरे साथ एक माह तक कबड्डी खेलें, तब मैं विवाद करूँगा। कबड्डी हुई और उसके साथ ही प्रेमपूर्ण वातावरण निर्माण हुआ। सारे विवाद लुप्त हो गए। हमारा यह अनुभूत प्रयोग है, इसे हम नहीं छोड़ सकते। हमारे यश का कारण कबड्डी ही है। कबड्डी में से ही एक शक्ति उत्पन्न हुई जिससे पंजाब के विभाजन के समय लाखों लोगों की जान बची, इज्जत बची, धन-सम्मान बचा। मैं

उन दिनों वहाँ गया था। जिन्होंने शांति स्थापित करने की प्रतिज्ञा की थी, वे वहाँ नहीं गए, बाकी लोग वहाँ पर टिके नहीं। ऐसे समय में स्वयंसेवकों ने लोगों की रक्षा की, भूखों को भोजन दिया और निराश्रितों की सेवा की।

एक बार इसी प्रश्न पर एक सज्जन ने वाद-विवाद किया। उन्होंने कहा कि संगठन के लिए आदमी, धन और हथियार चाहिए। मैंने कहा कि चलो, तुम्हारी बात मान ली, किंतु ये तीनों इसी क्रम से चाहिए। कोरे हथियार या धन से क्या होगा? पहले आदमी की आवश्यकता है, उसे हम पूरा करें। यही हमारा काम है। पहले आदमी, उसके बाद सब योजनाएँ और काम। एक स्थान की बात है। एक सज्जन ने डाक्टर जी को एक बंद लिफाफा दिया और कहा कि ५०० रुपए हैं, मैं बड़ी श्रद्धा से दे रहा हूँ। डाक्टर साहब ने उत्तर दिया कि मैं श्रद्धा से पैसा नहीं लेता, श्रद्धा से 'आदमी' का दान लेता हूँ। राष्ट्र के लिए मनुष्य चाहिए, दो पैरवाला नहीं, प्रखर राष्ट्रभक्ति से भरा हुआ, संपूर्ण राष्ट्र की एकात्मता का साक्षात्कार करनेवाला मनुष्य चाहिए। फिर बड़े आदर से विनम्रता से डाक्टर जी ने वह पैसा उस व्यक्ति को वापस किया। बात यह है कि अंततोगत्वा मनुष्य ही मुख्य है, शेष बातें गौण हैं। अतएव हमें मनुष्यों को ही एकत्रित करना है। यह महत् कार्य कबड्डी के द्वारा हो रहा है। वह हमारे कार्य का आधार है। क्या हम लोगों ने आज तक कुछ और भी किया है? केवल कबड्डी ही खेले हैं। अन्य संस्थाओं ने अपने सामने बड़े-बड़े कार्यक्रम रखे, योजनाएँ बनाईं और उन्हें पूरा करने के प्रयत्न करती हुई वे दिखाई भी दीं। किंतु उनमें स्वार्थ, द्वेष, बड़प्पन की इच्छा, मान-अपमान की भावना के दुर्गुण आज क्यों उत्पन्न हो गए हैं? संघ का कोई भी व्यक्ति इन दुर्गुणों को अपने अंदर स्थान नहीं देगा। मातृभूमि की पवित्र धूल में खेलते-खेलते परमात्मा के आकाश रूप छत्र के नीचे और पतितपावन गंगा, यमुना आदि सरिताओं के ऊपर बहने वाली अति सुंदर पवित्र वायु की सुगंध में हमने कबड्डी से अखंड भारत का साक्षात्कार किया है।

प्रतिबंध का कारण

अभी शाम को कार्यक्रम का समारोप हुआ है। उसमें जरा कूदे, जरा तालियाँ पिटीं। और हमने क्या किया? वैसे क्या यह देशभक्ति का बड़ा काम है? लेकिन यह एकीकरण का कार्य है। लोगों ने ऐसा ही कार्य खड़ा करने का प्रयास किया, संगठना बनाई, लोगों को वेतन दिया, और भी

अनेक आकर्षण रखे; लेकिन चला तो केवल संघ का ही काम। हम शाखाएँ चलाते हैं, गट की बैठकें होती हैं, प्रातः-सायं-रात्रि में मिलते हैं, गप्पें लगाते हैं, सम्मेलन शिविर करते हैं और इन सबके द्वारा कुछ शक्ति उत्पन्न होती है। शक्ति को देखकर लोगों के मन में कुछ गलत धारणा उत्पन्न हो जाती है। वे अपने स्वार्थ के लट्टू आगे बढ़ाने के लिए और हमें नष्ट करने के उद्देश्य से हम पर आपत्ति लाते हैं। विशिष्ट परिस्थिति का लाभ उठाकर हमारे कार्य पर प्रतिबंध इसीलिए लगाया गया। हमें समाप्त करने के प्रयत्न हुए। लेकिन इससे हमारा महत्त्व ही प्रकट हुआ। कंस ने कृष्ण को ही मारने का प्रयत्न किया, अन्य किसी बालक को नहीं। जहाँ सामर्थ्य होता है, जहाँ विभूतिमत्व होता है, वहीं मारने की शक्ति का प्रयोग होता है। जिस व्यक्ति ने महात्मा जी को मारा, उसका हमसे कोई संबंध नहीं था। वह एक अन्य संस्था का पदाधिकारी था, लेकिन उसे कुछ नहीं हुआ। मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि उसका कुछ होना चाहिए था। मैं तो केवल वस्तुस्थिति का वर्णन कर रहा हूँ। यह सारा अंधेर नगरी जैसा हुआ, जिसमें फाँसी के फंदे के हिसाब से अपराधी की जगह मोटी गर्दन का चेला फाँसी पर चढ़ाया जाने वाला था, पर वह गुरु की बुद्धिमत्ता से बच गया। प्रतिबंध के लिए कोई भी बहाना काफी होता है, किंतु हम पर प्रतिबंध लगने का कारण हमारी शक्ति का परिचायक कार्य ही था।

सत्याग्रह : अहिंसकों का गर्व भंग

समझौते की बात भी इसलिए सफल नहीं हुई, क्योंकि वे समझते थे कि गुब्बारा फूट गया है। उन्होंने ऐसा व्यवहार किया कि जिसमें संघ का स्वयंसेवक कानून की सहायता से अपनी रक्षा न कर सके, जैसे वह भारत का नागरिक ही न हो। किंतु हमने अपने अंतःकरण को शांत रखा। शांत न रखते और इतनी बड़ी शक्ति यदि क्षुब्ध हो जाती, तो न जाने क्या परिणाम होता। उस समय मैंने लोगों से शांत रहने के लिए कहा और सब लोगों ने माना। संपूर्ण देश में एक-सा ही व्यवहार हुआ। यह हमारी एकात्मता का परिचायक है। सबने स्वयंस्फूर्ति से शांति रखी थी। छः-सात माह बाद लोगों ने समझा कि इनकी तो खिलवाड़ थी, अब सब समाप्त हो गया है। अंत में हमने सत्याग्रह किया। मैं आपस में संघर्ष नहीं चाहता था, प्रेम से काम करने की इच्छा थी। द्वेष का उत्तर भी प्रेम से ही देना होता है। प्रेम असफल होने पर ही कटु कर्तव्य करना पड़ता है, किंतु वह भी प्रेम

से ही। उस समय अनेक लोगों ने तरह-तरह की बातें कहीं। एक व्यक्ति, जिस पर हमें विश्वास भी है, ने मेरे लिए कहा कि इस व्यक्ति में क्या धरा है, यह तो डरता है। मैंने कहा कि सारा हिंदुस्थान कुछ भी कहे, संघर्ष नहीं होगा। हम तो कष्ट की परंपरा में उत्पन्न हुए हैं। अपना अपमान होते हुए भी 'पाँच गाँव ही दे दो' यह परंपरा हमारी है। मैंने सोचा कि अंत तक प्रयत्न करूँगा और प्रेम से प्रश्न को सुलझाऊँगा। लेकिन मैं असफल हुआ। असफल होने पर मैंने सोचा कि सब लोग कहते ही हैं तो ऐसा ही हो। इसपर लोगों ने बड़े-बड़े शब्दों में कहा कि सत्याग्रह का तरीका व तंत्र तो हम ही जानते हैं, ये लोग अहिंसक रहना क्या जानें। इनके हृदय में तो विष भरा है, अहिंसक तो हम ही रह सकते हैं। यह अभी दो दिन में समाप्त हो जाएँगे। लेकिन हमारा सत्याग्रह ऐसा हुआ कि उनकी तथाकथित आंदोलन की तकनीक का दावा खोखला रह गया और हमने उन लोगों से अधिक व्यक्ति जेल में भेजे। फिर दौड़-धूप शुरू हुई। क्या किया जाए क्या नहीं, यह विचार होने लगा। आत्मीयता के भाव से मैंने समझौता किया और उन्हें आश्वासन दिया कि मैं संघ का कार्य यथापूर्व करूँगा। मेरा अंतिम पत्र है कि पत्र-व्यवहार बंद कर दो। एक बार अखबार में आया कि 'फन्डामेन्टल डिफरेन्सेज' हैं, सरसंघचालक हठवादी है, इसलिए प्रतिबंध नहीं उठेगा। मैं अखबार तो पढ़ता नहीं था, क्योंकि अखबार मिलता ही नहीं था। जिन लोगों ने मुझे यह समाचार दिया, उनसे मैंने कहा कि अब प्रतिबंध जरूर हटेगा, एक सप्ताह में उठकर रहेगा, क्योंकि जिन्होंने प्रतिबंध लगाया है, उनकी मनोवृत्ति से मैं परिचित हूँ। हुआ भी ऐसा ही। अपने श्री वेंकटराम शास्त्री ने बहुत दौड़-धूप की, परंतु वे निराश हुए। उनका लम्बा-चौड़ा वक्तव्य छप ही रहा था कि प्रतिबंध हट गया। कारण यह है कि प्रतिबंध लगानेवाले और उठानेवाले अपने ही हैं, हममें परस्पर एकात्मता है। भूल के कारण प्रतिबंध लगा दिया था, स्मरण आ गया तो हटा दिया। किंतु स्मरण आने में कुछ समय लगता है।

कबड्डी, अर्थात् संगठन

उन्होंने देखा कि यह टस-से-मस नहीं होता और ऊपर से लिखता है कि पत्र-व्यवहार बंद कर दो। जेल जाने वाले इतने हैं कि कोई हिसाब नहीं। अर्थ स्पष्ट है कि उनके अंदर एक प्रकार की शक्ति है, जो दबाने से दबती नहीं। प्रतिबंध लगा तो शक्ति के कारण, उठा तो वह भी शक्ति के

कारण। वह शक्ति कहाँ से आई। क्या उस समय हमारे पास घोषणापत्र थे? या भविष्यकाल के सुंदर चित्र थे? या हमने सम्मेलन या प्रचार किया था? केवल यह कबड्डी खेले थे। यह नितांत सत्य है। अपने कार्य की एकात्मता की जो नींव है, उससे कबड्डी का अर्थ 'संगठन' हो गया है। उसे ठीक-ठीक समझने की जरूरत है।

मौलिक अंतर

आज हमारे संबंध में भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें होती हैं। कहा जाता है कि हम कुछ करते नहीं। हमारा कार्य समाज-विमुख है। यदि हम समाज की ओर देखते नहीं हैं तो हम बढ़ते कैसे हैं? बढ़ने का कारण यह है कि हमारा दृष्टिकोण प्रतिक्रियात्मक नहीं, भावात्मक है। विच्छिन्नता के स्थान पर एकात्मता उत्पन्न कर, अराष्ट्रीयता के स्थान पर राष्ट्रीयता जागृत कर, अभारतीयता के स्थान पर भारतीयता का मंत्र पिलाकर हमें नवचैतन्य से परिपूर्ण समाज निर्माण करना है।

आज हमारी सारी समस्याएँ स्वार्थ के कारण हैं। यही सबकी जड़ है। उसे दूर करने के लिए हमारी प्रस्तुत विचार-प्रणाली है, कार्यपद्धति है, एकात्मता निर्माण करने के प्रयत्न हैं। बड़े-बड़े व्यक्ति क्षुद्र भाव नहीं भुला सके, लेकिन छोटे-छोटे बच्चों ने महान आत्मीयता प्रकट की। बड़े-बड़े व्यक्ति भाषा, प्रांत, पंथ, मत का अभिमान रखते हैं और अखिल भारतीय नेता कहलाते हैं। परंतु अपना चित्र इससे अलग है, होना भी चाहिए। बच्चा भी कहता है कि भारत मेरा है, यह संस्कार ही, यह एकात्मा ही हमारा कार्य है, यही हमारी शक्ति का कारण है, कोई दूसरी बात नहीं। पच्चीस वर्ष प्रयत्न कर जिस प्रणाली से कार्य कर हम दृढ़ता से आगे बढ़े, उसका अधिक तेजस्विता से अवलंबन करते हुए हम अधिक राष्ट्र-प्रेम प्रकट करेंगे। उसी से सब कुछ होगा। अन्य लोगों में और हममें मूलभूत अंतर यह है कि हम किसी प्रकार की उच्छेदकारी प्रवृत्ति को बढ़ावा नहीं देते, वे बढ़ावा देते हैं। वे अभारतीयता को प्रोत्साहन देते हैं। हम उसे नष्ट करते हैं। सचमुच में हमारे बीच में 'मौलिक अंतर' है। एक-एक स्वयंसेवक के दुःख में शामिल होने वाले जितने यहाँ दिखेंगे, उतने और कहीं नहीं। उस संस्कार को प्रबल करना, उसे घर-घर, हृदय-हृदय तक पहुँचाना, सबके साथ प्रेम, सहयोग आदि का निर्माण करते हुए समस्त भारत को एक राष्ट्र के नाते से खड़ा करने का निश्चल भाव लेकर असामान्य दृढ़ता से हम कार्य करें।

हमें चिंता नहीं, चाहे कोई कष्ट हो, खाना न मिले, अपने जीवन में सुख न मिले; पर राष्ट्र के जीवन में सुख मिले; यही महत् भाव रहे।

एक साधु ने कहा है कि सुख की कामना न करें, क्योंकि लोकसंग्रह करनेवाले तथा कुमार्ग से बचानेवाले सभी श्रेष्ठ पुरुषों का जीवन दुःखमय रहा है। राम का जीवन संकटों में बीता, कृष्ण का जीवन भी संन्यस्त जीवन रहा। इस कार्य के संस्थापक डा. हेडगेवार जी का जीवन भी ऐसा ही था। दरिद्रता इतनी थी कि पेट भर खाने को नहीं मिलता था। क्या वह जीवमान प्रखर आदर्श भूल गए? आज केवल उस निश्चय से चलने की जरूरत है। हम विचार करें कि मनुष्य जीवन क्या है? केवल स्वार्थ से क्या होगा? राष्ट्र को चिरंजीव बनाने का हम प्रयत्न करें, इसके लिए प्रबल सामर्थ्य उत्पन्न करें। आसेतु- हिमाचल यह राष्ट्र खड़ा होकर विश्व की ओर देखे, इसके लिए दृष्टि को इधर-उधर न जाने देते हुए कर्तव्यमय जीवन बिताकर राष्ट्र के लिए विचार करें। यही कार्य है, जो सब प्रकार के संकटों से मुक्त होने का मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं।

मेरी कामना यही है, मैं घूमते-घूमते यही देखूँ कि स्वयंसेवक ज्योति बनकर चलें, सर्वत्र कार्य बढ़ता जाए- नगरों में बढ़े, गाँवों में फैले। एक-एक गाँव संघ का केंद्र बने, सब ओर भारतीयत्व का जय-जयकार सुनाई दे। इसे करने के लिए दृढ़ निश्चय से हम आगे बढ़ें। अपना संपूर्ण कर्तृत्व लगाकर परिपूर्ण राष्ट्र जीवन खड़ा करें और उसकी एकात्मता का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करते हुए उसे गौरव का केंद्र बनाएँ।

योग्य व्यक्तियों के एकत्रीकरण से संगठित शक्ति का निर्माण करना होगा। इसीलिए सोचना होगा कि उन व्यक्तियों के लिए कौन से गुणों की अपेक्षा है, जो इस प्रकार की संगठित शक्ति के सजीव अंग बनेंगे।

— श्री गुरुजी

सिंदी बैठक

वर्धा जिले के सिंदी नामक स्थान पर ९ से १६ मार्च १९५४ तक जिला और उससे अधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रचारक के नाते कार्य करनेवाले लगभग ३०० कार्यकर्ताओं का सप्त-दिवसीय शिविर हुआ था। इस शिविर में मुक्त रूप से विचार-विनिमय हुआ और श्रीगुरुजी ने अपनी वैशिष्ट्यपूर्ण शैली में उद्बोधन दिया। वे भाषण यहाँ दिए जा रहे हैं।

---

१. जागतिक एकता और संघकार्य

(९ मार्च १९५४)

गत २८ वर्षों से अपना संघ 'हिंदू संगठन' का कार्य कर रहा है। वह हिंदू संगठन क्यों करता है, इसका उत्तर यह है कि हिंदू समाज संगठित नहीं है। हम इस समाज में उत्पन्न हुए हैं, इसके साथ हमारा अविभाज्य तथा आत्मीयता का संबंध है, अतः हम इसे संगठित और शक्तिसंपन्न रखना चाहते हैं। यह हमारी स्वाभाविक आकांक्षा है। संसार इस संबंध में चाहे जो कुछ कहे, वह हमारी सहज आकांक्षा की पूर्ति में बाधक नहीं हो सकता। अपने ही मन में कभी-कभी प्रश्न-उपप्रश्न तथा संदेह उत्पन्न होते हैं। उनका समाधान न हुआ तो व्यथा उत्पन्न होती है, जिससे कठिनाई होती है। अतः बार-बार इस विषय में कुछ कहने की आवश्यकता रहती है।

जागतिक पृष्ठभूमि में संघकार्य का विचार

हम किस दृष्टिकोण से विचार करें? आजकल सभी सोचते हैं कि अपना विचार संकुचित न हो। वह विशाल, भव्य और जगद्व्यापी हो।

सर्वसामान्य व्यक्तियों के लिए तो इतना ही विचार पर्याप्त है कि 'मैं हिंदू हूँ और अपने ही समाज के जीवन की पूर्णता के लिए उसका संगठन करूँगा'। किंतु जागतिक पृष्ठभूमि में विचार करने पर यह प्रश्न पैदा होता है कि अपने समाज के संगठन की पूर्णता में जिस शुद्ध जीवन के साक्षात्कार की संभावना है तथा उसे प्राप्त करने का हमारा निश्चय है, उसका मानव-जीवन के साथ क्या संबंध है? वह उसके लिए उपयोगी होगा या नहीं? आज देश में ऐसे लोग हैं, जो जागतिक वादों को लेकर चलते हैं। यहाँ तक कि अंतर्राष्ट्रीयता के चक्कर में पड़कर राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीयता के समन्वय को भी भूल जाते हैं। कुछ तो बाह्य वादों को ही हमारे देश में प्रसृत करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि उन्हीं वादों के अवलंबन से जागतिक एकता संपन्न होगी। हम जिस कार्य को लेकर चले हैं, वह भी इस एकता के लिए साधक हो सकता है। उसके पीछे युक्तिवाद भी खड़ा किया जा सकता है, किंतु केवल उससे काम नहीं चलेगा। हमें तो प्रामाणिकता के साथ मन का समाधान करनेवाला तथा व्यावहारिक विचार चाहिए।

जब जागतिक तत्त्वज्ञानों का विचार करते हैं तो मूलतः दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। प्रथम, मानव की एकता के लिए राष्ट्रजीवन को समाप्त किया जाए अथवा नहीं? दूसरा, अपने राष्ट्रजीवन को बनाए रखते हुए उसका शेष संसार के साथ समन्वय किया जाए अथवा नहीं और यदि किया जाए तो कैसे?

जहाँ तक जागतिक एकता का प्रश्न है, उसका विचार हमारे यहाँ भी हुआ है। अखिल मानव की एकता, उनमें पारस्परिक संघर्षविहीनता एवं बंधुता का जीवन निर्माण करने का आदर्श अति प्राचीनकाल से हमारे सामने रहा है। हमने 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः' की कामना करके एक भी व्यक्ति का दुःखी या रोगी रहना सहन नहीं किया है। आज का पाश्चात्य जगत् अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक भला 'ग्रेटेस्ट गुड ऑफ द ग्रेटेस्ट नंबर' की ही कामना लेकर चला है। इसके विपरीत हमारा आदर्श, सबका पूर्ण सुख रहा है।

रूस में राष्ट्रभावना के निर्मूलन का असफल प्रयत्न

आज मानव-समाज छोटे-छोटे गुटों में बँटा हुआ है। राष्ट्र, राज्य, समाज एक ही स्वरूप के विभिन्न नाम हैं। इन सबके अलग-अलग स्वार्थ

हैं। 'जहाँ स्वार्थ, वहाँ संघर्ष' के न्याय से उनमें पारस्परिक संघर्ष दिखाई देता है। इस संघर्ष के रहते मानव-एकता संभव नहीं है। अतः कई लोगों के सम्मुख यह विचार आता है कि राष्ट्र की भावना ही विच्छेदकारी और मानव-एकता के लिए बाधक है, अतः उसको निर्मूल कर देना चाहिए। समाजवादी विचारधाराएँ यही आधार लेकर चली हैं। इसके विपरीत, दूसरा विचार यह है कि राष्ट्र शतकानुशतक, लोगों के हृदय में दृढ़ बद्धमूल भावना है, जिसका उन्मूलन संभव नहीं है। रूस, जहाँ राष्ट्रभावना के उन्मूलन का आधार लेकर ही साम्यवाद का प्रयोग हुआ, में इस बात की अनुभूति हुई कि राष्ट्रभावना को हृदय से दूर करने पर जीवन की प्रेरणा ही समाप्त हो जाती है। रूसी क्रांति के पश्चात् प्रारंभिक उत्साह की अवस्था में तो अवश्य ही कुछ भौतिक प्रगति हुई। पंचवार्षिक योजनाएँ सफल हुईं, किंतु धीरे-धीरे उत्साह ठंडा पड़ा और कार्य की प्रेरणा जाती रही। यहाँ तक कि बाद में बड़े-बड़े कारखानों में फौज बैठाकर लोगों से बलात् श्रम लिया गया। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर वहाँ भी राष्ट्रभावना के पुनर्जागरण की आवश्यकता प्रतीत हुई और 'मदरलैंड' या 'फादरलैंड' (चाहे जिस नाम का प्रयोग करें) कहकर उस सुप्त भावना को जगाने का प्रयत्न हुआ। मातृभूमि या पितृभूमि कहकर जब एक आत्मीयता तथा ममत्व का भाव उत्पन्न होता है, तब कुल-परंपरा या अपनेपन की भावना से समाजसेवा के कार्य की प्रेरणा मिलती है। संपूर्ण विश्व की बात करनेवाले लोग अधिकांशतः आत्मकेंद्रित (सेल्फसेंटर्ड) ही देखे गए हैं। यथार्थतः संसार को एक मानकर चलनेवाले कुछ अपवाद ही मिलेंगे।

राष्ट्र एवं विश्व का समन्वय

अतः राष्ट्र एवं संसार के समन्वय का मार्ग ही शेष रह जाता है। यह समन्वय किस प्रकार किया जाए, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। इस दिशा में समय-समय पर अनेक प्रयोग हुए हैं। पूर्वकाल की साम्राज्यवादी भावना भी छोट-छोटे राष्ट्रों के संघर्ष को मिटाने के लिए एक नया तथा बड़ा उपाय था, किंतु स्वार्थ पर आधारित होने के कारण वह संघर्ष नहीं मिटा सकी। 'लीग ऑफ नेशन्स' तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ संसार को एक सूत्र में बाँधने के प्रयोग हैं। विश्वराज्य (वर्ल्ड स्टेट) की चर्चा भी चलती है, किंतु समस्या यह है कि क्या छोट-छोटे राष्ट्र अपने अस्तित्व को मिटाने के लिए तैयार हैं? भारत की ओर ही देखें। यहाँ आज भिन्न-भिन्न राज्यों की माँग हो रही है।

छोटे-छोटे अहंभाव जागृत होकर संकीर्णता तथा विघटन को जन्म देते हैं। इस स्थिति में जब राष्ट्रभाव को मिटा नहीं सकते और विश्वराज्य का निर्माण संभव नहीं जान पड़ता, तब किस मार्ग का अवलंबन करें? इसका समाधान आज कहीं दिखाई नहीं देता। हमारे यहाँ इसका हल है, किंतु उसका आधार भौतिकता में नहीं है। भौतिकता एक-दूसरे को अलग रखने का ही कारण होती है। विश्व-एकता का संपादन करने के लिए भौतिकता से अधिक श्रेष्ठ तथा उच्च भूमिका की आवश्यकता है। वह भूमिका क्या है और उसका निर्माण करने में हमारे इस हिंदू संगठन के कार्य का भी कुछ योगदान है या नहीं, इसका हमें विचार करना होगा। हमारा योगदान तो बहुत है, किंतु उसे समझने के लिए सूक्ष्म विचार आवश्यक है। केवल राजनीति और अर्थनीति के दो-चार आधुनिक सिद्धांतों से वह बुद्धिगम्य नहीं होगा।

व्यष्टि, सृष्टि और परमेष्टि

प्राचीनकाल से हमने तीन बातों का विचार किया है। एक, व्यष्टि ('मैं' का अस्तित्व) है। इसको सभी ने स्वीकार किया है। माया कहकर जिन्होंने जगत् को मिथ्या कहा उन्होंने भी 'मैं नहीं हूँ' ऐसा नहीं कहा। द्वितीय, सृष्टि है– इसे मिथ्या कहते हुए भी यह आँखों के आगे है। अतः इसके अस्तित्व से भी इनकार नहीं किया जा सकता। तृतीय, इन सबका कोई निर्माता है, जो दिखाई नहीं देता। अन्य लोगों ने इसका विचार नहीं किया। हमने किया है और उसी आधार पर मानव-एकता स्थापित करने का प्रयास भी किया है। व्यष्टि एवं सृष्टि के नियम समान हैं। इन सामान्य नियमों का ज्ञान तथा उसके साक्षात्कार से ही संपूर्ण सृष्टि की एकता का तादात्म्य हो सकता है, किंतु शेष सृष्टि की एकता ही बात छोड़कर अभी हम मानव-एकता का ही विचार करें।

यो बुद्धेः परतस्तु सः

आज आदमी, आदमी से टकरा रहा है। यह देखकर लगता है कि मनुष्य परस्पर संघर्ष न करे। किंतु ऐसा क्यों लगता है? यदि अपने को स्थूल मान लिया जाए, मरने के बाद क्या होगा– इसकी चिंता न की जाए, तब एक-दूसरे के साथ स्नेह क्यों किया जाए? इसका उत्तर नहीं मिलता, किंतु हमने उत्तर दिया है कि शरीर, जिसकी भिन्नता दिखाई देती है, हमारा

जीवन-सर्वस्व नहीं है। उससे भी आगे बढ़कर श्वासोच्छ्वास आदि प्रक्रियाओं से शरीर को टिकानेवाले प्राण, सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला मन और उस मन को भी नियंत्रित करनेवाली बुद्धि तक भिन्न रह सकती है। वहाँ तक एक-दूसरे के सुख-दुःख समान करने तथा एकात्मता निर्माण करने की इच्छा नहीं रहती, किंतु बुद्धि से आगे भी कुछ है और उसका अनुभव आता है गहरी नींद में। स्वप्नशून्य घोर निद्रा में जब मन निश्चेष्ट हो जाता है, बुद्धि शांत हो जाती है, उस अवस्था का भी ज्ञान तथा सुख लेनेवाली कोई वस्तु है। यदि वह न हो तो गहरी नींद की इच्छा क्यों रहे। गीताकार भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में– 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (गीता– ३/४२) बुद्धि से परे, उससे भी सूक्ष्म अगोचर तथा जिसके अधिष्ठान से बुद्धि भी काम करती है– ऐसी कोई वस्तु है। वह अमूर्त है, उसकी कोई लंबाई-चौड़ाई नहीं है, अतः सर्वव्यापक है। समस्त मानवों में वही व्याप्त है, सबमें एक ही वस्तु है, यह भाव ही कभी-कभी उत्पन्न होता है, दूसरे को सुखी करने की प्रेरणा देता है। जैसे मेरे शरीर से मुझे सुख-दुःख की अनुभूति होती है, उसी प्रकार दूसरे के शरीर से भी उस 'मुझे' ही सुख-दुःख का अनुभव होगा। अतः उसके सुख-दुःख में ही मेरा सुख-दुःख है, इस सत्य धारणा के कारण ही मानव सुसूत्रता की इच्छा, एकात्मता की कामना और अनुभूति और बंधुभाव की लालसा करता है। मानव-समाज के सुख की प्रेरणा हमें तभी मिल सकती है, जब हमें यह ज्ञान हो कि हम सबके अंदर एक ही सत्य है। उसे फिर आत्मा, परमात्मा, शून्य, महाशून्य चाहे जिस नाम से पुकारा जाए। जितनी मात्रा में इसकी अनुभूति होगी, उतनी ही मात्रा में मानव-एकता सत्यसृष्टि में आ सकेगी।

यह ज्ञान हिंदू के पास सुरक्षित है, अन्य किसी के पास नहीं। जिसके पास धन है, उसका कर्तव्य है कि वह उसकी रक्षा करे और उसे सबके लिए सुलभ कराए। इस कर्तव्य से विमुख होना अपने ही नहीं, अपितु संपूर्ण परिवार के विनाश का कारण होगा। जो समाज इस ज्ञान को शेष संसार को देने के लिए समय-समय पर श्रेष्ठ महापुरुष उत्पन्न करता है, उस समाज को उत्तम रीति से जीवित रखना आवश्यक है। एतदर्थ सामर्थ्य निर्माण करने के लिए हम संगठन करते हैं। अतः हमारा संगठन विश्व की भलाई के लिए है। सृष्टि रक्षण ही हमारे पूर्व पुरुषों का ध्येय रहा है। हिंदू समाज ही ऐसे व्यक्ति उत्पन्न कर सकता है, जो अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति से इस ज्ञान का साक्षात्कार संसार को करा सकते हैं। दूसरों के लिए यह संभव

नहीं है, क्योंकि प्रत्येक तत्त्व प्राप्ति के साधन होते हैं। हमारे पूर्वजों ने उन साधनों को खोजा, उन्हें प्रत्यक्ष करने का शास्त्र बनाया। पश्चिम के लोगों को उस शास्त्र का पता नहीं है। वे बाहर की ओर देख रहे हैं। इंद्रियाँ बाह्यगामी हैं, बहिर्मुखी हैं। वे अंदर नहीं देखते। हम देखते हैं। इसका यथार्थ ज्ञान देने की पात्रता हमें निर्माण करनी है। अतः हमारे लिए करणीय है कि हिंदू समाज को इतना जागृत कर दें कि वह निश्चल भाव से आत्मविश्वास के साथ, संसार की बाहर देखनेवाली प्रवृत्ति को भी अंतर्मुखी कर इस ज्ञान को दुनिया को सिखा सके।

शक्तिपात

ज्ञान प्रदान करने के लिए जैसे उपदेश सहायक होता है, वैसे ही शक्ति भी। अपने यहाँ 'शक्तिपात' का भी वर्णन है, जिसका अर्थ है मुनष्य अपने प्रत्यक्ष संपर्क से दूसरे को अपना ज्ञान प्रदान करे। संत ज्ञानेश्वर द्वारा मराठी में किए गीताभाष्य में वर्णन है कि सपूंर्ण ज्ञान बताने के पश्चात् भगवान कृष्ण ने बाएँ हाथ से घोड़ों की लगाम पकड़ते हुए अर्जुन को आलिंगन दिया। यह आलिंगन नहीं था, अपने प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा अपने हृदय का ज्ञान अर्जुन को प्रदान करना था, अर्थात् विद्युत के समान ज्ञान का संचार किया। परंतु शक्तिपात के लिए शक्ति का होना आवश्यक है। कभी संपर्क से, कभी संघर्ष से, दूसरे में शक्ति का संचार करके विपरीत भाव दूर करने तथा सत्य की अनुभूति कराने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। अतः हम सामर्थ्य संपन्न, तेजस्वी जीवन उत्पन्न करेंगे, जिससे हम अपनी दृष्टि से और यदि न हुआ तो शक्ति से लोगों को जागतिक एकता की ओर ले जा सकेंगे। आत्मविश्वास से परिपूर्ण समाज ही संसार से बात कर सकता है तथा उसका मार्गदर्शन कर सकता है। चारों ओर से पद-दलित तथा मार खाया हुआ क्या कहेगा ओर क्या करेगा? जिसके अपने ही जीवन में उन्नति, प्रेरणा तथा पात्रता नहीं है, वह संसार को क्या राह दिखाएगा? अपने जीवन से डरकर भागनेवाला दूसरों से क्या कह सकेगा? निवृत्ति का भी हम लोगों ने अशुद्ध अर्थ कर लिया है। शास्त्रों में यह अर्थ नहीं है। निवृत्ति का अभिप्राय जीवन से पलायन नहीं, अपितु जीवन को हजम करने के पश्चात् उसे नीरस मानकर, ईख के रस को चूसकर उसे फेंकने के समान, संसार को ठोकर मार देना ही निवृत्ति है। इसी प्रकार सृष्टि पर विजय पाकर जो उससे निवृत्ति लेता है, वही सच्चा

निवृत्त है। अपने यहाँ कहा गया है कि मनुष्य को तब नम्र बनना चाहिए, जब उसमें दूसरों को विनम्र करने की पात्रता आ जाए। क्षमाशील तब बनना चाहिए, जब अपमान करनेवालों को दंडित करने का सामर्थ्य-संपादन कर लिया जाए। संसार में अजेय बनकर खड़े रहने के लिए श्रेष्ठ सामर्थ्यशाली, तेजस्वी जीवन निर्माण करने के लिए ही यह विचार सामने रखें। दुनिया की बात करना, याने घर की बात छोड़ना– यह भाव अशुद्ध है। दोनों का समन्वय ही श्रेष्ठ तथा उत्तम है।

२. सामूहिक एकात्मता की अनुभूति

(१० मार्च १९५४)

जागतिक एकता के संबंध में अब दूसरा विचार शेष रह जाता है। सब मिलकर एक ही हो जाएँ, उनमें किंचित् मात्र भी भिन्नता न रहे और जीवन के सभी क्षेत्रों में एकरूपता हो, ऐसी कल्पना जागतिक एकता के संबंध में कुछ लोग करते हैं। इसके विपरीत दूसरा विचार यह भी है कि भिन्न-भिन्न मनुष्य-समूह राष्ट्र के रूप में अपना जीवन बनाए रखते हुए भी परस्पर स्नेह से रहें और सामूहिक एकात्मता की अनुभूति करते जाएँ। आज अनेक बड़े-बड़े लोग दोनों ही विचारों को लेकर चल रहे हैं। हमारा विचार भी इस संबंध में स्पष्ट है और वह प्राचीनकाल से चला आ रहा है।

राष्ट्रों का विनाश नहीं, समन्वय

व्यष्टि और समष्टि के संबंधों के विषय में हमारा यह विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति के गुण-वैशिष्ट्य को नष्ट न करते हुए उनका सामंजस्य निर्माण किया जाए। मनुष्यों के समूह, अर्थात् राष्ट्र का भी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। उनमें भी सामंजस्य निर्माण करना अभिप्रेत है। इस पृथ्वी पर व्यक्ति तथा उनके समूहों में भिन्न गुणधर्म तथा स्वभाव दिखाई देते हैं। विश्व-वैचित्र्य में उन सबका अपना-अपना स्थान है। भिन्न-भिन्न मनुष्य-समूह अपनी भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति लेकर चलते हैं। उनके गुण-विशेषों को नष्ट कर एक साँचे में ढालने से प्रकृति का सौंदर्य तो नष्ट होता ही है, सुख भी समाप्त हो जाता है तथा जीवन का विकास भी रुद्ध हो जाता है। अतः इस

वैशिष्ट्य में से सामंजस्य निर्माण करना ही अपनी विशेषता है। हम राष्ट्रों का विनाश नहीं, समन्वय चाहते हैं।

अतः सब मानवों को एक स्तर पर लाकर तथा भिन्नत्व को मिटाकर एक राज्य-व्यवस्थाशून्य अवस्था निर्माण करने का हमारा विचार नहीं है। इसके विपरीत अपनी-अपनी प्रकृति रखते हुए भी मानव-उत्क्रांति के साथ सभी का समन्वित विकास करना ही हमारा विचार है। विश्वराज्य भी हो तो वह छोटे-छोटे स्वयंभू तथा स्वयंपूर्ण राष्ट्रों से विकसित होकर एक केंद्रीय शासन के रूप में हो, जो सबका नियमन कर सके। संपूर्ण मानव की एक ही स्थिति का विचार भी हमारे यहाँ है। किंतु वह तभी संभव है, जब मानव अतिमानव के रूप में विकसित हो जाए। जब तक मानव, मानव रहेगा, जब तक उसकी भिन्न गुण-प्रकृति बनी रहेगी और जब तक गुण-वैशिष्ट्य को प्रकट करने वाला तथा उसके अनुसार चलनेवाला राष्ट्र रहेगा, तब तक अपनी संपूर्ण शक्ति और बुद्धि उसके समन्वय के लिए ही लगनी चाहिए।

अतिमानव का चित्र

अतिमानव का चित्र हिंदुओं ने अत्यंत भव्य तथा दिव्य रूप से रखा है। अन्यों ने भी मानव होने के नाते इस बारे में कल्पनाएँ की हैं। उसमें पूर्ण युक्तिवाद भले ही न हो, किंतु कुछ न कुछ साक्षात्कार अवश्य है। संशोधन का सामर्थ्य होने के कारण वे भी नई कल्पनाएँ कर सकते हैं। भौतिकशास्त्र में आजकल अनेक क्रांतिकारी अनुसंधान हुए हैं। यहाँ तक कि एक अणुमात्र से असीम शक्ति का प्रादुर्भाव हो सका है। इसको देखकर वैज्ञानिकों ने सोचा कि जिस सत्ता के एक अणु में इतनी शक्ति है, उसकी श्रेष्ठता तथा भव्यता कितनी होनी चाहिए? केवल भौतिकशास्त्र के चिंतन से भी (यदि वह प्रामाणिकता के साथ किया जाए तो) मनुष्य ईश्वर की कल्पना कर सकता है। मानव जीवन के संघर्ष को देखकर पाश्चात्य विचारकों के मन में भी उसे मिटाने का विचार उत्पन्न हुआ। उन्होंने भी सोचा कि मानव परस्पर-स्नेह से क्यों नहीं रहता? सत्ता के बल पर उसे चरित्रवान क्यों रखा जाए? ऐसी अवस्था क्यों न उत्पन्न की जाए, जिसमें सत्ता की आवश्यकता ही न रहे? इस स्थिति को उन्होंने 'अराजकतावाद' (ॲनार्किज्म) 'सत्ताशून्य अवस्था' (स्टेटलेस स्टेट) अथवा 'राज्यसत्ता का तिरोधान' (विदरिंग अवे ऑफ द स्टेट) कहा। यह विचार मानव मन में

चलनेवाले सुप्त विचारों का ही परिणाम है। साम्यवाद में भी मूलतः वर्गसंघर्ष का चाहे जितना विचार हो, परंतु अंत में ऐसी अवस्था का ही चित्र देखा है, जिसमें सभी संघर्ष शांत होकर वर्गविहीन तथा राज्यविहीन अवस्था का निर्माण हो। किंतु आज के स्वार्थलिप्त तथा विषयासक्त मानव के लिए यह बात कवि-कल्पना तथा आकाश-पुष्प के समान मिथ्या है। मानव जब अतिमानव बनेगा, सृष्टि के साथ अपने संबंधों का साक्षात्कार करेगा, चारित्र्य को ऊपर उठाएगा और परस्पर एकात्मता की पूर्ण अनुभूति करेगा, तभी राज्यविहीन समाज की रचना संभव होगी। हमारे प्राचीन विचारकों ने भी कहा है–

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

(महाभारत, शान्तिपर्व, ५९-१४)

न राज्य की आवश्यकता है, न राजा की, न दंड-विधान की और न दांडिक की। यदि आवश्यकता है तो केवल धर्म की। धर्म से ही प्रजा सौहार्द से रहेगी।

अब प्रश्न आता है कि धर्म क्या हैं? चंदन, भस्मलेपन, देवतावंदन, आदि बाह्य उपकरण धर्म नहीं हैं। समूची सृष्टि जिन सूक्ष्म नियमों के आधार पर शून्य में विलीन नहीं होती, चलती रहती है, उनको धर्म कहते हैं। उन नियमों का मनुष्य-जीवन में प्रवर्तन होता है, वह भी धर्म है। अपने और सृष्टि-नियमों को तथा उनके पारस्परिक संबंध और समन्वय को जाननेवाला बनेगा, तब ही राज्यविहीन समाज व्यवस्था संभव होगी। किंतु ये नियम अत्यंत गूढ़ हैं। अतः समाज रचना बनाकर संपूर्ण मानव को एक जैसा रूप देना आज कल्पना मात्र है।

विविधता के साथ विकास

अब दूसरा मार्ग रह जाता है कि संपूर्ण पृथ्वी पर एक शासन चले, किंतु सबके लिए एक प्रकार का शासन ठीक नहीं। क्योंकि राष्ट्रों की भिन्न-भिन्न प्रकृतियाँ तथा गुण-वैशिष्ट्य हैं। हिंदू समाज में भी सबके लिए व्यवहार के एक नियम नहीं बनाए गए। नियमों के ये भेद प्रकृतिभिन्नता के ही कारण हैं। विद्वान यदि मद्यपान करे तो वह पाप माना गया है, जबकि साधारण श्रमिक के लिए वह क्षम्य है। तात्पर्य यह कि हमने सबको एक ही लकड़ी से हाँकने का विधान (फ्लैट रूल) नहीं किया है। यदि जीवन में

हम समान नियम लागू करें और उसके अनुसार सबको बराबर मात्रा में भोजन दें तो कुछ बदहजमी के कारण मर जाएँगे,और कुछ भूख से। अतः अपने यहाँ क्रमानुसार विकास (ग्रेडेशन) का विचार है। हमने मनुष्य समूहों के गुण-वैशिष्ट्य के अनुसार व्यवहार का निर्देश किया है। यह उचित भी है। सारी अवस्थाओं को देखते हुए यदि मानव के पोषण के लिए उसके वैशिष्ट्य को बनाए रखकर उसका राष्ट्र के रूप में विकसित होना आवश्यक है, तो मानवता के विकास तथा कल्याण के लिए अपने राष्ट्र को उसकी संपूर्ण विशेषताओं तथा विविधताओं के साथ विकसित करना भी परमावश्यक है। अनेक विद्वान, जो राष्ट्रभावना को विच्छेदकारी कहते हैं, उन्हें मानव का साक्षात्कार नहीं है। वे व्यवहार को भूलकर कल्पना के जगत् में विचरण करते हैं। अतः हम अपने राष्ट्रजीवन के वैशिष्ट्य को लेकर मानवता के लिए उसका विकास करेंगे, यही हमारा निश्चय है।

संसार को संपूर्ण मानव की एकात्मता, जो हमारे राष्ट्र का गुण वैशिष्ट्य है, का दर्शन कराने के लिए क्या किया जाए– यह विचारणीय है। एकात्मता का ज्ञान उत्पन्न कराने के लिए संपर्क या संघर्ष दो– मार्ग हैं। संपर्क में बातचीत, तर्क वादविवाद द्वारा ज्ञान दिया जाता है, किंतु इससे कई बार ज्ञान मिलता नहीं और ना ही इससे पूर्ण साक्षात्कार ही संभव है। व्यक्तिविशेष एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित करते हैं, जिस प्रकार एक हौज से नल द्वारा दूसरा हौज जुड़ता है, तभी ज्ञान-संचार होता है। इस प्रकार ज्ञान के संचार को 'शक्तिपात' कहते हैं। इसके लिए आवश्यक पात्रता उत्पन्न करनी होगी। यदि केवल तत्त्वज्ञान से काम होता तो मनुष्य ईश्वर बन जाता। प्राचीनकाल से इस दिशा में प्रयास हुआ है। किंतु संपर्क बनाने मात्र से कोई व्यक्ति मान लेगा– यह संभव नहीं। गौतम बुद्ध के काल से अनेक व्यक्ति इस दृष्टि से बाहर गए, किंतु वे स्थायी ज्ञान प्रदान करने में समर्थ न हो सके। अतः चिरंतन ज्ञान के लिए सामर्थ्य की आवश्यकता है। सामर्थ्य दो प्रकार का होता है। एक, प्रत्यक्ष भौतिक जीवन में अनुभव होनेवाला; दूसरा वह, जो भौतिक अनुभूति के परे है। किंतु भौतिकता से परे का सामर्थ्य रखनेवाले व्यक्ति बहुत ही थोड़ी संख्या में उत्पन्न होते हैं। उनके द्वारा ज्ञान का संचार भी बहुत ही थोड़े लोगों में हो पाता है, जिससे अधिक आशा नहीं की जा सकती। बड़े-बड़े अवतारों ने भी सबको इस ज्ञान से युक्त नहीं किया। वे इसके अधिकारी व्यक्ति को ही ज्ञान देते हैं। अतः दूसरे प्रकार का ज्ञान आवश्यक है। भौतिक जीवन में

से वह सामर्थ्य उत्पन्न करना, जिससे कभी प्रत्यक्ष दर्शन, कभी स्पर्श तथा कभी संघर्ष में से मानव-मात्र में स्थायी व्यवहार की भावना निर्माण की जा सके। अतः संसार में अपनी विशेषता प्रतिष्ठापित करने के लिए अपने राष्ट्र का जीवन वैभवशाली तथा सामर्थ्यशाली बनाना आवश्यक है।

विश्व-कल्याण का हिंदू विचार

जागतिक विचारधारा की पृष्ठभूमि में जब हम अपने कार्य का विचार करते हैं तो उसका स्थान स्थायी है। हमारी विचारधारा हिंदू है। हमें उसी का विकास करना है। हिंदू विशेषता को सुरक्षित रखने से ही विश्व का कल्याण होगा।

कई लोग पृथ्वी के भिन्न-भिन्न समाजों की जीवन-प्रणालियों को अपने यहाँ लादने की चेष्टा करते हैं। एक-दूसरे पर मढ़ने से काम नहीं चलेगा। यदि मनोरचना का विचार न करते हुए बलात् लादने का प्रयत्न हुआ तो भ्रम ही उत्पन्न होता है। स्वभाव का सहज विकास न कर कोई वस्तु जबरदस्ती थोपने से भ्रष्टता उत्पन्न होती है। इसके अनेक उदाहरण आज के जीवन में तो मिलते ही हैं, किंतु प्राचीन ग्रंथों में भी तपोभ्रष्ट ऋषियों का उल्लेख है। राष्ट्र के बारे में भी यही बात सत्य है। राष्ट्र भी एक जीवमान व्यक्तिसदृश इकाई है। जैसे व्यक्ति की प्रकृति के विरुद्ध दूसरी भावना का आरोप करना हानिकारक होता है, वैसे ही राष्ट्रजीवन में उसकी विशेषता को भुलाकर बलपूर्वक दूसरे भाव भरना व्यभिचार है। अतः जो अपने राष्ट्रजीवन को दूसरे ढाँचे में ढालना चाहते हैं, वे समाजजीवन के साथ प्रामाणिकता का व्यवहार नहीं करते।

हमारी प्रकृति क्या है? भौतिकता का परम विचार रखते हुए भी हमने उससे परे जो वस्तु है, उसका साक्षात्कार किया है और समाज को भी उसी दृष्टि से देखा है। उसी साक्षात्कार से हमें सुखलाभ होता है। उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक मुनष्य के गुण-अवगुण देखकर उसके लिए पृथक मार्ग की व्यवस्था करना जरूरी है। गुणों का आधार लेकर व्यक्ति का विकास किया ही जाता है, किंतु अवगुणों का विचार करते हुए भी मनुष्य को सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। एक साधु का पुत्र कुमार्गगामी तथा व्यभिचारी हो गया। उपदेश का उसपर कोई परिणाम नहीं होता था। उसका ध्यान ईश-चिंतन में नहीं लगता था। इसलिए साधु ने उससे कहा कि जो रूप उसे अत्यधिक प्रिय हो, उसी का जगज्जननी के

रूप में चिंतन करे। उसे उसकी प्रेयसी (वेश्या) के चरणों से लेकर कुंतलराशि तक का चिंतन करने के लिए कहा। इस रूप में जगन्माता का दर्शन करते ही उस पुत्र की कायापलट हो गई। इसलिए विकृति को भी सत्कृति में परिवर्तित करने का विचार लेकर चलें। किसी व्यक्ति का अवगुण भी किस प्रकार राष्ट्रोपकारक हो सकता है, यह ध्यान में रखें। सबका उपयोग हो और उन्हें विकास के लिए क्षेत्र मिले, इसके लिए अनंत मार्गों का निर्माण हो। सब व्यक्तियों में अपने-अपने मार्ग पर चलने की पात्रता उत्पन्न हो सके, इस विचार से ही हमारे समाज की रचना हुई है। उसे स्थायी रूप प्राप्त हो सके इसलिए शासनसत्ता का निर्माण किया गया।

शासन का स्वरूप

हमारे शासन का स्वरूप पंचायती था और उसकी मूल इकाई ग्राम थी। जन-मन की भावना को व्यक्त करनेवाले प्रतिनिधि पंचों को हमने परमेश्वर का ही रूप माना। पंच-परमेश्वर की कहावत इसका प्रमाण है। यह हमारी राज्य-रचना का अधिष्ठान है, जो नीचे से विकसित होता हुआ ऊपर तक चलना चाहिए। इस प्रकार के प्रतिनिधि समाज की प्रकृति व्यक्त करते हैं और जब वे एकत्र आते हैं तो राष्ट्र की प्रकृति का समष्टि रूप खड़ा हो जाता है। इस प्रकार के समूहों के, जिन्हें वर्ग, गिल्ड, सिंडिकेट या ट्रेड-यूनियन चाहे जो नाम दें, प्रतिनिधियों द्वारा बना हुआ केंद्रीय शासन ही वास्तव में सबके हितों की रक्षा और उनके वैशिष्ट्य के विकास में सहायक हो सकता है।

अपनी इस वैशिष्ट्यपूर्ण पद्धति को कार्यान्वित करने तथा सुचारु रूप से चलाने के लिए और इसमें ही विश्व का कल्याण है यह साबित करने के लिए एक स्वाभिमानपूर्ण, चैतन्यपूर्ण तथा बलसंपन्न, तेजस्वी राष्ट्र के निर्माण की आवश्यकता है। यह कार्य सर्वप्रथम करणीय तथा अंत तक करने का है। संगठन अपने कार्य का अधिष्ठान है, अर्थात् केवल नींव मात्र नहीं, अपितु आधारभूत होते हुए भी मूल से लेकर शिखर तक जो संपूर्ण में अनुस्यूत हो और जिसकी शक्ति से ही सबकी धारणा हो। भगवान को हमने जैसे विश्व का अधिष्ठान कहा, जो विश्व के आदि, मध्य तथा अंत में विद्यमान है और जिसकी शक्ति से ही संपूर्ण सृष्टि संस्थित है, वैसे ही हमारा संगठन समाजजीवन के सभी कार्यों का अधिष्ठान है। भिन्न गुण, प्रकृति होते हुए भी शरीर के साथ अवयव-अवयवी संबंध की भाँति

राष्ट्रपुरुष का हित-संवर्धन करते हुए सभी परस्परानुकूल, संघर्ष तथा स्पर्धाविहीन, स्नेहपूर्ण प्रवृत्ति से चलें, ऐसा चित्र हमें उत्पन्न करना है। उसके लिए अधिष्ठानभूत, सुसंबद्ध, सुसंगठित, तेजस्वी तथा अनुशासनयुक्त संगठन आवश्यक है, जो ऐहिक सामर्थ्य के बल पर शेष संसार से कह सके कि हमारे श्रेष्ठ पुरुष जो कहते हैं, वही मानो और यदि वह न माने तो उससे मनवा कर ही रहें।

३. समाज रचना

(११ मार्च १९५४)

विश्व में चलनेवाली अनेक विचारधाराओं के पीछे जो कोलाहल होता है, उसका कई बार अपने मन पर परिणाम होता दिखाई देता है। साधारणतः लोगों की यह पद्धति दिखाई देती कि वे अपनी विचार-प्रणाली के पीछे कुछ ऐतिहासिकता का आडंबर खड़ा करके उसकी अनिवार्यता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। सामान्य लोग यही विचार करते हैं कि यह जब अनिवार्य ही है, होने ही वाला है, तो उससे अलग रहकर अकारण हानि क्यों सही जाए, उसकी सहायता ही क्यों न की जाए। परंतु हमें स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए कि जिनके संबंध में अनिवार्यता का दावा किया जाता है, वे अनिवार्य हैं भी या नहीं।

दो विचार-प्रणालियाँ

आज विश्व में इस प्रकार की दो विचार-प्रणालियाँ प्रचलित हैं। प्रथम जनतंत्र का सहारा लेकर चल रही है। व्यक्ति की स्वतंत्रता का आधार लेकर, स्वतंत्रता, समानता और बंधुता की घोषणा करते हुए यह आंदोलन प्रारंभ हुआ। उस काल के निरंकुश शासन– जिसके अंतर्गत व्यक्ति अपना संपूर्ण स्वातंत्र्य खोकर पिसता जा रहा था– के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा और उसके विकास का प्रबंध करने के लिए ही इन आंदोलनों की सृष्टि हुई। किंतु कुछ तो औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप और कुछ वैसे ही यह दिखाई दिया कि इस प्रकार न तो पारस्परिक विषमता नष्ट हो पाई और न ही व्यक्ति की रक्षा संभव हो सकी। फलतः उसके समूहीकरण की प्रवृत्ति ट्रेड यूनियन के रूप में प्रकट हुई। मंगलकारी

राज्य (Welfare state) की कल्पना उसी प्रवृत्ति का परिणाम है। इस प्रकार मनुष्य के तथाकथित स्वतंत्र जीवन का उद्घोष करते-करते समूहीकरण (regimentation) की ओर बढ़ गए। सब लोग अपने सुख-दुःख मिलाकर चलें, सबकी प्राप्ति और दारिद्र्य को एक कर, जितना हो सके, मिलकर ही उपभोग करें– ऐसी भावना उत्पन्न होती जा रही है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य को अनिवार्य मानकर चलनेवाले उसे छोड़ते जा रहे हैं। स्पष्ट ही जनतंत्र ऐतिहासिक अनिवार्यता के रूप में सिद्ध नहीं होता।

दूसरी विचार-प्रणाली व्यक्ति-स्वातंत्र्य से उत्पन्न विषमता की प्रतिक्रिया के रूप में समूहवाद अथवा समाजवाद का आधार लेकर चली। उसका भी अनुभव आता जा रहा है कि समाजवाद में व्यक्ति की स्वतंत्रता को मर्यादित करने के कारण उसके विकास में बाधा पहुँचती है। अतः धीरे-धीरे वे व्यक्ति-स्वातंत्र्य की ओर बढ़ते जा रहे हैं। मनुष्य 'यह मेरा है' इस प्रकार कुछ चीजों के बारे में कह सके। अपनी संपत्ति तथा धन का उपभोग करने के लिए किसी सीमा तक स्वतंत्र हो, ऐसी व्यवस्था करने के लिए वे भी बाध्य हो रहे हैं। अतः यह समाजवाद भी अनिवार्य नहीं है। यदि वह अनिवार्य होता तो उससे पीछे हटने की आवश्यकता नहीं थी।

उपर्युक्त दोनों ही विचारधाराएँ अपने मूलाधारों को छोड़ने के लिए बाध्य हुईं और धीरे-धीरे वे एक-दूसरे (जिनकी प्रतिक्रिया में उनका जन्म हुआ) के निकट आती प्रतीत हो रही हैं। ऐतिहासिकता या अन्य किसी आधार पर अनिवार्यता तो उनकी है ही नहीं। प्रश्न उठता है कि फिर अनिवार्य समाज-रचना कौन-सी हो सकती है। यह व्यवस्था किसी प्रतिक्रिया पर नहीं, अपितु भावात्मक कल्पना एवं वास्तविकता पर आधारित होनी चाहिए। जहाँ तक समानता का प्रश्न है, हमारे शास्त्रकारों ने भी उसकी सराहना की है, किंतु वह स्थिति आज तो दिखाई नहीं देती और न ही निकट भविष्य में सहज ही उत्पन्न हो सकेगी। कलियुग, जिसके चार लाख उन्तीस हजार वर्ष बाकी हैं, के पश्चात् ऐसा वर्ण उपस्थित होगा, जिसको 'हंस-वर्ण' कहा गया है। जो ज्ञान-अज्ञान का ठीक विवेक कर सके, अपने जीवन के सूक्ष्म और स्थूल नियम जानता हो, सृष्टि और मानव के परस्पर व्यवहार को समझते हुए सृष्टि-निर्माता का प्रत्यक्ष अनुभव करता हो। धर्म का पूर्ण ज्ञान एवं व्यवहार होने के कारण इस विकसित समाज-च्यवस्था में शासन की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। किंतु इतनी समुन्नत अवस्था आज तो सुरम्य कल्पना ही लगती है। फिर यह स्थिति भी सदैव टिक सकेगी– ऐसा शास्त्रकारों का मत नहीं है। उसमें विकृति आएगी और फिर

उसके लिए विभिन्न व्यवस्थाएँ निर्माण करना आवश्यक होगा। अतः मनुष्य के सामान्य व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए, उसकी क्या व्यवस्था होगी इसका विचार हम करेंगे।

व्यक्ति-स्वातंत्र्य और समूहीकरण का सामंजस्य

समाज एक जीवमान इकाई है। मानव जीवसृष्टि का सबसे अधिक विकसित रूप है। हमारे धर्म में ही नहीं, तो अन्य धर्मों में भी मनुष्य को भगवान का स्वरूप कहा गया है। उसकी शरीर-रचना जीव के विकास का सर्वोत्तम रूप है। इसलिए यदि किसी जीवमान समाज स्वरूप की रचना करनी हो तो वह उसके ही अनुरूप होनी चाहिए। नगर-रचना के आधुनिक तज्ञ तो नगर निर्माण भी इसी के अनुरूप करना चाहते हैं। समाजजीवन की रचना भी यदि जीवमान मानव के अनुरूप ही की, तो वह भी निसर्ग के अनुकूल होने के कारण अधिक उपयुक्त होगी। मनुष्य के अवयव समान तो नहीं होते, किंतु परस्परानुकूल रहते हैं। वे अपने-अपने स्थान पर अपने योग्य कर्तव्य का निर्वाह करते रहते हैं। अतः समाज की ऐसी रचना ही अधिक टिकाऊ होगी जहाँ समान गुण एवं समान अंतःकरणवाले एकत्र आकर विकास करते हुए जीवन-यापन करने के जिस मार्ग से अधिक समाजोपयोगी सिद्ध हों सकें, उसके अनुसार चल सकें। साथ ही एकाध समूह ऐसा भी चाहिए, जो संपूर्ण समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने की पात्रता उत्पन्न कर उनके पारस्परिक संबंधों को ठीक बनाए रखता हो। शरीर के अवयवों की भाँति समाजरूपी जीवमान इकाई के अंगों की आवश्यकता समझता हो, परंतु स्वयं अपनी कोई आवश्यकता न रखता हो। ऐसा समूह ही सबको एक सूत्र में चलाने की पात्रता रख सकता है।

एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी व्यक्ति में समानता भी रहती है। हमें इन दोनों गुणों का इस प्रकार सामंजस्य करना होगा कि उसके व्यक्तित्व का विकास तो हो, किंतु वह विकास उसके सामूहिक जीवन का हितविरोधी न बने। वैसे ही समानताजन्य एकीकरण, व्यक्ति की विशेषताओं के विकास का मार्ग प्रशस्त करें, उसके विनाश का कारण न बने। अतः समान गुणधर्मवाले व्यक्तियों के समूह बनाकर समूह के रूप में उन्हें स्वतंत्रता दी जाए, जिससे वे समाज की भलाई के लिए प्रयत्नशील हो। किंतु प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह भी आवश्यक हो कि वह समूह के नाते ही खड़ा हो। यह व्यवस्था चाहे मानव की अंतिम अवस्था हो या सीढ़ी, किंतु यही यथार्थ है। अखिल मानव को इस पद्धति का पालन करना होगा। दुनिया के लोगों

ने जो प्रयोग किए हैं, वे भी धीरे-धीरे व्यक्ति-स्वातंत्र्य और सामूहीकरण के सामंजस्य की आवयश्कता का अनुभव करने लगे हैं। वैज्ञानिक आधार पर इससे उत्कृष्ट सामंजस्य की व्यवस्था और कोई नहीं हो सकती।

इस प्रकार विचार करने पर, मानव-समाज को सुखी रखने के लिए अपनी वर्णव्यवस्था सर्वोकृष्ट प्रतीत होती है, किंतु आज जातिवाद (Casteism) कहकर इसका उपहास किया जाता है। कई बार इसे 'व्यवस्था' न कहकर भेद समझने लगते हैं। इसमें ऊँच-नीच का जो भाव आ गया है, वह भी ठीक नहीं है। वास्तव में इस प्रकार कर्मों की भिन्नता न तो समाज के भिन्न-भिन्न लोगों में किसी भेद की सृष्टि करती है और न ही किसी को छोटा-बड़ा या ऊँच-नीच बनाती है। गीता में तो कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने नियोजित कर्म को करता है, वह उसी के द्वारा परमात्मा की उपासना करता है–

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धं लभते नरः। (गीता १८-४५)
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। (गीता १८-४५)

यदि ज्ञान-दान से ब्राह्मण श्रेष्ठ बनता है, तो क्षत्रिय शत्रु-संहार कर उतना ही श्रेष्ठ है। वैश्य, जो कृषि-व्यवसाय करते हुए समाज का पोषण करता है तथा शूद्र, जो अपनी शिल्पकुशलता एवं श्रम से समाज की सेवा करता है, श्रेष्ठत्व में किसी से कम नहीं माने गए। सब एक समाजपुरुष के अंग के रूप में परस्परानुकूल चलें, समाज रचना करनेवाले हमारे चिंतकों का यही भाव है। फिर भी यह पृथकता की भावना कैसे आ गई, यह आश्चर्य की बात है। हमारे यहाँ तो इस भाव को व्यक्त करनेवाला शब्द भी नहीं है। ईसाई या मुस्लिम समुदायों ने यह अवश्य कहा है कि जो हमारे मत पर विश्वास नहीं करेगा, उसे स्वर्ग में स्थान नहीं मिलेगा। परंतु हमने इस प्रकार की पृथकता का कभी विचार भी नहीं किया। अतः आज जो ऊँच-नीच तथा भेद का भाव प्रसृत किया जा रहा है, अपनी वर्णव्यवस्था के परिणाम नहीं है, अपितु उस व्यवस्था के आधारभूत जीवन-सिद्धांतों के विस्मरण के कारण उसमें उत्पन्न घोर विकृति है। हमें इसे दूर करना होगा।

व्यावहारिक व्यवस्था

अब प्रश्न उठता है कि समाज को ठीक प्रकार से चलाने के लिए क्या व्यवस्था हो? हमारे यहाँ शासनविहीन अवस्था की कल्पना तो है, किंतु

वह तो तभी संभव होगी जब सभी लोग हंस-वर्ण हों। अतः आज उसका विचार करने की आवश्यकता नहीं। यदि समाज का आधारभूत ढाँचा (frame-work) दृढ़ है, मजबूत है तो राज्यतंत्र से लेकर जनतंत्र तक सभी पद्धतियाँ चल सकती हैं। उनमें से कोई भी अपने समाज-जीवन के ढाँचे को डिगा नहीं सकेगी, यदि प्रत्येक समूह स्वयंशासित रहे और इन स्वयंशासित समूहों के प्रतिनिधियों द्वारा शासन चले। शासन का मूलाधार ग्राम की पंचायत मानी गई है, जिसमें सब समूहों का प्रतिनिधित्व रहता है तथा प्रत्येक प्रतिनिधि अपने-अपने उद्योग की कठिनाइयाँ तथा आवश्यकताओं से प्रत्यक्ष रूप से परिचित रहता है। पारस्परिक संबंधों को ठीक रखने की आवश्यकता भी वे अनुभव करते हैं। पंचायत इस कार्य की पूर्ति भी करती है। आगे ऊपर तक भी इसी पद्धति का विकास होना चाहिए। ऐसे ही, क्षेत्रों से भी प्रतिनिधि आएँ और उनकी प्रतिनिधि सभा; तथा ऐसी ही बड़ी प्रतिनिधि सभा; इस प्रकार शासन की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। यही संक्षेप में कहने योग्य सूत्र है। उक्त व्यवस्था में इस बात का ध्यान रखा गया है कि अपने यहाँ का वैशिष्ट्यपूर्ण जनजीवन नष्ट न हो जाए।

भाषिक राज्यों का प्रश्न भी इससे जुड़ा हुआ है। समूहों के गुण-वैशिष्ट्यों की रक्षा करनी चाहिए तथा भाषिक राज्यों की माँग के विरोध की बात में लोगों को कुछ विरोधाभास दिखाई दे सकता है। पूर्वकाल में तो इतनी भाषाएँ नहीं थीं, ये तो बाद में विकसित हुई हैं। मात्र भाषा के आधार पर की हुई रचना कृत्रिम होगी। संपूर्ण देश की एक इकाई की कल्पना सामने रखकर उसके अनुरूप शासन की व्यवस्था करनी चाहिए।

अखंड मंडलाकार सृष्टि

हमारे शास्त्रकारों ने सृष्टि का स्वरूप मंडलाकार माना है। इसलिए प्रारंभ से लेकर क्रमशः वर्धमान होनेवाले मंडल बनते जाते हैं। प्रत्येक मंडल की अपनी विशेषता को बनाए रखते हुए उसका, उससे विस्तृत अगले मंडल के साथ और इस प्रकार संपूर्ण सृष्टि के साथ तादात्म्य प्रस्थापित करते हुए, शासन का विकास होना चाहिए। ग्रामों को केंद्र मानकर आसपास के ग्रामों के मंडल बनाते हुए, उन मंडलों का विकास करते हुए, भौगोलिक या व्यावसायिक संपर्क से एक विशिष्टता सर्वसाधारण रूप से निर्माण होने के कारण आदान-प्रदान की समान परिभाषा जिनमें उत्पन्न हुई है, ऐसे बड़े मंडल बनने चाहिए। इस प्रकार के विकास में यदि भाषिक प्रांत आ जाए, तो कोई आपत्ति नहीं। इस प्रकार विकसित होनेवाले स्वरूप

को यदि हम अपने सम्मुख रखेंगे, तो आज की विघटनकारी प्रवृत्तियों के स्थान पर एकात्मता की भावना की वृद्धि होगी और इससे हमारा झुकाव केंद्र की ओर होगा। यदि कुछ विकेंद्रीकरण हुआ भी तो वह केंद्र के टुकड़े करने के लिए न होकर अपने विशिष्ट गुणधर्मों का विकास करते हुए केंद्र को बलवान बनाने के लिए ही होगा। इस व्यवस्था में शासन का स्वरूप कैसा भी रहे, कोई अड़चन उत्पन्न नहीं होगी।

हमारा दायित्व

इस प्रकार विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानसशास्त्र के अनुकूल यदि कोई शासन व्यवस्था हो सकती है, तो वह हमारे ही पास है। संसार के चिंतक धीरे-धीरे इस ओर आ रहे हैं। अंततोगत्वा उन्हें इसे स्वीकार करना ही होगा। यदि यह निकट भविष्य में होने ही वाला है तो जो ज्ञान हमारे पास है, उस ज्ञान को हम अपने जीवन में चरितार्थ करते हुए संसार में उत्कृष्ट शासित समाज जीवन का उदाहरण प्रस्तुत करें। अपने स्वाभिमान से तथा इधर-उधर से मिलनेवाले संस्कारों से अपने को विचलित न करते हुए, संसार के समक्ष एक जीते-जागते प्रबल समाजजीवन का तथा उत्कृष्ट शासन व्यवस्था का आदर्श खड़ा करें। तभी संसार को भी अपनी इस रचना के मार्ग पर चलाने में हम समर्थ हो सकेंगे। ऐसा प्रयास हमें करना भी चाहिए।

इसके लिए आवश्यक है राष्ट्रीय स्वाभिमान, सुसंगठित सामर्थ्य तथा अनुशासित समाजजीवन। इसी पर धर्म का संरक्षण, व संवर्धन, समाज की शक्ति, स्वाभिमान और एक चैतन्य से अनुप्राणित समाजजीवन निर्भर है। अपने पास अत्यंत उत्कृष्ट रचना होते हुए भी और अपनी अत्यंत उन्नत अवस्था होने के पश्चात् भी, अपना स्वाभिमान हम खो बैठे। परस्पर एक-दूसरे के प्रति अलगाव, छुआछूत आदि की वृत्ति, विकृति के रूप में आने से हमारा संगठित व समर्थ जीवन नष्ट हो गया। आज तो ऐसी स्वाभिमानशून्यता आ गई है कि हम अपना सब कुछ निरर्थक समझकर उसे गाड़ देने पर तुले हुए हैं। विभ्रम में दूसरों का अनुकरण करने लगे हैं।

मानव को, सही अर्थ में मानव रखने के लिए जो रचना हमारे पूर्वजों ने दी, उस रचना के पुनर्निर्माण, पुनःर्स्थापना व चिरंजीवी रूप से उसे कार्यान्वित करने की पात्रता तभी अपने अंदर आ सकती है, जब हम अपने स्वाभिमान की अटल नींव पर खड़े होकर यह अनुभव करें कि हम

सभी के जीवन में प्रेरणा देनेवाला एक ही हिंदू-चेतना का सूत्र है और सब मिलकर एक सुसंबद्ध शक्ति के रूप में खड़े रहें। अपनी परस्पर अनुकूलता, स्नेह, आकर्षण तथा एक-दूसरे के सुख-दुःख को अनुभव करने की पात्रता, अपने अंतःकरण में सदा-सर्वदा जागरूक व जागृत रखें। समस्त मानव को वह सुख प्राप्त कराने की दृष्टि से ही अपने इस समाज की व्यवस्था का निर्माण करना अपना एक आवश्यक अनिवार्य कर्तव्य है। यही उत्कृष्टतम स्वरूप हो सकता है, यह दृढ़ भाव सबके अंतःकरण में जागृत रहे। सबका एक राष्ट्रजीवन है, एक ही चैतन्यपूर्ण समाज-पुरुष के सभी अंगोपांग हैं, इस प्रकार की जागृति, अनुभूति, परस्परानुकूल स्नेहमय सुसंबद्ध जीवन सबके अंदर विद्यमान एक ही चित्शक्ति के आधारपर हमारा एकात्म, संगठित समाज-जीवन ही श्रेष्ठ है– यह स्वाभिमानपूर्वक कहने का सामर्थ्य तथा विश्वास रहे। हम इसको सुचारु रूप से संपन्न कर जगत् के संपूर्ण मानव को इसे ग्रहण करने के लिए तैयार करेंगे, यह विचार-सूत्र अनुस्यूत रूप से अपने सब विचार-विमर्श हैं, ऐसा हम समझें। फिर अपने संघकार्य के बारे में इधर-उधर की शंका करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

४. आत्मविस्मृति

(११ मार्च १९५४)

जागतिक पृष्ठभूमि में अपना कार्य और अपनी विचारधारा के संबंध में हमने अभी तक विवेचन किया है। जो कुछ कहा है, वह पूर्ण चित्र तो नहीं कहा जा सकता, किंतु मोटे तौर पर एक रूपरेखा रखी है। उसमें भिन्न-भिन्न रंग भरकर कई प्रकार के चित्र निर्माण किए जा सकते हैं। यदि उनमें अनुस्यूत सूत्र अपनी विशिष्ट विचारधारा का ही रहा और मानवी जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करनेवाली सामज- रचना को अभंग रखा गया, तो जो भी चित्र प्रस्तुत किया जाएगा, उससे मानव मात्र का लाभ ही होगा। परंतु दुनिया के इन सब विचारों की तुलना में हमारे लिए अधिक महत्त्वपूर्ण अपने देश का विचार है।

यह हमारा देश है। यह हमारा अपना समाज है। इसकी आज क्या दशा है? क्या वह ठीक है? यदि नहीं तो उसे ठीक करना चाहिए। प्रमुखता से यही विचार सम्मुख रखकर हम चलें। हमारे लिए यही उपयुक्त होगा।

तनिक इतिहास का अवलोकन करें और उसके परिप्रेक्ष्य में देखें कि हमारी भूमि, समाज और राष्ट्र का आज क्या स्वरूप है। पूर्वकाल का जो चित्र सम्मुख आता है, उसके अनुसार हमारी भूमि अत्यंत विशाल थी। हिमालय हमारी सीमा का निदर्शक नहीं, अपितु मध्य से थोड़ा उत्तर में अवस्थित था। त्रिविष्टप और गांधार ही नहीं, वायव्य के अनेक भूखंडों का अंतर्भाव हमारी सीमा में होता था। भारत के चारों ओर अवस्थित हमारे पवित्र स्थानों में से एक कश्मीर की उत्तर सीमा पर था, जो हमारी तत्कालीन सीमाओं की विशालता का निदर्शक है। इस प्रागेतिहासिक काल के पश्चात् की स्थिति का भी हम अवलोकन करें, तो भी हिमालय, उसके दोनों ओर की पर्वत श्रेणियाँ तथा तीनों ओर महासमुद्र से घिरा हुआ यह देश और प्रमुख भूभाग एवं सागर स्थित द्वीप भी हमारे अपने देश के चित्र में आते हैं।

इस विशाल पृष्ठभूमि में आज के स्वतंत्र भारत का दृश्य हम अपने सम्मुख रखें। जिस पवित्र सिंधु के किनारे वेदों की रचना हुई, वह हमारा पावन जलप्रवाह क्या आज भारत में है? हमारी सीमाएँ छोटी हो गईं। क्या यही चित्र है, जिसे देखने के लिए हमने वर्षानुवर्ष प्रयत्न किया? अपने हृदय में जिसे बसा कर निरंतर संघर्ष करते रहे, क्या यही वह दिव्य स्वरूप है? वर्तमान के इस चित्र में आज अपनी पावन भूमि को खंडित देखकर हृदय घोर व्यथा से भर जाता है।

कुछ लोग इसे स्थापित सत्य (settled fact) कहते हैं। यद्यपि दुनिया में कोई भी सत्य 'स्थापित सत्य' नहीं है। फिर भी यह घटित है, जिसका हमें विचार करना चाहिए। दुनिया की रीति-नीति कैसी हो, समाज रचना किस प्रकार की हो अथवा अर्थ का व्यवहार कैसा हो? इसका महत्त्व हमारी मातृभूमि के खंडित स्वरूप से उत्पन्न व्यथा के सम्मुख नगण्य है। उसे देखकर दुनिया की बात करने की फुरसत कहाँ? यह खंडित अवस्था देखकर भी जो दुनिया की बात करता है, उसमें मातृभूमि के प्रति श्रद्धा, परंपरा के प्रति आदर तथा अपनेपन के प्रति स्वाभिमान कहाँ है? हम जीवित हैं, फिर भी यह खंडित स्वरूप बना रहे– यह कैसे हो सकता है? यह व्यथा और इसकी चोट बनी रहती है तब काम के लिए और कौन-सी प्रेरणा चाहिए?

हिंदू समाज के ह्रास का कारण

हम दूसरी ओर भी देखें। एक हजार वर्ष पूर्व यहाँ हिंदू के

अतिरिक्त किसी दूसरे का नाम तक नहीं था। अनेक पंथ, संप्रदाय, भाषाएँ, जातियाँ, राज्य रहे हों, किंतु सब हिंदू ही थे। शक, हूण, ग्रीक आदि आए, किंतु उन्हें हिंदू बनना पड़ा। वे हमें भ्रष्ट करने में असफल रहे। बल्कि हमने ही उन्हें पूर्णरूपेण आत्मसात कर लिया। किंतु आज स्थिति क्या है? क्या भारत में सब हिंदू हैं, अन्य कोई नहीं और यदि हैं तो क्या वे हजम होंगे? ऐसी स्थिति नहीं है। पहले जहाँ सब ओर हिंदू ही थे, वहाँ आज हमारे ही अंग-प्रत्यंग को खाकर हममें से ही अपना प्रसार करनेवाले कई कोटि अहिंदू हैं। इस दृष्टि से हिंदू समाज का ह्रास क्या हमारी आँखों के सामने है? हमें इसे भूलना नहीं चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण के गुरु के पुत्र को जब कोई दैत्य ले गया, तो वे समुद्र मथकर तथा समस्त सागरवासियों को आतंकित कर उसे वापस लाए। जब हमारी यह धारणा थी कि किसी को बाहर न जाने दें, तभी बाहर के व्यक्ति हजम हुए, किंतु आज हमारा ह्रास हुआ है। यह हमारे समाज का अपमान है।

लोग कहते हैं कि भगवान का स्मरण किसी भी रूप में करें, इसलिए धर्मांतरण हुआ तो ऐसी क्या आपत्ति की बात है? यदि यह भगवान के स्मरण के लिए होता, तो मैं कुछ नहीं कहता, परंतु भगवान के स्मरण के लिए कोई हिंदू धर्म छोड़कर तभी जाएगा, जब उसका दिमाग खराब हो गया हो। वह तो विकृति के कारण जाता है। यह विकृति भय से, प्राणों पर संकट आने पर या व्यामोह के कारण मूढ़ता से ही उत्पन्न हो सकती है।

ये लोग हमसे अलग हुए– उसके भी दो कारण हैं। एक आक्रमणकारियों ने उन्हें घसीटा और अपने घसीटे जाने पर रंज न मानते हुए उन्होंने उनके साथ मिलने में धन्यता मानी। उन्होंने आक्रमणकारियों के नाम, कुल आदि स्वीकार कर उनके साथ नाता जोड़ लिया। दूसरा कारण लोगों को अपना बनाए रखने की हमारी पात्रता नहीं रही। अनेकों हमारे यहाँ से चले गए और हमने कुछ नहीं किया। यह आक्रमण की सफलता का चित्र देखकर दुःख होता है या नहीं? हृदय में चोट लगती है या नहीं? यदि संवेदना है तो इसकी व्यथा अवश्य होनी चाहिए। उसके निराकरण के लिए खड़ा होना होगा। भूमि तथा समाज का यह भयंकर ह्रास समाज-कार्य के लिए चेतना उत्पन्न करने को पर्याप्त नहीं है? यदि यह प्रेरणा नहीं दे सकता तो कोई बात प्रेरणा नहीं देगी। मुख्य प्रेरणा के लिए यही पर्याप्त है।

तीसरी बात, भारत में बचे हुए हिंदू कैसे रहते हैं– इसका विचार करें। वे आज भयभीत हैं। अपने को हिंदू कहने की उनमें हिम्मत नहीं है।

यह देश अपना है, धर्म हमारा है, परंपरा अपनी है, यह कहने का भी साहस नहीं है। कहने में ग्लानि होती है। अपनी अवज्ञा करने का दुष्ट भाव उत्पन्न हो गया है। क्या यह दुर्दशा हमें खलती नहीं? पहले इसे हम दूर कर लें, फिर बाकी बातें देखेंगे। लोग कहते हैं कि पहले पेट, फिर भगवान। हम कहते हैं कि पहले हिंदू समाज को ठीक कर लें, फिर बाद में देखा जाएगा। हमें तो कार्य की प्रेरणा के लिए यही पर्याप्त है।

हमारे इस भयंकर ह्रास का कारण इतिहास बताता है। हमने समाज को जीवमान शरीर के समान एक सूत्र में नहीं रखा। इसलिए दुर्बल व्यक्ति के सर के बाल के समान वह सब झड़ गए। इस ह्रास के चार कारण बताए जाते हैं– अज्ञान, दरिद्रता, अन्य मतावलंबियों के अथक प्रयत्न तथा हमारे समाज में एकात्मता की कमी। इन सबमें अंतिम कारण ही प्रमुख है। यदि चारों ओर स्नेह का वातावरण रहा, तो अज्ञान में भी व्यक्ति पराया नहीं होता। आत्मीयता से दुःख को बाँटने के लिए तैयार रहे तो दारिद्र्य नहीं सताता। जब अपनी पकड़ दृढ़ हो तो अन्य लोग कितने भी प्रयत्न करें, वे सफल नहीं हो पाते। आज अपने समाज में चलनेवाले कतिपय कार्यों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो पता चलता है कि नगरों से अनेक लोग सेवाकार्य करने तो जाते हैं, किंतु उनमें उपकार की भावना ही अधिक रहती है, आत्मीयता की नहीं। उपकार की भावना से वास्तविक काम नहीं होता, आत्मीयता चाहिए। बाहरवाले यदि आत्मीयता का ढोंग रचकर काम कर सकते हैं, तब सच्ची आत्मीयता तो बहुत काम करेगी। समाज की सुव्यवस्थित अवस्था ही अज्ञान तथा अभाव का निराकरण करने में समर्थ है। अतः एकसूत्र, स्नेहसंपन्न, एक-दूसरे के सुख-दुःख को समझकर प्रत्येक के साथ स्नेह तथा आत्मीयता का भाव लेकर चलनेवाले लोग एक संस्कार ग्रहण कर कंधे से कंधा मिलाकर खड़े हों, यही हमारा काम है। संघकार्य को इस पहलू से सोचें। समाज के ह्रास पर सर्वश्रेष्ठ औषध समाज का सुसूत्र स्नेहपूर्ण संगठन ही है। इसी से जो अज्ञान पथभ्रष्ट करता है, न रहेगा। हिंदू जीवन के सच्चे संस्कार उत्पन्न होने से अपने समाज से अलग होकर आक्रामकों के साथ मिलने की अज्ञानजन्य भावना दूर होगी।

शक्ति कम पड़ी

संघ के आरंभकाल में इतनी ही प्रेरणा पर्याप्त थी। समाज को कोई भग्न न कर सके– ऐसा एकसूत्र जीवन निर्माण करना आवश्यक था। आज

भी उतनी ही प्रेरणा पर्याप्त होनी चाहिए।

हम दूसरी दृष्टि से विचार करें। हमारी भूमि का आकुंचन क्यों हुआ? कारण, हम भूमि की मर्यादाओं को सँभालकर न रख सके। हमारी शक्ति कम पड़ी। इसे हमें ईमानदारी से मानना चाहिए। स्वतंत्रता पर जब लोग नाचते हैं, तब मैं सोचता हूँ कि क्या हम अपनी असमर्थता तथा पराक्रमशून्यता पर प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं? अपनी दुर्बलता पर लज्जा क्यों नहीं आती? अंग्रेज गया होगा, किंतु जिस मातृभूमि की स्वतंत्रता का हमने चिंतन किया था, वह कहाँ है? असम्यक् विचारवाला क्षुद्र हृदय भले ही उछल-कूद करे, पर विचारवान व्यक्ति के दिल में दर्द ही रह सकता है, आनंद नहीं। किंतु दर्द होने पर भी रोना उचित नहीं। हमें कारण का विचार कर, उसके निराकरण का प्रयत्न करना चाहिए। हमारी शक्ति कम पड़ी, उसे पूर्ण करना होगा।

शक्ति कम क्यों पड़ी? इस भूमि के पुत्र इस नाते रहनेवाले हम, स्वयं को भूलकर असंगठित रहे। केवल गर्जनाओं से काम नहीं चलेगा। शक्ति को पूर्ण करें। यही संजीवनी है। शक्ति का पुनर्जागरण कर उसका फिर से आह्वान करें। शक्ति के लिए संगठन चाहिए। संघकार्य के बारे में इस दृष्टि से विचार करें। हमें इस घोर अपमान को, कलंक को धोना ही होगा। दौर्बल्य को दूर कर सच्चे अर्थ में प्रभावी सामर्थ्य का निर्माण करें।

दौर्बल्य दो प्रकार का है– एक समाज-रचना का विशृंखलन तथा असंगठन और दूसरा आत्मविस्मृति। अपना स्वरूप क्या है? हम कौन हैं? इस भूमि से हमारा क्या नाता है? किसमें यह विशृंखलता उत्पन्न हुई है? देश खंडित होने से किसे दुःख होता है? इसका सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। अपनी आत्मा का साक्षात्कार, अपनेपन का अभिमान और अपनी दुर्बलता को दूर कर संगठित सामर्थ्य उत्पन्न करने का दृढ़ निश्चय चाहिए। इसका मूल कारण अज्ञान है। गत पचास वर्षों में आत्मविस्मृति अधिकाधिक मात्रा में चारों ओर फैली है। जब तक आत्मविस्मृति है, तब तक समर्थ, सुसंगठित जीवन संभव नहीं होगा।

समाज के नाम से देश का नाम

हम हिंदू हैं। प्राचीन काल से हिंदुस्थान में रहते आए हैं। हमारा महाविशाल समाज है। इसमें विभिन्नताएँ होंगी, किंतु हम सब एक हैं। पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक यह हमारा देश है। इस देश और

समाज से हमारी श्रद्धा संबद्ध है। लोग हिंदू की व्याख्या पूछते हैं। मैं तो कहूँगा हम हिंदू हैं और हम जिसे कहेंगे, वह हिंदू है। जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य के समान हमें भी शंख फूँककर कहना होगा कि जिसके कान में शंखध्वनि पड़ी, वह हिंदू हो गया। आज तो हम इतना ही जानते हैं कि हम हिंदू हैं। हमारी समान श्रद्धाएँ हैं, परंपराएँ हैं, श्रेष्ठ महापुरुषों के जीवन-आदर्श हैं। मैं हिंदू हूँ– इस स्वाभिमान से मनुष्य खड़ा रहे, यह लोगों को सिखाने की आवश्यकता है। आज तो लोग अपने को हिंदू कहने के लिए तैयार नहीं हैं। भिन्न-भिन्न संप्रदाय जो विशाल हिंदू समाज के ही अंग हैं, राजनीतिक विशेषाधिकारों के मोह में अपने को उससे अलग कर छोटी-मोटी जमात के रूप में खड़ा होना चाहते हैं। जैन, सिख आदि सब इस प्रकार का विचार करते दिखाई देते हैं। राजनीतिक कामों में भी यही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। हिंदू के स्थान पर Indian आदि कहते हैं। अंग्रेजों ने 'Indus' से हिंदुस्थान को India नाम दिया और उससे Indian शब्द बनाया। वास्तव में तो समाज के नाम से देश का नाम होता है, न कि देश के नाम से वहाँ के वासियों का नाम।

इंग्लैंड का नामकरण भी वहाँ आकर बसनेवाली Angles जाति के नाम पर हुआ। हम हिंदू हैं अतः हमारा देश हिंदुस्थान है। अंग्रेजों ने Indian नाम चाहे शब्द-उच्चारण की कठिनाई अथवा अन्य कारणों से दिया हो, किंतु आज लोगों ने उसे ही मान लिया है। कारण, हिंदू स्मृति नहीं, कहने का साहस नहीं। योग्य ज्ञान यही है कि हम हिंदू हैं और इसी का पुनर्जागरण करना होगा। हिंदू समाज के अंदर भिन्न-भिन्न पंथ, संप्रदाय तथा पक्ष, भिन्न-भिन्न इच्छा, प्रवृत्ति, गुण आदि के अनुसार समाजसेवा के विभिन्न मार्ग हैं, पर वे समाज से बाहर नहीं हैं।

आत्मग्लानि से मुक्त हों

हमें हिंदू कहने में ग्लानि क्यों होती है? दुर्बलता, वैगुण्य, एक हजार वर्ष का पराभूत जीवन तथा अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में भी दूसरों के बिना हमारा काम नहीं चलेगा, यह भावना हमारी ग्लानि के कारण हैं। हम अपने इतिहास को भी सही दृष्टि से देखें। हमारा इतिहास पराभव का इतिहास नहीं, संघर्ष का है। ऐसा कोई काल नहीं है, जब किसी भी विदेशी शक्ति ने एकछत्र साम्राज्य निर्माण किया हो और हमने उसे स्वीकार कर लिया हो। अनेक मुसलमान बादशाह भारत के एक कोने में राज्य करते रहे

तथा शेष भारत में हिंदू राज्य होते हुए भी हम यह क्यों कहें कि भारत यवनों के अधीन था? औरंगजेब के काल में भी उसकी छाती पर पैर रखकर छत्रसाल अपना स्वतंत्र राज्य चलाता रहा। आज के इतिहास ने छत्रसाल को भुलाया और औरंगजेब को हमारे सामने रखा। उत्तर और दक्षिण दोनों ही ओर से हिंदू शक्तियों के प्रबल तथा सफल होने वाले प्रयत्न हमारे सम्मुख हैं। अंग्रेजों के काल में सन् १८५७ से ही हम उनके विरुद्ध भिन्न-भिन्न प्रकार से संघर्ष करते रहे। अंत में हमें सफलता भी मिली और उन्हें देश छोड़कर जाना पड़ा। प्रत्यक्ष हमारे सामने खड़े रहें– ऐसी उनकी हिम्मत नहीं रही। उनका जो कुछ भी प्रभाव बचा है, वह हम खत्म करेंगे। अतः हमारा इतिहास पराभव का नहीं, सतत संघर्ष का है। जो कोई आक्रमणकारी बाहर से यहाँ आया, हमने उसे मार भगाया। यदि आगे भी कोई आने का विचार करे तो उसे घरवालों से विदा लेकर आना चाहिए।

अतः आत्मविस्मरण और आत्मग्लानि को दूर करना चाहिए। हम इस मातृभूमि के पुत्र हैं। उसके दुःख से दुःखित हैं और उसे दूर करने का हमारा दायित्व है। इस दायित्व को समझकर और हृदय में उत्पन्न व्यथा से अपने समाज के अपमान और कलंक को दूर करने का दृढ़ निश्चय लेकर कार्य करें।

५. आत्म जागरण

(१२ मार्च १९५४)

अपने इतिहास का अवलोकन करने के पश्चात् हमें दिखाई दिया कि हमारी कितनी हानि हुई है। यह चित्र हृदय में अत्यंत उद्वेग उत्पन्न करनेवाला है। इसी इतिहास में हमें दूसरी बात भी मिलती है कि इस ह्रास के लिए अन्य कोई नहीं, हम स्वयं ही कारण हैं। यह बात कम शोकजनक नहीं है। यदि परकीयों ने अपने ही बल-पौरुष के आधार पर यहाँ अपना राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया होता, तो हममें इतना सामर्थ्य था कि दुनिया से उनका नाम ही मिटा देते। किंतु परकीयों के अल्पबल को सहारा हमारे ही ख्यातनाम तथा बलशाली पुरुषों ने राष्ट्रभावना को भुलाकर दिया और उनकी सहायता की। इस चित्र को देखकर यदि किसी के मन में यह विचार उठे कि वह भावना, जिसके कारण पिछले एक हजार वर्षों का दुःखद

इतिहास उत्पन्न हुआ, अब अपने समाज में नहीं रहनी चाहिए तो वही योग्य विचार है। यह विचार अपने यहाँ आया है। पिछले ५०-६० वर्षों में जागरण के जो अनेक प्रयत्न हुए हैं, उनका लक्ष्य अंग्रेजी राज्य को उखाड़कर अपना राज्य निर्माण करना मात्र था। इस कालावधि में जो विभिन्न कार्य हुए, उनकी प्रेरणा यह स्वाभाविक इच्छा मात्र थी कि अंग्रेजों को भारत से निकाल बाहर किया जाए। किंतु स्वराज्य और स्वतत्रंता आदि के जो लक्ष्य उद्घोषित किए गए, उनमें क्या अर्थ निहित थे– इसका न किसी के सामने चित्र था और न उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न ही किया गया। रामराज्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ, किंतु वह एक अर्थहीन शब्द के स्थान पर दूसरा अर्थहीन शब्द प्रयुक्त करने का प्रयत्नमात्र था, जिससे भ्रम नष्ट होने के स्थान पर उसकी वृद्धि ही हुई। स्वराज्य की स्पष्ट कल्पना तो दूर, अपितु उसके संबंध में विचित्र-विचित्र धारणाएँ थीं। सन् १९२१ के असहयोग आंदोलन के समय तिलक विद्यालय के आचार्य ने उसके छात्र द्वारा स्वराज्य का अर्थ पूछे जाने पर यही अर्थ बताया था कि 'आजकल हम सड़क के बाईं ओर चलते हैं, स्वराज्य आने पर दाईं ओर चलेंगे'। कहने का तात्पर्य यह कि स्वराज्य का कोई स्पष्ट चित्र सामने नहीं था। हाँ, सामान्य रूप से अंग्रेजी राज्य को दूर करने की ही भावना थी। अतः संपूर्ण कार्य की प्रेरणा का स्रोत यह विरोधात्मक भाव ही था।

पारतंत्र्य के मूल कारण

इसलिए केवल स्वतत्रंता-प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य बन गया। देश की सभी समस्याओं का कारण भी परतंत्रता ही बताया गया। दुःख, दरिद्रता, बेकारी, रोग, अवनति– सभी को दूर करने की एकमात्र औषधि स्वतंत्रता-प्राप्ति ही बताई गई। किसी ने यह देखने का प्रयत्न नहीं किया कि इसके पीछे और भी कोई कारण है। हम परतंत्र हुए ही क्यों? यह जानने का प्रयत्न भी नहीं किया गया। इतिहास तो हमें यही बताता है कि हम सदैव पराधीन नहीं रहे हैं, अपितु परतंत्रता के नाते जिस काल का वर्णन किया जाता है, उसमें भी न तो हम सभी ओर पूर्णरूपेण परतंत्र थे और न ऐसी अवस्था ही आई कि हम विजेताओं के आधिपत्य को मानकर चुप बैठ गए हों। हम बराबर उनके विरुद्ध संघर्षरत रहे। अतः स्वातंत्र्य की प्रबल लालसा रखते हुए भी हमें पारतंत्र्य के मूल कारण को खोजना चाहिए। हमारे यहाँ पारतंत्र्य क्यों आया? भगवान ने तो भेजा नहीं था। इतिहास भी यही बताता है कि विदेशियों ने अपने बल-पराक्रम से हमारे

ऊपर विजय नहीं पाई, अपितु हमारे समाज-बंधुओं ने ही उनकी सहायता की, जिससे वे यहाँ अपना राज्य स्थापित करने में सफल हुए। एक इतिहासकार ने तो लिखा है कि हिंदुस्थान के लोगों ने ही हिंदुस्थान जीतकर अंग्रेजों के हाथ में दे दिया था। इतना ही नहीं तो उनका राज्य निष्कंटक रूप से चलाने में हम ही शासनतंत्र के पुर्जे बने। छत्रपति शिवाजी ने राजा जयसिंह को लिखे पत्र में स्पष्ट कहा कि 'तेरे जैसे औरंगजेब की नौकरी करते हैं, इसलिए उसका सिंहासन टिका है। यदि तुम हाथ मिला लो तो औरंगजेब का ना तो रंग रहेगा, न जेब। उसकी सत्ता मिट्टी में मिल जाएगी।' पूरे कालखंड में यही बात अनुभव में आती है।

परकीय आक्रमणों के सहायक कारणों में से प्रथम कारण है- राष्ट्रजीवन की धारणा की शिथिलता। स्वार्थ के कारण हमने परस्पर संघर्ष ही नहीं किए, बल्कि सहायता के लिए परकीयों को बुलाने में भी संकोच नहीं किया। यह नहीं सोचा कि इस प्रकार हम अपनी मातृभूमि पर संकट ला रहे हैं। राष्ट्रभक्तिहीन, परस्पर संघर्षमय, असंगठित, छिन्न-विच्छिन्न जीवन इसका कारण है। यदि इस कारण को हमने दूर नहीं किया तो प्राप्त स्वतंत्रता कैसे टिकेगी? नीति वाक्य है कि रोग, अग्नि, शत्रु और ऋण शेष नहीं रहने देने चाहिए। राष्ट्र के रोग को जड़-मूल से उखाड़कर राष्ट्रशरीर को शुद्ध किए बिना कुछ तात्कालिक लाभ के कार्य करने से चिरस्वास्थ्य की प्राप्ति नहीं होगी। उदाहरणार्थ- अंग्रेजों को निकालने के लिए विभिन्न कल्पनाओंवाले लोगों के सामूहिक प्रयत्नों से कुछ काल तक प्रगति तो अवश्य दिखाई दी और अंग्रेजों ने भी कुछ इधर-उधर के सुधार करके एक ऐसा आभास निर्माण किया कि मानो हिंदुस्थान के लोग स्वराज-प्राप्ति के मार्ग पर लग गए हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति की यह संभावना दिखते ही विभिन्न समूहों की अपनी-अपनी आकांक्षाएँ भड़क उठीं। मुसलमान अपनी पुरानी बादशाहत के स्वप्न देखने लगे और सामूहिक प्रयत्नों से अलग हो गए। कट्टर हिंदुओं ने उसमें हिंदुत्व न देखकर अपना हाथ खींच लिया। शेष जो रह गए वे न हिंदू थे, न मुसलमान। अंग्रेजों ने भी अपनी नीति के अनुसार इन्हीं का बोलबाला बनाए रखने का प्रयत्न किया। स्वातंत्र्य-प्राप्ति के प्रयत्नों को ठंडा करने के लिए कई बार परकीयों की यह नीति होती है कि वे उग्र मतावलंबियों को दबाकर प्रखर राष्ट्रभक्तिशून्य एवं नरमदलीय लोगों को प्रोत्साहन देते हैं। उसी नीति का हमारे देश में भी अवलंबन किया गया। प्रखर राष्ट्रप्रेम तथा एकात्मभाव की पकड़ दृढ़ न होने के कारण उनकी यह चाल सफल हुई।

राष्ट्रीय भावना का अभाव

आज भी राष्ट्रभावना नहीं है। राष्ट्र की स्वतंत्रता का क्या अर्थ है, इसका ज्ञान नहीं है। राष्ट्र की नित्यप्रति उपासना का प्रयोग तो कहीं दिखाई नहीं देता। संस्कारों को सतत जागृत रखने का प्रयास भी नहीं होता। लोग पूछते हैं कि क्या अन्य राष्ट्रों में ऐसी उपासना का प्रबंध है? हम क्यों दिन-प्रतिदिन यह सोचते रहें कि यह मेरी मातृभूमि है, यह मेरा राष्ट्र है, यह मेरी परंपरा है? अन्य देशों में तो राष्ट्रभावना का संस्कार बराबर होता रहता है, किंतु हमारे यहाँ के स्कूलों में यदि चित्र भी मिलेंगे तो नेपोलियन आदि महापुरुषों के। ऐसे विद्यालय तो वास्तव में राष्ट्र के लिए शत्रु का ही काम करते हैं। अन्य देशों ने तो उनकी अत्यंत वैभवसंपन्न अवस्था उत्पन्न होने पर भी छोटी-छोटी पाठशालाओं से लेकर विश्वविद्यालयों तक राष्ट्रचेतना उत्पन्न करने के कार्य में खंड नहीं पड़ने दिया। हमारे यहाँ राष्ट्र की उपासना का प्रबंध तो दूर, कई लोग कहते हैं कि राष्ट्र की कल्पना ही छोड़ दो। यह देखकर तो कहना पड़ता है कि एक सहस्र वर्ष पूर्व जो दोष था, उसकी जड़ें वैसी ही कायम हैं। राष्ट्र के शुद्ध संस्कार जागृत नहीं हुए। उसके संबंध में भ्रम और अश्रद्धा अभी कायम है। इसका निराकरण करना ही होगा।

प्रश्न उठता है कि इसका निराकरण कैसे हो? पुस्तक-लेखन, समाचार-पत्र, प्रचार आदि से यह नहीं हो सकता। लोगों ने इस मार्ग का अवलंबन किया, किंतु परिणाम क्या हुआ? 'हिंदुत्व' पर बैरिस्टर सावरकर ने इतनी सुंदर पुस्तक लिखी, किंतु कितनों ने उसे पढ़ा, लाभ उठाया और पढ़कर पूर्वाग्रह से मुक्त होकर जीवन में अनुकूल भाव उत्पन्न किया? घटना तो यह बताती है कि इतने विशुद्ध राष्ट्रीय तत्त्वज्ञान का आधार लेकर भी हिंदू महासभा ने अपने नासिक अधिवेशन में यह प्रस्ताव स्वीकार किया– 'कांग्रेस अपनी विशुद्ध राष्ट्रीय भूमिका को छोड़कर मुस्लिम लीग से बात न करे, बल्कि वह काम हिंदू महासभा को करने दे', अर्थात् कांग्रेस की खिचड़ी राष्ट्रीयता तो विशुद्ध राष्ट्रीयता हो गई और घोर सांप्रदायिकता तथा राष्ट्रविरोध के आधार पर खड़ी हुई मुस्लिम लीग के समकक्ष हिंदू महासभा बन गई। यह विचित्र बात क्यों हुई? क्योंकि हृदय पर जैसे संस्कार चाहिए थे, वे नहीं थे। जिससे जागते-सोते, स्वप्न में भी यदि कोई पूछे कि तुम्हारा राष्ट्र क्या है, तो उत्तर यही मिले– 'हिंदू-राष्ट्र'। यदि संस्कार दृढ़ होंगे और उसपर अटल रहने का निश्चय होगा तो कभी भी

भ्रम उत्पन्न नहीं होगा। यही सत्य है, यह धारणा दृढ़ होगी तो मनुष्य परिस्थिति के झकोरों में फँसकर या राजनीति के चक्कर में आकर श्रद्धाहीन और असत्य बात नहीं बोलेगा। उसका तो यही निश्चय होगा कि यदि दुनिया भी विरुद्ध खड़ी हो जाएगी तो उसे सेवा तथा शक्ति से मनवाकर ही रहूँगा। इन संस्कारों को देने की योजना कहीं नहीं बनी। वह करनी होगी और अत्यंत आग्रहपूर्वक उसपर चलना होगा।

अब रही बात आपस में संघर्ष की। पूर्वकाल में स्वार्थवश, राज्यलोभ से, मानापमान के कारण संघर्ष होता था। आज तो उसके अनेक कारण हो गए हैं। सत्तालोलुपता आज भी विद्यमान है। संघ पर प्रतिबंध केवल इसी आशंका से लगाया कि कहीं यह लोकप्रिय बनकर सत्ता न हथिया ले। स्वार्थ का सर्वत्र बोलबाला है। बड़े-बड़े लोग भी इससे अछूते नहीं हैं। चरित्र का भी पतन हो गया है। चारित्रिक पतन के कारण राष्ट्रजीवन का विरोध करने की जो भावना उत्पन्न होती है, वह भी मौजूद है। नागाओं के प्रदेश में प्रधानमंत्री का अपमान होने पर ईसाइयों की राष्ट्रविरोधी कार्यवाहियों के विरुद्ध बहुत कुछ कहा गया, किंतु त्रावणकोर-कोचीन में चुनाव में ईसाइयों को खुश करने के लिए न केवल उनकी राष्ट्रविरोधी भावनाओं की ओर से आँखें मूँद लीं, अपितु उन्हें परोक्ष रूप से प्रोत्साहन ही दिया। इस सबका क्या अर्थ है? यदि इससे राष्ट्रहित-विरोधी भावना पूर्ण रूप से प्रकट न हो तो भी राष्ट्रविरोधी को 'तू राष्ट्रविरोध करता है'— यह कहने की हिम्मत न होने का राष्ट्रविरोध तो होता ही है।

सामाजिक बुराइयाँ

यह तो वे बुराइयाँ हैं, जो पहले भी थीं और आज भी विद्यमान हैं। किंतु आज तो नई-नई बुराइयाँ भी प्रकट हो गई हैं। यहाँ वर्ण एवं जाति-व्यवस्था है। इसमें कुछ विकृतियाँ आ गई हैं। ऊँच-नीच की भावना तथा छुआछूत आदि दोष इसी के कारण हैं। किंतु यह व्यवस्था न तो भेद का और न पारस्परिक संघर्ष का ही कारण हो सकती है। इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं, जब एक जाति ने दूसरी जाति पर आक्रमण किया हो, अथवा इस आधार पर राष्ट्रविरोधी भावना का परिचय दिया हो। इसके विपरित दिखता तो यही है कि पृथ्वीराज के विरुद्ध मोहम्मद गोरी को आमंत्रण देनेवाला जयचंद, महाराणा प्रताप के विरुद्ध अकबर के मन्सूबों को पूरा करने में सहायक मानसिंह, संभाजी को पकड़कर उनका वध

करानेवाला उनका मामा तथा पेशवाओं के शनिवार वाड़े पर लगे भगवा ध्वज को उतारकर उसकी जगह अंग्रेजों के यूनियन जैक को फहरानेवाला– सब उसी जाति के व्यक्ति थे। तो झगड़ा जाति–जाति के बीच नहीं, व्यक्ति–व्यक्ति के बीच था। जातियों ने तो कभी–कभी संपूर्ण राष्ट्र की कल्पना लेकर आचारधर्म के नियमों को भंग करके भी राष्ट्रीय एकात्मता का ही परिचय दिया। शिवाजी के आगरा से छूटने के पश्चात् साधुवेश में उनके संबंध में शंका हुई तो संभाजी के साथ ब्राह्मण ने भोजन करके राष्ट्र की आपत्ति बचाई। किंतु आज तो जाति के आधार पर पारस्परिक विरोध, यहाँ तक कि राष्ट्र के हितों की अवमानना की भावना चारों ओर दिखाई देती है। ऐसी नगरपालिकाओं के उदाहरण हैं, जहाँ हिंदू सदस्यों का बहुमत होते हुए भी एकमेव मुसलमान सदस्य इसी जाति–भेद का लाभ उठाकर अध्यक्ष बन बैठता है। नागपुर के ब्राह्मण, ब्राह्मणेतर विवाद के संबंध में आयोजित एक सभा में मुसलमान को भाषण देते हुए देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। आयोजकों से पूछने पर उन्होंने बताया कि मुसलमान भी तो ब्राह्मणेतर है। ब्राह्मण और अब्राह्मण यदि कोई भेद होगा भी तो वह हिंदू समाज का ही है। उस कारण मुसलमान को सिर पर बैठाने की क्या आवश्यकता है? सन् १९२७ के नागपुर दंगे में मुसलमानों ने इस भावना का लाभ उठाया। ब्राह्मणेतर यह समझते रहे कि मुसलमान तो ब्राह्मण को ही समाप्त करेंगे। किंतु दंगे के बाद उनकी आँखें खुलीं और उन्हें पता लगा कि मुसलमान केवल ब्राह्मणों का नहीं, वह तो हिंदुओं का विरोधी है।

इसी प्रकार संप्रदाय, पंथ, भाषा आदि का आधार लेकर भेदमूलक संघर्ष की भावनाएँ खड़ी हो गई हैं। पूर्वकाल में इतनी भाषाएँ भी नहीं थीं। तमिल को छोड़ा तो अन्य भाषाएँ एक हजार वर्ष से पुरानी नहीं हैं। बोलियों को भाषा बनाकर झगड़े करनेवाले लोग तब नहीं थे। हजार वर्ष पूर्व परकीय राज्य आने के लिए जो कारण थे, आज वे तथा अन्य कारण अधिक उग्र रूप में विद्यमान हैं। हमें इन सबका निराकरण करना होगा।

निराकरण का उपाय

यह निराकरण कैसे करें? शास्त्रों में बताया है कि किसी भाव का निराकरण करने के लिए उसके विपरीत भाव का संस्कार करते रहना चाहिए। यदि चारों ओर राष्ट्रभावविहीनता या राष्ट्रभक्ति–शून्यता का भाव है, तो हमें राष्ट्रभाव के चिंतन का संस्कार दिन–प्रतिदिन अंतःकरण पर

करना होगा। जिन कारणों को लेकर विच्छिन्नता उत्पन्न होती है, वे हमारे जीवन का आधार नहीं, अपितु हमारे जीवन का आधार तो आसेतुहिमालय मातृभूमि की एकता, उसके पुत्र के नाते रहनेवाले यच्चयावत् हिंदू समाज और विविध पंथ, संप्रदाय, भाषा, आदि की विविधताओं के होते हुए भी एक ही परंपराओं से पुष्ट इस समाज का एकरस जीवन है। हमें निरंतर इसके संस्कार देते जाना चाहिए। यह संस्कार इतने दृढ़ हों कि बाह्य प्रलोभनों एवं मिथ्या प्रचारों से शिथिल न होने पाएँ। यही सबसे प्रमुख कार्य हमारे सम्मुख है।

जिस समय स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयत्न जोर-शोर से चल रहे थे, उस समय भी संघ ने संगठन के महामंत्र का उद्घोष किया और कहा कि स्वतंत्रता मात्र से हमारी समस्याएँ हल नहीं होंगी। स्वतंत्रता तो एक सीढ़ी है। यदि मूल दोष नष्ट न हुआ तो उसका कोई उपयोग नहीं। हम स्वतंत्र तो हुए, किंतु यह तो बिल्ली के भाग्य से छीका टूटनेवाली बात थी। किसी मित्र की सहायता से या अपने पराक्रम और परिश्रम से हमने स्वतंत्रता नहीं ली। जैसे स्वराज्य अकस्मात आया है, वैसे अकस्मात जा भी सकता है। यदि पराक्रम से आता तो जीवन में शिथिलता और सभी प्रकार के संकटों के प्रति घोर उदासीनता न दिखाई देती। तब तो हम कहते कि यदि किसी ने हमारी स्वतंत्रता की ओर टेढ़ी नजर से देखा भी तो हम उसकी आँखें निकाल लेंगे। पराक्रम का फल न होने के कारण हमें स्वातंत्र्य की अनुभूति नहीं है। यह तो शृंगार मात्र है। इसमें जीवन की ज्योति नहीं है।

शक्ति – योगक्षेम का साधन

शक्ति में प्राप्ति तथा रक्षण– दोनों का ही सामर्थ्य है। गीता में शक्ति को ही योगक्षेम का साधन बताया है। योग, अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति तथा क्षेम, याने प्राप्त का रक्षण। असंगठित राष्ट्रजीवन में दोनों की पात्रता नहीं। अतः हम क्या करें? हृदय में जड़ पकड़कर बैठे हुए रोग को समूल नष्ट कर शुद्ध राष्ट्रभाव युक्त तथा एकात्मता से ओतप्रोत जीवन निर्माण करना होगा। उसके लिए किसी युक्तिवाद की आवश्यकता नहीं। 'यह मेरा राष्ट्र है', 'यह मेरी मातृभूमि हैं' इसकी अनुभूति होना चाहिए। जगत् में इसे सिद्ध करने के लिए युक्ति नहीं, बाहुबल चाहिए।

यह हिंदू राष्ट्र है और प्राचीन काल से ऐसा चला आ रहा है। हिंदुओं के अतिरिक्त यहाँ था ही कौन? इस्लाम या ईसाई मत के प्रारंभ होने

के बहुत पूर्व से हम हिंदू यहाँ एक वैभवसंपन्न राष्ट्र के रूप में थे। यह स्वामित्व का भाव तेजस्वी रूप से जागृत होना चाहिए। अपने राष्ट्र को सब प्रकार से सुरक्षित रखनेवाला सामर्थ्य फिर से पैदा करना है। सामर्थ्य के लिए राष्ट्रजीवन में संगठन ही एकमेव संजीवनी हैं। यदि कुछ करणीय है तो वह है इसी दिव्य संघ-सामर्थ्य की शक्ति, संजीवनी को रोम-रोम में व्याप्त करना। यह काम हुआ तो सब प्रश्न हल होंगे। समुद्र-स्नान से सब तीर्थों के स्नान का पुण्य प्राप्त हो जाता है। जिसने यह कार्य किया, उसने सब कुछ कर लिया।

इसमें किसी भ्रम या शंका की गुंजाइश नहीं है। फिर भी चारों ओर की बातों को देखकर मन में अनेक विचार आते हैं। भगवद् भजन से सब कुछ होगा, यह जानते हुए भी मनुष्य माया के चक्र से नहीं छूट पाता। कुछ न कुछ समझौता करके रास्ता निकालना चाहता है। किंतु जहाँ साध्य और साधन की एकरूपता हो, वहाँ समझौते की गुंजाइश नहीं। बहुत लोग सोचते हैं कि जब स्वकीय शासन प्राप्त हो गया है, तब संगठन को साधन के रूप में उपयोग करना चाहिए। किंतु साध्य शासन है या संगठन, इसका विचार करें। शासन के साधन तो भिन्न प्रकार के होते हैं। वह समाज अवस्था का ही व्यक्त रूप होता है। सभी प्रकार से विचार करने के बाद हमारे सामने केवल एक ही कार्य है और वही सब प्रकार की आपत्तियों के निराकरण का उपाय है। अतः संपूर्ण शक्ति लगाकर एक सुसंगठित, सुसूत्र, सुव्यवस्थित राष्ट्रीय एकात्मता का भाव लेकर तेजस्वी सामर्थ्य निर्माण करना है। इसकी शक्ति, आदर्शवादिता तथा इसके लिए सर्वस्व को न्योछावर करने की शुद्ध वृत्ति ही उपास्य है।

६. सच्चा निर्माणात्मक कार्य

(१३ मार्च १९५४)

अनुभूति का अभाव

जो अपने देश का विचार करते हैं, उन्हें कई समस्याएँ दृष्टिगत होती हैं। चारों ओर फैला हुआ अज्ञान, निरक्षरता, दरिद्रता, रोग, पारस्परिक विद्वेष, ऊँच-नीच का भेदभाव आदि ऐसे अनेक प्रश्न खड़े हैं। इन

समस्याओं का विविध स्वरूप होते हुए भी सबसे प्रमुख समस्या है– अपने बारे में शुद्ध, स्पष्ट, असंदिग्ध ज्ञान का अभाव। इतना ही नहीं, उसके संबंध में विकृत धारणाएँ तथा भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। देश के अंदर पिछले हजार वर्ष से घुसकर बैठे हुए देशविघातक तत्त्वों के साथ जैसा व्यवहार होना चाहिए, उसके बिल्कुल विपरीत व्यवहार होता हुआ दिखाई देता है। कोई अपने को आदिवासी कहता है, कोई अछूत, कोई संप्रदाय का अभिनिवेश लेकर खड़ा है और कोई भाषाई प्रांत का अभिमान। प्रादेशिकता का भाव भी घुस बैठा है। जिसके कारण जिनका संबंध केवल शत्रुता का रहा, उनसे भी बंधुता का व्यवहार करने का प्रयत्न किया जाता है। इन विभिन्न आधारों पर छोटे-छोटे भावों को लेकर अनेक विलक्षण, किंतु सर्वथा असफल प्रयत्न होते हुए दिखाई देते हैं। असफल इसलिए कि स्वतः की उन्नति की प्रेरणा कहीं दिखाई नहीं देती। देश के कुछ सत्तालोलुप तथा स्वार्थी लोगों को छोड़ दें तो कहीं भी कार्य की प्रेरणा नहीं है। उच्च ध्येय को सामने रखकर काम करनेवालों का अभाव ही है। हिंदू के अतिरिक्त अन्य सब उद्योगशील हैं। हिंदू कार्यप्रवृत्त क्यों नहीं होता? इसका विचार करना चाहिए। जब इतनी समस्याएँ हैं, फिर भी कार्य करने की प्रेरणा क्यों नहीं मिलती? कभी उत्साह आता भी है तो अधिक काल तक टिकता नहीं। यह शिथिलता क्यों है? विफलता तथा निराशा की भावना क्यों है? कार्य करने का निश्चय क्यों नहीं जागता?

हिंदुत्व शून्य हिंदू

लोग अनेक उत्तर देते हैं। मेरी दृष्टि से तो एक ही उत्तर है। गत सहस्र वर्षों में जब से परकीयों ने अपना राज्य यहाँ स्थापित किया, तब से ही उस राज्य को समाप्त कर उसके स्थान पर अपनी सत्ता प्रतिष्ठापित करने की हिंदू ने चेष्टा की। वह यही धारणा लेकर चला कि यह भूमि मेरी है, यहाँ का राष्ट्रजीवन मेरा है और उसका व्यक्त रूप शासन भी मेरा ही होना चाहिए। यह भावना लेकर ही उसने सतत संघर्ष किया। छत्रपति शिवाजी के पूर्व और पश्चात् सभी प्रयत्न हिंदू राज्य के निर्माण के लिए ही हुए। किंतु इन संघर्षों का परिणाम क्या हुआ? प्रत्यक्ष रूप से परकीय राज्य गया तो भी हिंदू का प्रभुत्व नहीं रहा। हिंदू का प्रभुत्व हो– यह बात करने तक की पात्रता नहीं हैं। यदि कोई बात करे तो उसका सम्मान नहीं। ऐसा लगता है, मानो हजार वर्षों के प्रयत्न पर पानी फिर गया। लोग सोचते हैं कि यदि इन प्रयत्नों के बाद भी अपने को खोने की अवस्था निर्माण करनी

है, तो फिर १०० वर्ष जीने की कामना क्यों की जाए? यह घनीभूत निराशा जीवन पर छा गई है। फलतः हिंदू अपनापन छोड़कर चारों ओर दौड़ रहा है। वह मुसलमान या ईसाई बन सकता है। कम्युनिष्ट होने में उसे कोई आपत्ति नहीं होती। हिंदू कहलाने मात्र से उसे लज्जा आती है। यदि परकीयों ने आघात किया होता तो उसका स्वाभिमान जागृत हो जाता। किंतु जिसके सहारे पर वर्षों तक कष्ट सहन किए, वह स्वकीय ही जब हिंदू जीवन को भुलाने और उसके विनाश की सलाह देते हों, तब प्रेरणा कहाँ से आएगी? आज तक के आंदोलनों की मूल प्रेरणा तो हिंदू जीवन की प्रभुता स्थापित करने की आकांक्षा ही थी।

'भारत छोड़ो' आंदोलन के समय बिहार में जब एक आंदोलनकारी से पूछा गया कि तुम किस स्वराज्य के लिए आंदोलन कर रहे तो उसने उत्तर दिया कि हिंदुओं के स्वराज्य के लिए। किंतु हुआ क्या? जो फाँसी पर चढ़े, युद्ध में मारे गए, अंग्रेजों की गोली के शिकार हुए और जिसने सहस्रावधि बलिदान किया, उस हिंदू समाज के स्थान पर राज्य मिला उनको, जिन्होंने स्वतंत्रता के प्रयत्न में बेईमानी की और अंत में भारतमाता के दो टुकड़े कर दिए। यहाँ के लोग कभी मन को धोखा देने के लिए यह भले ही कहें कि हिंदुओं की बहुसंख्या होने के कारण अब राज्य हिंदुओं का नहीं, तो किसका है। मन की छिपी प्रभुता की भावना को इस प्रकार भले ही व्यक्त कर दिया जाए, किंतु वह सत्य से कोसों दूर है। आज हिंदुत्व का गौरव कहीं दिखाई नहीं देता। यही आज की शिथिलता का कारण है। हमें इसे दूर करना है। इसके लिए समाज की आकांक्षा जागृत करनी होगी। व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में यह महत्त्वाकांक्षा रहे कि हम अपने देश में स्वतंत्र, सामर्थ्यसंपन्न, स्वाभिमानपूर्ण, पराक्रमशील राष्ट्र के रूप में रहेंगे। शेष संसार अपने साम्राज्य के प्रसार में लगा है और हम लोग अपने देश के संकुचन में धन्यता मानें, यह तो समझ में आनेवाली बात नहीं है। हमने कोई ऐसी प्रतिज्ञा नहीं की है कि हम सदैव अपना ही घर लुटाते रहेंगे। दुनिया यदि सज्जनता को समझती है तो सज्जनता से, शक्ति से समझती है तो शक्ति से हमें अपना परिचय देना होगा। विस्तार मनुष्य का स्वभाव है। वास्तविक जीवन में जितना विस्तार होता है उतना ही सुख बढ़ता है। फिर, हम विस्तार से पीछे क्यों हटें? हमारे पास जनबल, बुद्धिबल, शास्त्रबल आदि श्रेष्ठत्व प्रदान करने की पूर्ण पात्रता है। उसके द्वारा हम विश्व पर अपनी प्रभुता क्यों न स्थापित करें?

अन्यान्य छोटी-मोटी समस्याओं के निराकरण की उत्सुकता व इच्छा लोगों के मन में आती है। शिक्षा, चिकित्सा, जाति-पाँति तोड़क मंडल, सड़क-निर्माण आदि के काम किए जाते हैं। ये सब काम अच्छे ही हैं। किंतु हमें विचार करना होगा कि इनके पीछे कोई मौलिक कार्य है या नहीं, जिसके परिणामस्वरूप सब कार्यरत हों। हमें तो व्यापक, प्रभावी, विस्तारक्षम राष्ट्रजीवन का निर्माण करना है। राष्ट्र की एकता का साक्षात्कार करना, राष्ट्रीय ज्ञान का उद्दीपन करना, राष्ट्र की सुप्त चैतन्यशक्ति का आह्वान करना तथा प्रत्यक्ष भौतिक सामर्थ्य को प्रकट करने के लिए एक सुसंगठित समाजरचना की उपासना करने का ध्येय हमने अपने सम्मुख रखा है।

समाज का चैतन्य कैसे जागृत करें

इस कार्य के संबंध में कोई दो मत नहीं हैं। समाज का चैतन्य कैसे जागृत करें? क्या पाठशालाएँ खोलें? दवाखाने चलाएँ? या विभिन्न समस्याओं को लेकर प्रचार करें? संस्थाएँ और आंदोलन चलाएँ? किंतु हम यह भी सोचें कि क्या इस सबसे संगठित जीवन निर्माण हो सकेगा। भेदभाव मत रखो– ऐसा कहने मात्र से भेदभाव दूर नहीं होता। उसे तो व्यवहार में प्रकट करना होता है। इस प्रकार की पद्धति का निर्माण करना होता है। संगठन का अर्थ ही पद्धति का निर्माण करना है। उसके लिए दो बातों की आवश्यकता होती है। एक लक्ष्य की, जो उतना उदात्त और विशाल हो कि लोगों को प्रेरणा दे सके और दूसरा, लक्ष्य को सत्य सृष्टि में परिणित करनेवाली कार्य की रचना करना। जहाँ तक हमारे लक्ष्य का संबंध है, वह हमारे सम्मुख स्पष्ट है। अत्यंत प्राचीन काल से चले आनेवाले इस राष्ट्र को, जिसका हमने साक्षात्कार किया है, उसे वैभव के परमोच्च शिखर पर चढ़ाएँगे और इस प्रकार उसे संपूर्ण जगत् के लिए पूज्य बनाएँगे। यह लक्ष्य संगठन के सामर्थ्य से ही पूर्ण हो सकेगा। इसलिए हमने संगठन का मार्ग चुना है। उसके लिए अत्यंत श्रेष्ठ और सरल रचना भी अपनाई है। किंतु जब हम अन्यान्य संस्थाओं के कार्य, उनके बड़े-बड़े कार्यक्रमों का आयोजन तथा उनके जनक्षोभ उत्पन्न करनेवाले आंदोलनों को देखते हैं तो हमारे मन में भी आता है कि हम भी उस मार्ग का अनुसरण क्यों न करें? हमने २८ वर्षों में क्या किया, ऐसा प्रश्न हमारे सम्मुख खड़ा होता है। यह तो सत्य है कि हमने अभी बहुत थोड़ा ही किया है। अभी बहुत कुछ करना बाकी है। किंतु जब हम अपने कार्य की तुलना दूसरों के कार्य से करें, तब हमें अपनी शक्ति के स्वरूप को नहीं भूलना चाहिए। हमारा काम गुणात्मक है।

उसकी तुलना क्षेत्रात्मक कार्यों से नहीं की जा सकती। हमें तो वह शक्ति निर्माण करनी है, जो नियंत्रित और अनुशासित हो, जिसके एक शब्द पर बड़े से बड़ा कार्य आरंभ हो, इच्छा करने पर उसका संवरण भी किया जा सके। हमारा लक्ष्य केवल लोक जागरण करना ही नहीं हैं। कभी-कभी लोग जैसा सोचते हैं, उससे भी बड़ा काम खड़ा हो जाता है। किंतु वह जितनी जल्दी खड़ा होता है, उतनी ही जल्दी नष्ट भी हो जाता है। सन् १९२१ का असहयोग आंदोलन और सन् १९४२ का 'भारत छोड़ो आंदोलन' इसके अच्छे उदाहरण है। एक बार आंदोलन शुरू हुआ कि वह कौन-सी दिशा लेगा, यह कहा नहीं जा सकता। उसपर नियंत्रण रहता नहीं। इन आंदोलनों से ध्वंस तो हो सकता है, निर्माण नहीं। सामूहिक शक्ति निर्माण की दृष्टि से अपना कार्य लोकक्षोभात्मक कार्य से उत्पन्न शक्तियों से अधिक है। अपना कार्य नियंत्रित कार्यशक्ति निर्माण करने का है, लोकक्षोभ उकसाने का नहीं। यदि लोकक्षोभ पैदा करने की आवश्यकता हुई तो उसे काबू में रखने की पात्रता भी हमें निर्माण करनी है। इसमें समय लगेगा, किंतु हमारा लक्ष्य यही है और उसे प्राप्त करने का हमारा निश्चय है। जल्दबाजी से तो काम होता नहीं। हमारी दृष्टि लक्ष्य पर चाहिए, काल या कष्ट पर नहीं।

राजशक्ति-लोकशक्ति

लोग छोटा रास्ता ढूँढना चाहते हैं। राजसत्ता ऐसा ही छोटा मार्ग समझा जाता है। राजसत्ता काबू में हुई तो समस्याएँ हल हो जाएँगी, ऐसा उनका विश्वास है। अतः सत्ताप्राप्ति का एक बड़ा भारी आकर्षण लोगों के सामने है। इसलिए वे सोचते हैं कि अपनी इस कार्यपद्धति के स्थान पर यदि अन्य कार्यपद्धति अपनाई जाए, थोड़े-बहुत नारे लगाए जाएँ, तो अच्छा है, पर हम विचार करें कि क्या नारों से राष्ट्रनिर्माण होगा? दूसरे, संगठन राष्ट्रनिर्माण के लिए है या मंत्री बनने के लिए? हम मंत्री बनें या न बनें, किंतु मंत्री बनना हमारी कृपा से होता रहा, तो उस कीचड़ में उतरने की आवश्यकता रहेगी क्या? ऐसे लोगों, जिनका मन उस कीचड़ में जाकर भी मैला नहीं होगा, को राजनीति में कार्य करने के लिए कह देंगे, किंतु स्वयं हमें अपने कार्य को, ध्येय की उपासना को छोड़कर जाने की फुरसत कहाँ? हमें तो ऐसा सामर्थ्य निर्माण करना है, जो सत्ता को चला भी सकेगा और इच्छा होने पर मिटा भी सकेगा। जो जनक्षोभ उत्पन्न भी कर सकेगा और उसका संवरण भी कर सकेगा। समस्त राष्ट्र की सर्वांगीण प्रगति के लिए

समर्थ, एक केंद्रीय तथा पुंजीभूत शक्ति का निर्माण करना हमारा लक्ष्य है। राज्यसत्ता मनुष्य मात्र की भलाई की रही हो, दुनिया में इसका एक भी उदाहरण देखने को नहीं मिलता। उसकी निश्चित मर्यादाएँ हैं। हाँ, जब समाज अपनी प्रगति के लिए प्रयत्न करता है, तब उसके पारस्परिक संघर्ष को रोकने और सामंजस्य स्थापित करने के लिए एक मध्यवर्ती शक्ति के रूप में शासन कार्य कर सकता है। इससे आगे कुछ किया गया तो समाज की हानि होती है। समाज की सारी शक्ति जब शासन के हाथ में हो जाती है तो मनुष्य निर्जीव तथा प्रेरणाशून्य हो जाता है। फिर सत्ता का आकर्षण क्यों? समाज के अंदर चैतन्य उत्पन्न करने के लिए न सत्ता की और न उसके आशीर्वाद की आवश्यकता है। फिर भी उससे मोह या आसक्ति उत्पन्न हुई तो परस्पर के स्नेहमय व्यवहार के स्थान पर द्वेष ही उत्पन्न होता है। वर्तमान जनतांत्रिक पद्धति तो और भी विच्छेदकारी बन रही है। यह दोष तभी दब सकेगा, जब सब लोगों में स्वार्थ से ऊपर उठकर राष्ट्रभाव जागृत हो तथा हम राष्ट्रहित के समक्ष अपने मतभेदों को नगण्य समझ सकें। आज तो इस विषाक्त वातावरण में संघ के संस्कार पाए हुए अनेक लोग भी मुक्त नहीं रह पाते। इसका अर्थ यह है कि संस्कारों की रगड़ और राष्ट्रभाव की पकड़ और भी अधिक होनी चाहिए।

कई लोग कहते हैं कि 'नृपनीति वाराङ्गनैव अनेकरूपा' (राजनीति विलासिनी युवती के समान भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है)– कहने के बाद भी हमने उसे क्यों ग्रहण किया? जिसके पास शक्ति है, उसको सब कुछ शोभा देता है। ध्येय को लेकर चलनेवाला सामर्थ्य एवं विशुद्ध राष्ट्रीय चेतना उसके पीछे रही तो आज की राष्ट्रभावनाविहीन राजनीति का हीन स्वरूप भी उदात्त किया जा सकेगा। यदि किसी वारांगना के साथ संबंध लाकर कोई साधु उसका जीवन सुधार दे तो साधु का जीवन धन्य हो। हमें तो वह शक्ति चाहिए जो राजनीति का नियंत्रण कर सके, जिसपर शासन से उत्पन्न होनेवाले दुर्गुणों का परिणाम न हो, अपितु राजनीति पर वह अपने सद्गुणों की छाप बिठा सके।

ऐसी स्थिति में हमें अपने कार्य की रचना पर और भी बल देना पड़ेगा, अनुशासन का भाव दृढ़ करना होगा। अन्य पद्धतियाँ तुरंत फल देनेवाली हैं। यह देखकर उनका मोह भले ही होता हो, परंतु उनमें अनुशासन तथा ध्येयवाद शिथिल हो जाता है। जैसे जूडास ने अपने प्राण के भय के मोह में एक बार नहीं, तीन-तीन बार कहा कि उसका ईसा से

कोई संबंध नहीं है, वैसे ही तात्कालिक राजनीतिक परिणामों की आशा में अपने कार्य की मूलभूत भूमिका को अमान्य करने की प्रवृत्ति पैदा हो सकती है।

प्रवृत्ति

हमारे कार्य की रचना अति उत्तम तथा श्रेष्ठ है। यहाँ छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं है। स्वयंसेवक के रूप में राष्ट्र की सेवा करने के लिए सबको कंधे से कंधा तथा कदम से कदम मिलाकर ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना है। यह मेरा राष्ट्र है— इस प्रकार की निष्ठा लेकर, उसका संगठित स्वरूप निर्माण करूँगा— यह भावना लेकर, उसकी रचना एवं सूचना के अनुसार कार्य करने के लिए आगे बढ़ें। इससे ही राष्ट्र में स्थायी और दृढ़ सामर्थ्य का निर्माण होगा।

७. राष्ट्र की नित्यसिद्ध शक्ति

(१३ मार्च १९५४)

किसी भी राष्ट्र का जीवन पूर्णरूपेण स्वतंत्र नहीं रहता। एक राष्ट्र का दूसरे अनेक राष्ट्रों के साथ संबंध आता है। उनका परस्पर अनेक प्रकार का आदान-प्रदान चलता रहता है। तब समय-समय पर जो सुस्थिति, दुःस्थिति निर्माण होती है, उसमें अपना संबंध कैसे रहे इसका विचार करना होता है। मानव का समूहीकरण कहीं धर्म से तो कहीं राष्ट्रीयता से हुआ है, कुछ का धर्म और राष्ट्रीयता— दोनों से हुआ है। हिंदुस्थान में रहनेवाले तथा जिनके साथ हमारा संपर्क शत्रुता का या मित्रता का हो सकता है, ऐसे मुसलमान तथा ईसाइयों के स्वतंत्र राज्य भी हैं, जिनमें विस्तार की भावना भी है और उन राज्यों के प्रति यहाँ के तद्धर्मीय लोगों का सद्भाव भी है।

वैश्विक परिदृश्य

आज उत्तर में चीन और उसके भी पार जापान है। जापान के दक्षिण में, जागतिक क्षेत्र में व्यक्ति-स्वतंत्रतावादी कहे जानेवाले तथा पूँजीवादी एवं जनतंत्रीय गुट के अंतर्गत समाविष्ट भिन्न-भिन्न यूरोपीय देशों द्वारा निर्मित साम्राज्यों से मुक्ति पाने के लिए स्वातंत्र्य समर चल रहा है।

साम्राज्य से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील देश स्वाभाविक रीति से शत्रु के शत्रु को अपना मित्र मानकर रूस से सहायता लेते हुए, उसके प्रभाव क्षेत्र में दिख रहे हैं। पड़ोस में ब्रह्मदेश (वर्तमान म्याँमार) जिसका कल तक अपने से संबंध था, दक्षिण में श्रीलंका, जो अपनी ही भूमि का एक अंग था, किंतु आज की राजनीतिक परिस्थिति में अलग है तथा उत्तर में नेपाल और भूटान जैसे राज्य हैं, जो पहले हिंदू राज्य रहे हैं। आज वहाँ अस्थिर परिस्थिति दिखाई देती है। शेष अफगानिस्तान से इजिप्ट तथा मोरक्को तक अनेक छोटे-बड़े मुस्लिम देश हैं। दूसरी ओर रूस, जर्मनी, फ्रांस आदि देश, तत्पश्चात् महासागर को पार कर अमरीका, जिसके उत्तरी और दक्षिणी भूखंडों में भी अन्यान्य छोटे-छोटे राज्य हैं। अफ्रीका का अधिक विचार किया नहीं, क्योंकि वहाँ पर खास अफ्रीका-निवासियों का कोई राज्य नहीं है। दक्षिण में यूरोपीय लोगों ने वहाँ के निवासियों के अधिकारों और हितों पर अपना स्वामित्वपूर्ण प्रभुत्व जमाकर हड़प लिया है, ऐसे देश हैं।

यह जो चित्र अपने सामने है, उसमें अपना स्थान बड़ा अच्छा है क्या? वैसे देखा जाए तो अपना देश बड़ा विशाल है। यद्यपि अब छोटा हो गया है, तथापि उसकी विशालता बड़ों-बड़ों को खटकती है। जनसंख्या की दृष्टि से जितना विशाल समाज अपने पास है, इतना बड़ा समाज चीन को यदि छोड़ दें तो शायद ही कहीं मिलेगा। वैसे चीन में भी ईसाई, बौद्ध आदि जैसे पंथ, उप-पंथ हैं। इन सबको यदि हम अलग-अलग कर दें तो हिंदू-समाज सबसे बड़ा हो जाता है। इस विशाल समाज के साथ-साथ अपने पास एक दिव्य श्रेष्ठ गुणों से युक्त उदात्त परंपरा भी है। अपना इतिहास, जो केवल पराभव का नहीं, पराक्रम और पौरुष का है, हजार वर्ष के आक्रमण के बावजूद अपने जीवन को बनाए रखे हुए है। पुनः उनको परास्त करने की पात्रता रखनेवाला है। इतना श्रेष्ठ इतिहास होते हुए भी दुनिया में अपना स्थान क्या है? अच्छा है क्या? कुछ लोग कहते हैं कि बहुत अच्छा है। बताया जाता है कि हमारे पंडित जवाहरलाल नेहरू का अमरीका और इंग्लैंड में बहुत जोरदार स्वागत हुआ। यद्यपि अमरीका के समाचार-पत्रों में उसकी कोई विशेष चर्चा नहीं थी। इंग्लैंड में तो एक दिन उनके जाने तथा लौटने का समाचर छोड़कर कुछ छपा ही नहीं। अपने यहाँ के समाचार-पत्रों में उनके भव्य स्वागत का काफी प्रचार हुआ, फोटो भी छापे गए। इस समाचार को पढ़कर हम सभी को आनंद होना स्वाभाविक है।

यह भी कहा जाता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ जो भिन्न दो देशों के आपसी संघर्ष के मौके पर शांतिपूर्ण समझौते का मार्ग निकालता है, ने अध्यक्ष पद पर अपने प्रधानमंत्री की बहन को चुना है। इस उदाहरण को विदेशों में अपने सम्मान के चिह्नस्वरूप बताया जाता है। इसे सुनकर अन्य लोगों को जो आनंद हुआ, उसमें हम सब सहभागी हैं। परंतु सत्य तो यह है कि उसमें मुझे हिंदुस्थान के सत्कार की भावना नहीं दिखती, अपितु एक राजनीतिक चाल दिखाई देती है। शायद यह मेरे स्वभाव के कारण हो, क्योंकि 'अति प्रेमी पापशंकी' होता है। चाहे जो हो, मेरा तो यही विश्वास है कि यह चाल सम्मान का आभास उत्पन्न करके एक प्रकार की राजनीतिक घूस देकर मुँह बंद करने का प्रयास मात्र था। अभी तक मेरा यह विश्वास है कि इन एक-दो सत्कारों को, जिनके लिए उन्हें कुछ विशेष खर्च नहीं करना पड़ा और जिसके कारण उनके राजनीतिक स्वार्थों में किसी प्रकार की हानि नहीं होती, को छोड़कर किसी अन्य क्षेत्र में अपना सम्मान दिखाई देता है क्या? राष्ट्र की दृष्टि से यदि हम देखें तो कहना पड़ेगा कि नहीं दिखता।

हमारी स्थिति

अब दूसरी बात पर विचार करें, हमारा राष्ट्रजीवन सुरक्षित है क्या? उसकी रक्षा करने का सामर्थ्य आज विद्यमान है क्या? कम से कम देश की सीमाएँ सुरक्षित रखने की पात्रता है क्या? उसपर आपत्ति न आ सके, आक्रमण न हो, ऐसी स्थिति है क्या? इस देश के बालक को तो क्या, कुत्ते को भी स्पर्श करने का साहस किसी अन्य देशवासी का न हो– ऐसा जीवन अपने यहाँ है क्या? इन सब प्रश्नों का जब हम विचार करते हैं, तो प्रत्येक का उत्तर नकारात्मक आता है। प्रतिदिन समाचार आते रहते हैं कि हमारी सीमा पर अमुक ग्राम लूटा गया, परकीय यहाँ से स्त्रियाँ ले गए, वहाँ से पशु ले गए आदि-आदि। यह सब हमारी प्रतिष्ठा और सामर्थ्य का लक्षण नहीं है। इसे देखकर कहना पड़ता है कि सुरक्षा की दृष्टि से अपनी बड़ी दुर्बल अवस्था है। इसके साथ हम यह भी विचार करें कि हमारे चारों ओर रहनेवाले देश कैसे हैं? वे किस प्रकार विचार करते हैं?

सबसे पहले हम अपनी पूर्व व पश्चिम सीमा को काटकर बनाए गए तथाकथित पाकिस्तान को लें। यह एक ऐसे असामान्य चातुर्य का फल है, जिसकी तुलना संसार के किसी भी देश में नहीं है। ऐसा चातुर्य कहीं

नहीं हुआ कि अपने देश को काटकर सदा अपने से शत्रुता करनेवाला एक राष्ट्र खड़ा कर लिया जाए, परंतु ऐसा असामान्य चातुर्य भारतवर्ष में हुआ। उसने अमरीका से सैनिक समझौता कर अपने इरादों को स्पष्ट कर दिया है। अब हमारे नेता भी कहते हैं कि इससे आक्रमण को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन मिला है। उत्तर में चीन तिब्बत को खा बैठा है और मानसरोवर तथा बद्रीनाथ आश्रम तक अपना अधिकार जताता है। नेपाल और भूटान में चोरी से शस्त्रास्त्र आ रहे हैं, घुसपैठ हो रही है, असम तक प्रयत्न किए जा रहे हैं।

जागतिक दृष्टि से भी जो अशांतिपूर्ण परिस्थिति दिखाई दे रही है, वह भी हमारे संकट का कारण बनी हुई है। जगत् में प्रभुत्व स्थापित कर अपने साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा रखनेवाले गुट अपनी-अपनी चाल चल रहे हैं। उनकी विस्तार की अपनी योजनाएँ हैं। अमरीका ने जनतंत्र की दुहाई और पैसे को अपना आधार बनाया है। रूस ने चारों ओर अपने सैनिक अड्डे स्थापित करने की इच्छा से ही पाकिस्तान में अपने अड्डे स्थापित करने का प्रयत्न आरंभ किया है। कश्मीर में गोलमाल करने का प्रयत्न भी इसी आधार पर हुआ है। संयुक्त राष्ट्र संघ में कश्मीर का प्रश्न इसीलिए उलझा हुआ है। यदि हम अड्डे देना स्वीकार कर लें तो एक दिन में फैसला हो जाएगा। परंतु इस प्रकार किसी के दबाव में आकर अपमानकारक फैसला करवाने का क्या अर्थ है?

रूसी-अमरीकी कूटनीति

अपने प्रधानमंत्री द्वारा अपनाई गई नीति अभिनंदनीय है। अमरीका द्वारा धन-धान्य की सहायता इसी आशा से दी जाती है कि हमारे मन में उसके अनुकूल भाव पैदा हों। ईसाई धर्म-प्रचारक तक दवाई देने में निःस्वार्थ भाव से काम नहीं करते। वे इसी आशा से काम करते हैं कि लोग ईसाई बनकर हिंदुस्थान की भूमि और परंपरा से बेईमान होकर उनके साथी बनें। तब राजनैतिक संबंधों में स्वार्थ के स्थान पर उदार भावना से सहायता की अपेक्षा कैसे कर सकते हैं? भारत को अपने गुट में मिलाने की आशा लेकर ही पंचवर्षीय योजनाओं के लिए पैसा आता है। पाकिस्तान से समझौता होने पर जब हमने तटस्थ नीति के अनुरूप अपनी प्रतिक्रिया जताई, तब अमरीका से आनेवाला गेहूँ भी रोक दिया गया। यह सब प्रयत्न अपना नेतृत्व स्थापित करने के लिए है। अमरीका का पैसा ही नहीं, उसके

जो तंत्रज्ञ, विद्यार्थी, प्रवासी, धर्मप्रचारक बहुत संख्या में यहाँ आते हैं, वे मन में सज्जनता का भाव लेकर नहीं आते। व्यवहारदक्षता के लिए हमें उनकी नीति समझनी होगी। वह तो जासूसी के लिए आते हैं। यहाँ की सीमा का, समस्या का, पक्ष-विपक्ष के परस्पर संबंध, उनमें से किसका उपयोग किया जा सकता है, इसकी पूरी जानकारी अपनी सरकार को देते हैं। देश के जितने अच्छे मानचित्र हमारी सरकार के पास होंगे, उससे अधिक सूक्ष्म मानचित्र, जिनमें यहाँ की पगडंडियाँ तक दिखाई गई हैं, अमरीका तथा रूस में तैयार किए गए हैं। अपने कार्य के संबंध में अभी अमरीका ने जानकारी प्राप्त की है। उसे यही पता लगा है कि अपने प्रभाव की वृद्धि के मार्ग में यदि सबसे बड़ी कोई बाधा है, तो वह संघ ही है।

अब जरा रूस का विचार करें। वह भी शांत नहीं है। चीन को उसने हड़प लिया है। यूरोप के पूर्व के छोटे-छोटे राष्ट्र उसके प्रभाव क्षेत्र में हैं। एशिया में हिंद-चीन आदि देशों की साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्ति का आश्वासन देकर सहायतादि से अन्य देशों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने का प्रयास कर रहा है। साम्राज्यवाद की लालसा से हिंदुस्थान में अपने विचारों के लोग तैयार किए हैं। इस प्रकार पूर्वी यूरोप से लेकर प्रशांत महासागर तक वह ऐसा गुट तैयार कर रहा है, जो एंग्लो-अमेरीकी गुट को परास्त कर विश्व पर अपनी प्रभुता स्थापित कर सके। इसके लिए अमरीका के समान धन और शस्त्रों की सहायता तथा क्रांति के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

ये भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हिंदुस्थान में अपना खेल खेल रही हैं? यह देश उनके साम्राज्य-निर्माण में सहायक हो, इसी आशा से। यह आशा उनके मन में इसीलिए पैदा हुई, क्योंकि जहाँ खुद का राष्ट्रभाव नहीं, वहाँ गुलामी स्वीकार करने में संकोच नहीं होता। यदि प्रखर राष्ट्रभाव हो तो इनकी दाल न गले। संघ को प्रमुख बाधा के रूप में वह इसीलिए समझते हैं, क्योंकि संघ राष्ट्र के संबंध में एक अत्यंत उग्र निष्ठा लेकर चलता है। इस दृष्टि से वे पंडित नेहरू जैसे श्रेष्ठ पुरुष, कांग्रेस जैसी पुरानी संस्था तथा आर्थिक सिद्धांतों का उद्घोष करनेवाले समाजवादियों को अपने मार्ग की बाधा नहीं समझते। वे जानते हैं कि संघ को छोड़कर और किसी में इतना प्रखर राष्ट्रभाव नहीं कि दुनिया का चाहे जो हो, चाहे वह समुद्र में डूब जाए, फिर भी मैं अपने राष्ट्र को जीवित रखूँगा ही। इसलिए संघकार्य के विस्तार का उन्हें भय लगता है।

इन दोनों गुटों में कभी न कभी संघर्ष होगा ही। इसका कारण उनकी साम्राज्यलिप्सा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तात्त्विक दृष्टि से तो उनका अंतर धीरे-धीरे कम हो रहा है, क्योंकि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का आधार लेकर चलनेवाले धीरे-धीरे समूहवाद की ओर तथा समूहवाद लेकर चलनेवाले व्यक्तिवाद की ओर बढ़ रहे हैं। रचना का अंतर तो कम है, किंतु दोनों ही अपने-अपने उद्‌घोषों (slogans) की विजय चाहते हैं, अर्थात् अपनी भूमि और वहाँ के लोगों का प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं। इसी कारण संघर्ष उत्पन्न होगा। ऐसी स्थिति में हमारी क्या नीति होगी? तीन ही बातें संभव हैं। दोनों मे से किसी एक गुट के साथ मिलना अथवा दोनों से अलग रहना। इनमें से कौन-सा मार्ग अपनाया जाए? क्या अमरीका के साथ मेल किया जाए? उन्हें तो आनंद होगा। किंतु हमारी स्थिति तो दैत्य और बौने की मित्रता में जो दुर्दशा बौने की हुई, वैसी ही होगी। असमान शक्तियों के गठबंधन में दुर्बल की शक्ति अधिकाधिक क्षीण होकर बलवान को ही लाभ होता है। अमरीका और रूस दोनों ही बलवान हैं। हम किसके साथ टाँग बाँधें? यदि कहा जाए कि दोनों के साथ एक-एक टाँग बाँधे तो वह भी संभव नहीं, क्योंकि दोनों के मार्ग भिन्न हैं। अब केवल तीसरा मार्ग बचता है और वह है तटस्थता का। किंतु तटस्थ केवल वह ही रह सकता है जो दोनों से अपनी आत्मरक्षा कर सके और दोनों के संघर्ष में, वह शामिल नहीं होगा- यह कठोरतापूर्वक जता सके।

शुद्ध राष्ट्रभाव आवश्यक

तीनों अवस्थाओं में अपने राष्ट्रजीवन को अक्षुण्ण रखते हुए जागतिक संघर्ष में अपने राष्ट्र का उत्कर्ष करने के लिए यदि किसी बात की आवश्यकता है, तो वह है शुद्ध राष्ट्रभाव को जागृत कर उसको शक्तिसंपन्न एवं चैतन्ययुक्त बनाना। दिन-प्रतिदिन उग्रतर होनेवाली समस्या का यही एकमात्र हल है। यदि हममें यह सामर्थ्य हो तो किसी के साथ मिलना या न मिलना इसका विचार बाद में किया जा सकेगा। आज तो बल उत्पन्न करने का कार्य प्रथम है। यह किसी तात्कालिक समस्या के कारण चाहिए, ऐसी बात नहीं, अपितु सदा-सर्वदा के लिए चाहिए।

पाक-अमरीकी गठबंधन से उत्पन्न संकट की परिस्थिति में तो हमारे नेता भी एकता और संगठन की आवश्यकता समझने लगे हैं। यह तो आग लगने पर कुआँ खोदने जैसा है। हमने तो परिस्थितिनिरपेक्ष

संगठन का सिद्धांत अपने सामने रखा है। २८ वर्ष पूर्व जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया, आज भी उसकी सत्यता वैसी ही बनी हुई है। परिस्थिति का यह थोड़ा विवेचन इसलिए किया, क्योंकि हमारे वह सत्य सिद्धांत भी, जो विवाद के परे हैं, संदेह का विषय बन जाते हैं। संकट आए तो कार्य करो और संकट टल जाए तो सो जाओ, यह नीति हमने तो कभी रखी नहीं। राष्ट्र को तो अहोरात्र सन्नद्ध स्थिति में ही रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र के हितचिंतन में संलग्न, एकसूत्र में गुँथा हुआ, अनुशासित, राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तत्पर रहे– ऐसी अवस्था हमें उत्पन्न करनी है। बिना इसके राष्ट्रजीवन सुचारु रूप से नहीं चल सकेगा। आर्थिक, राजनैतिक या बड़े-बड़े सिद्धांतों की चाहे कितनी विवेचना कर लें, किंतु राष्ट्रजीवन को चलानेवाले प्राण का स्पंदन जब तक ठीक नहीं, तब तक सब, शव-शृंगार जैसा ही होगा। हमारा काम तो वह प्रबल राष्ट्रजीवन उत्पन्न करना है, जो मृत्यु पर भी विजय पा सके। दुनिया साथ दे या विरुद्ध हो, हमें तो सभी अवस्था में संगठन करना है।

जब हम संगठन का विचार करते हैं, तब लोगों के सम्मुख दूसरी बात आती है। सन् १९४७ के पूर्व अंग्रेज राज करते थे, शस्त्र, सेना, पुलिस सब उनकी थी। इसलिए उस समय अलग संगठन की आवश्यकता थी। किंतु अब तो शासन हमारा है, सेना हमारी है, पुलिस हमारी है, शस्त्रास्त्र के कारखाने थोड़े ही क्यों न हो, हमारे पास हैं। आवश्यक होने पर हम बाहर से भी शस्त्रास्त्र मँगवा सकते हैं। शस्त्रास्त्र मिलेंगे भी, क्योंकि गत महायुद्ध में अमरीकी हथियारों से ही अमरीकी और जर्मन सिपाही लड़ते थे। अतः संगठन का आडंबर न करते हुए शासन ही अपने हाथ में क्यों न ले लें, जिसके आधार पर उपर्युक्त सभी बातों पर अधिकार होकर देश की रक्षा हो सके। किंतु सेना कहाँ से आई? सामान्य समाज में से ही तो सैनिक आते हैं। यदि वहाँ राष्ट्र का पता नहीं, देशभक्ति का ज्ञान नहीं, तो उसपर भरोसा रखकर कहाँ तक लड़ेंगे? वह तो पैसे के लिए अपने को बेच देगी, सेना की शक्ति इसपर निर्भर करती है कि राष्ट्रभाव लेकर चलनेवाला समाज कितना है। आजकल तो सर्वमुखी लड़ाई होती है। सेना को ही नहीं तो समाज को भी पीछे रहकर प्रतिरोध पंक्ति (second line of defence) के रूप में शस्त्र, रसद आदि जुटाने पड़ते हैं। गत महायुद्ध में अंग्रेजों को पेट काटकर लड़ना पड़ा था। इसके बावजूद वहाँ के किसी दल ने इसका

राजनीतिक लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया। सब प्रकार से संकटों से घिर जाने के बाद भी इंग्लैंड का राष्ट्रभाव ही उसकी विजय का कारण बना।

जिस कार्य की सर्वप्रथम तथा सर्वसमय आवश्यकता है, उसे पूर्ण करना हमारा कर्तव्य है। बाकी बातें तो महासागर की लहरों की भाँति जीवन के सुख-दुःख के रूप में आती-जाती रहती हैं, किंतु सागर का जल कभी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। वह न तो गर्मी में सूखता है और न वर्षा में उसमें बाढ़ ही आती है। हमारा कार्य ऐसा ही शाश्वत स्वरूप का है। अतः राष्ट्रीय चेतनायुक्त, सुसंगठित, सुसूत्र, सामर्थ्य निर्माण करने के अतिरिक्त अन्य कुछ करणीय नहीं है। शक्ति होने पर स्वेच्छा से, विवशता से नहीं, चाहे जिसके साथ हाथ मिलाया जा सकता है। वैसे, आज के व्यवहार के लिए नहीं, किंतु तत्त्वतः विचार करें तो हम जिस प्रकार धर्म और संस्कृति का आदर्श लेकर चले हैं, जिससे व्यक्ति की उपासना में समष्टि के सुख की प्रेरणा निहित है, उसके अनुसार व्यक्ति-स्वतंत्रता का उद्घोष करनेवाले, फिर उसके पीछे सत्यांश थोड़ा ही क्यों न हो, राष्ट्रों के हम अधिक निकट हैं। किंतु आज तो स्वयं को ही अजेय सामर्थ्यसंपन्न बनना होगा। तभी हम किसी को आश्रय दे सकते हैं। किसी के आश्रय में जाने का प्रश्न हमारे सम्मुख नहीं रहेगा। हम किसी के दयापात्र बनें, दीनता की आस में किसी के साथ हाथ मिलाएँ, यह तो दासता से भी हीन तथा त्याज्य मनोवृत्ति है। हमें तो वह सामर्थ्य चाहिए कि लोग हमारी अनुकंपा की लालसा करें और हम प्रसन्न हों तो किसी पर कृपा करें, यदि न हों तो दोनों को अपने बाहुबल से हटाकर स्वतंत्र एवं प्रभुत्वमय मार्ग पर अग्रसर हों। ऐसी प्रखर, उत्कट राष्ट्रभक्ति पूर्ण आधारशिला जम जाए, तब ये बातें करेंगे। तब तक दुनिया का क्या होगा, इसकी चिंता नहीं। जब तक यह नहीं होगा, तब तक अपने राष्ट्र का उत्तम चित्र ही हम निर्माण करेंगे।

इतनी तीव्र, प्रखर, सुसंगठित, सचेतन, एवं एकांतिक राष्ट्रभक्ति का अंतःकरण में आह्वान कर किसी भी परिस्थिति में विचलित न होनेवाले महासागरवत सामर्थ्य निर्माण करने का संघ का कार्य ही सभी अवस्था में अमृतमय औषधि के रूप में हमारे लिए करणीय है।

८. आत्मनिर्भर सफल कार्य व कार्यपद्धति

(१४ मार्च १९५४)

अपने कार्य का लक्ष्य राष्ट्रभावना का पुनर्निर्माण तथा प्रबल अधिष्ठानभूत राष्ट्रजीवन तैयार करना है और इस कारण उसी के द्वारा मनुष्य, देश एवं संसार की सब समस्याएँ हल हो सकेंगी। अतः निश्चल भाव से इस आधारभूत कार्य को करने की नितांत आवश्यकता है। इस विचार को जितने आग्रहपूर्वक हो सकता था, मैंने यहाँ रखने का प्रयास किया। राष्ट्र की संगठित शक्ति का जो आह्वान हम कर रहे हैं, बाहर से आनेवाली बाधाओं के बारे में विचार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वह तो आती ही हैं। उसके कारण कोई संकट खड़ा नहीं होता। जब हमारा काम शुरू हुआ, तब परकीय राज्य था। अहिंदू समाजों का दृष्टिकोण शत्रुता का ही था। फिर भी हमने कार्य को आगे बढ़ाने में सफलता प्राप्त की। उस समय भी कार्य करते समय ऐसी बातें आती थीं, जिनसे अपने अच्छे-अच्छे स्वयंसेवकों के मन में कार्य के स्वरूप के संबंध में आशंका उत्पन्न हो जाती थी। उत्सव आदि के अवसर पर अध्यक्ष के नाते पेंशनप्राप्त या नरमदलवादी लोगों को कई बार बुलाया, जो 'कानून से आत्मरक्षा का अधिकार है' आदि बातें कहते थे। अपना काम तो प्रखर राष्ट्रवादी है, अतः कानूनवालों एवं नरमदलवादियों का अपने यहाँ क्या काम? इस प्रकार की अनेक बातें अपने मन में उस समय भी उठा करती थीं। फिर भी ऐसे लोगों को अध्यक्ष के नाते बुलाते थे। उसका अपने को लाभ भी हुआ। आज भी हम उसी लाभ के कारण अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने में समर्थ हैं। इसलिए कहना पड़ता है कि यद्यपि उस समय लोगों के ध्यान में वह लाभ नहीं आया, तथापि आज अपना इतिहास आँखों के सामने रखने पर लगता है कि ऐसी कितनी ही बातें उस समय अपने सामने उपस्थित होनेवाले विरोधों को दूर करने की दृष्टि से, उनका असर नष्ट करने की दृष्टि से की जाती थीं। परंतु आत्मरक्षा की भावना लेकर अपना कार्य नहीं चलता, ऐसी प्रखर भावना भी अंतःकरण में रहती थी।

आपको पता होगा कि मध्यप्रदेश में अपने संघकार्य में रुकावट डालने के लिए शासन ने नियम बनाया कि सरकारी अथवा ऐसे संबंधित संस्थाओं की नौकरी करनेवाले संघ के स्वयंसेवक नहीं बन सकते। उस समय संघनिर्माता ने स्वयंसेवकों के सम्मुख एक भाषण दिया। उसमें पहले

तो इस नियम का उल्लेख किया और फिर कहा कि ऐसे पचासों नियम बनने पर भी संघ की प्रगति रोकने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। संघ किसी दूसरे की कृपा से या सरकार के आशीर्वाद से नहीं चलता। अपनी प्रखर राष्ट्रभावना की प्रेरणा से चलता है। वह किसी के रोके रुकनेवाला नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि आत्मरक्षा का नहीं, बल्कि आक्रमण का विचार रखो। अपने कार्य के बाह्यस्वरूप में चाहे जितनी विरोधी बातें दिखाई देती हो, परंतु यह मूल बात मन के अंदर रहने के कारण यह कार्य आक्रामक है। उस समय के संकटों का विचार करते हुए जो-जो करना उचित लगा, वह किया। बाह्य संकटों से संघ कभी भी भयभीत होकर नहीं चला। उसका योग्य रूप से निराकरण किया जा सकता है। आज भी यदि ऐसा कुछ करना पड़े, तो वह करना चाहिए। संकटशून्य अवस्था आज भी नहीं है। अनेक प्रकार की आपत्तियाँ अपने सामने आती हैं, आ रही हैं और आएँगी। पिछले सात-आठ वर्षों में तो इसका हमें पर्याप्त अनुभव हो चुका है। परंतु इससे विचलित होना अपने कार्य का धर्म नहीं।

संकटजन्य भ्रम

यह अवश्य है कि संकट उत्पन्न होने पर मनुष्य के मन पर भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम होते हैं। कुछ लोग भयभीत होते हैं, कुछ संकट से मुक्ति पाने के लिए संकटकारी की स्तुति गाते हुए अपने कार्य की टीका-टिप्पणी या विरोध करने को प्रवृत्त होते हैं। ऐसे अनुभव बीच के काल में आए हैं। कुछ लोगों का विश्वास तभी तक रहता है, जब तक कार्य ठीक प्रकार से चलता रहता है, उसका जय-जयकार गूँजता रहता है। लेकिन मार्ग में कोई बाधा आ गई तो हतोत्साह होकर कार्यनिवृत्त होने की इच्छा होने लगती है, फिर जाने के लिए कोई न कोई कारण ढूँढते हैं।

कुछ स्वयंसेवकों, कार्यकर्ताओं एवं सहानुभूति रखनेवालों के मन में विचार उठता है कि जिन कारणों से यह संकट आया है, उन्हीं को दूर क्यों न करें? यही सोचकर उन्होंने कारण खोजे। बहुत बड़ा कारण ध्यान में आया कि अपने देश में चलनेवाले जो अन्य राजनैतिक कार्य हैं, जिनपर सरकार भी हाथ नहीं उठाती, उसी के अनुसार यदि हम अपने कार्य को परिवर्तित कर दें तो अच्छा हो। प्रतिबंध-काल में यह विचार अपने कितने ही स्वयंसेवकों के मन में आया था। उस समय बहुत बड़े-बड़े लोगों ने यही कहा कि आप एक राजनैतिक संस्था के रूप में सामने आएँ तो ज्यादा

अच्छा रहेगा। इस रूप में न आने का कारण क्या है, क्या नहीं– इसका लोगों को पता नहीं है इसलिए व्यर्थ ही संदेह करते हैं कि ये लोग बड़े खतरनाक हैं, भूमिगत रहकर उथल-पुथल करनेवाले हैं आदि-आदि। आप स्पष्ट रूप से काम करें तो कोई मनाही नहीं, हिंदू के नाम से ही कार्य करें तो भी आपत्ति नहीं, यह बात किसी छोट-मोटे नगण्य व्यक्ति ने नहीं, स्वयं सरदार पटेल ने कही, याने उनकी यह इच्छा थी कि हम एक राजनैतिक संस्था के रूप में कार्य करें। शायद यह कहने में उनका यह भी अनुभव होगा कि राजनैतिक संस्थाओं का दौर्बल्य इनमें भी आ जाए। जैसे उन संस्थाओं के कार्यकर्ता परस्पर ईर्ष्या, स्पर्धा एवं लिप्सा में लिप्त रहते हैं, उसी प्रकार इनके यहाँ भी उत्पन्न होकर इनका ठोस आधार समाप्त हो जाएगा। शायद यह भी उन्होंने सोचा हो कि राजनीति में समय-समय पर जो अनेक समझौते करने पड़ते हैं, उनके कारण कभी-कभी ध्येय को भी एक ओर रखना होता है, भूल जाना पड़ता है। वैसा ही इनमें भी हो जाएगा। जैसा हम देखते हैं, सन् १९२९ में पं. जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस के प्रेसीडेन्ट के नाते यह घोषणा की कि हम Dominion status (स्वतंत्र अधिराज्य मान्यता) नहीं लेंगे। उससे हमारा समाधान नहीं होगा। यद्यपि उसके कुछ दिन पूर्व उनके पिता पं. मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस के अधिवेशन में यह मान लिया गया था कि स्वतंत्र अधिराज्य ही अपना लक्ष्य होना चाहिए। परंतु उनके पुत्र उस समय युवकों के नेता माने जाते थे। अतः उन्होंने कांग्रेस का एक स्वतंत्र अधिवेशन बुलाकर प्रस्ताव पारित किया कि हमें स्वतंत्र अधिराज्य से संतोष नहीं होगा, अपितु पूर्ण स्वतत्रंता से ही समाधान होगा। परंतु कुछ समय पश्चात् हुआ क्या? जब अंग्रेज भारत से जाने लगे तो उन्होंने जो कुछ दिया, अर्थात् स्वतंत्र अधिराज्य रूपी तथाकथित स्वातंत्र्य उसे ही स्वीकार करना पड़ा। राजनीति में चाहे इसे ध्येयानुकूल परिवर्तन कहें, तो भी यह Dilution (च्युति) है। इसीलिए उन्होंने (सरदार पटेल –सं.)सोचा होगा कि इनका रूप परिवर्तित हो जाने से इनकी कट्टरता, जो आज है, नहीं रहेगी; थोड़े च्युत हो जाएँगे।

वास्तव में उस समय केवल एक ही झगड़ा रह गया था कि हम किस रूप में प्रकट हों– जैसा अभी तक चलता है, उसी संघ रूप में अथवा एक नए राजनैतिक दल के रूप में? हमने कहा कि इसी रूप में रहेंगे। अंततोगत्वा उनकी इच्छा न होते हुए भी अपने को संघ के रूप में ही रखा। यह विचार केवल उनका ही नहीं था, अपने भी अनेक लोगों के मन में

आया था कि क्यों न संघ को दूसरे रूप में परिवर्तित किया जाए? आखिर रूप कोई भी हो, कार्य तो चलेगा ही। जब सामने संकट आते हैं, तब उन्हें देखकर यह विचार उत्पन्न होता है कि क्या हमें अपने ध्येय में, कार्य की नीति में, अपनी पद्धति में, कोई विशेष परिवर्तन करने की आवश्यकता है?

इन सब बातों को आँखों के सम्मुख रखकर हम यह कह सकते हैं कि संकटों से मुक्त अपना जीवन आज भी नहीं है। कब कौन-सी आपत्ति अपने ऊपर आ सकती है, कहा नहीं जा सकता। मेरी दृष्टि से यदि पहले परकीय शासकों से संकट था, तो अब अपने ही देशवासियों के राज्य से आनेवाले खतरे हैं। बीच में जो आपत्ति अपने ऊपर आई थी, उसका उल्लेख करते हुए हमने कहा था कि अब अपने कार्य के अंदर बाधाएँ बढ़ेंगी और उन बढ़ती हुई बाधाओं का सामना करना पड़ेगा। यह बाधा परकीयों से नहीं तो जिन्हें हम स्वकीय समझते हैं, वे ही अपने कार्य में बाधाएँ खड़ी करेंगे। अत्यंत परिश्रमपूर्वक उन बाधाओं से टकराकर भी हमें अपने कार्य की प्रगति करनी है। संकट आते ही रहेंगे, उन संकटों के निराकरण के मार्ग भी समय-समय पर निर्माण करने पड़ेंगे। परंतु एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि संकटों का निराकरण करते हुए भी अपने कार्य का विस्मरण नहीं होना चाहिए।

अनुभवसिद्ध कार्यपद्धति

अपना कार्य, अपनी पद्धति बहुत सोच-समझकर बनाई गई है। अपना यह भी अनुभव है कि संगठन इसी पद्धति से संभव हो सकता है। अन्य पद्धतियों का विचार भी संगठन प्रारंभ करने के पूर्व अपने सामने आया था। भिन्न-भिन्न विचार लोगों के मन में आए थे। कुछ लोगों के मन में आया कि गुप्त क्रांतिकारी संस्था के रूप में हम कार्य करें। कुछ के मन में आया कि एक गुप्त राजनैतिक संस्था के रूप में हम आगे चलें। अर्थात् संघ की वर्तमान रचना के संबंध में उसे प्रारंभ करते समय, संघनिर्माता के मन में कई विचार आए। कभी उन्होंने सोचा कि क्या इसे एक सर्वसामान्य संस्था के रूप में चलाएँ? इसका एक अध्यक्ष-उपाध्यक्ष बनाकर छोटी-छोटी वार्ड कमेटियाँ बनाई जाएँ। स्थान-स्थान पर स्वाध्याय-मंडल (Study circles) प्रारंभ किए जाएँ, इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार उनके मन में रहते थे। Study circle, debating society, साप्ताहिक बैठकें आयोजित करके भिन्न-भिन्न विषयों पर चर्चा के कार्यक्रमों को भी उन्होंने पूर्वकाल में

अपनाकर देखा था। यह सब करने के बाद और उस सबको छोड़कर उन्होंने ही संघ की वर्तमान कार्यपद्धति का निर्माण किया। वे पद्धतियाँ भी कुछ मात्रा में उपयुक्त होती हैं, परंतु राष्ट्र में एक ठोस संगठित शक्ति, जो सब प्रकार की आपत्तियों में अपने जीवन को ठीक रखकर राष्ट्र के अंदर नवचेतना निर्माण कर सकती है, का सामर्थ्य उनमें नहीं था। उसकी पात्रता संस्कार-ग्रहण करने के दैनिक कार्यक्रमों में ही है। यही निष्कर्ष इन सब विचारों में दिखाई देता है। अतः समस्त संकटों में अपने मन में भिन्न-भिन्न विचारों के उठते हुए भी हमें इसी निश्चय पर अटल रहना चाहिए कि अपनी यह पद्धति और व्यवहार ही राष्ट्र में ठोस शक्ति के निर्माण के लिए उपयुक्त है। अन्य कोई भी मार्ग ठीक नहीं। हमें यही विचार आग्रहपूर्वक अपने अंतःकरण में जागृत रखकर, समय-समय पर यदि आवश्यक हो तो इसके साथ ही अनेक सामयिक बातें करते रहना चाहिए।

दोष मार्ग का नहीं

कभी-कभी एक बड़ा संदेह उत्पन्न होता है कि २८ वर्ष तक कार्य होने के पश्चात् भी कितने लोगों ने इससे संस्कार ग्रहण किए हैं? कितने लोगों के जीवन में परिवर्तन एवं राष्ट्रभक्तिपूर्ण चारित्र्य प्रकट होता है? कितने लोगों के हृदय में बंधुता का वास्तविक भाव उत्पन्न हुआ है? कितने लोग अपने अंतःकरण में यह भाव उत्पन्न कर पाए हैं कि संपूर्ण हिंदू समाज मेरा है। इसके अंग-प्रत्यंग से मेरा आत्मीय संबंध है? कितने लोगों की यह धारणा बन चुकी है कि चारित्र्य के जिन श्रेष्ठ आदर्शों का हम यहाँ आह्वान करते हैं, उपदेश देते हैं, निर्माण का प्रयत्न करते हैं, वे अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में भी व्यक्त हों। व्यापार अथवा परिवार, प्रत्येक क्षेत्र में जिस सच्चाई की अपेक्षा एक स्वयंसेवक के नाते की जाती है, उसे पूर्ण मात्रा में प्रकट करें। अनेक लोग इस प्रकार का प्रश्न पूछते हैं। जैसे– एक कार्यकर्ता ने कहा कि काहे के संस्कार डालते हो, यह संस्कार जीवन में तो दिखते नहीं, क्योंकि अमुक-अमुक कार्यकर्ता कालाबाजारी करता है। इसमें कोई संदेह नहीं। मुझे पता है एवं अन्य लोगों को भी पता है कि प्रतिबंध-काल में जब मैं कारागार गया तो पुलिस के एक आदमी ने कहा कि आपके अमुक व्यक्ति को तो मैंने कालाबाजारी करते हुए पकड़ा है। अर्थात् इस प्रकार संदेह लोगों के मन में उत्पन्न होता है। मैंने उस कार्यकर्ता को उत्तर दिया कि हमारा संस्कार उस व्यक्ति के लिए असफल हो गया है, ऐसा मैं स्वीकार करता हूँ, परंतु इसका यह मतलब नहीं कि

संस्कार डालना ही व्यर्थ है। रोग का इलाज करते समय यदि कुछ रोगी मर जाते हैं, तो क्या रोग का इलाज करना ही व्यर्थ है? यह विचार ठीक नहीं है।

संस्कार निर्माण करना अपना कार्य है। अन्यत्र कहीं संस्कार दिए जाने की व्यवस्था नहीं है। उसका एकमेव उत्कृष्ट मार्ग हमारे पास ही है। यदि उस मार्ग पर चलते हुए हम कुछ मात्रा में असफल रहे तो वह मार्ग का दोष नहीं है। उन संस्कारों को सफल करने के लिए जिस मात्रा में प्रयत्न करना चाहिए, वह हमने नहीं किया, यही समझना चाहिए। अतः हमारे प्रयत्न अधिक तीव्र हों– यही विचार हमें करना चाहिए। अपने संपर्क में आनेवाले प्रत्येक मनुष्य के बारे में हमें विचार करना चाहिए कि अपने संपर्क में आने के पश्चात् भी वह अपने सद्भावों को ग्रहण करता है कि नहीं। अपने प्रतिदिन के जीवन में परिवर्तन करता है या नहीं। उस प्रकार का परिवर्तन करने के लिए जितना उद्यम चाहिए, वह करना अपने लिए आवश्यक है। इसलिए यदि संकट आए भी तो अपने हृदय को विचलित न होने देते हुए अपने कार्य के स्वरूप के बारे में, जिसे विचारपूर्वक निर्धारित किया गया एवं जिस पर वर्षानुवर्ष विश्वास धारण कर हमें प्रसन्नता का अनुभव हुआ है, उस स्वरूप पर अपना दृढ़ निश्चय केंद्रित कर संकटों के निराकरण का विचार करें। फिर चाहे वे संकट किसी भी प्रकार के हों, उन सबमें अपने अंतःकरण के भाव को विचलित नहीं होने देना चाहिए।

संकट अंदर ही हैं

यह बात हमें अवश्य माननी चाहिए कि बाहर के संकटों का कोई महत्त्व नहीं है। वे नगण्य हैं। वास्तविक संकट तो अपने अंदर से ही आता है। डाक्टर साहब कहते थे कि बाहर की कोई ताकत नहीं, जो संघ को नष्ट कर सके। स्वयंसेवक ही अपने दुर्गुणों से इसे नष्ट कर सकता है। क्योंकि सबसे अधिक कर्तृत्ववान होने के कारण संघ के लिए हानिकारक चारित्र्य-निर्माण करने की पात्रता भी उसमें होती है। विचार करें अपना अनुभव क्या है? संघकार्य को किस बात से हानि हुई है? प्रतिबंध के कारण हुई है क्या? तो जवाब मिलेगा कि नहीं, हमने स्वयं ही अपनी निष्ठा को इधर-उधर के मार्गों में लगाया। इस कारण बाह्य संकटों के समय अपने कार्य को बढ़ाने का जो आवेश रहना चाहिए था, वह नहीं रहा। उस आवेश की कमी के कारण बाहरी संकटों के आने पर अपने इस सच्चे कार्य से

जो धर्म की प्रेरणा देनेवाला है, मुक्त होने अथवा भाग जाने की इच्छा उत्पन्न हुई। यह भाव नहीं आया कि संकट है तो आनंद की बात है, इस संकट के बीच भी मैं कार्यकर्ता के निर्माणकर्ता के रूप में अपना कार्य आगे बढ़ाऊँगा। यह आत्मविश्वास का भाव, धैर्य से संकटों पर विजय पाने का भाव जब कार्यकर्ताओं के मन में रहता है, तो संकट टिक नहीं पाते। परंतु जो इस भाव को छोड़ देते हैं, वे न तो इन संकटों को दूर करने में सफल हो सकते हैं और न ही कुछ निर्माण कर पाते हैं। चारों ओर का दृश्य देखने पर आज यही अनुभव आता है। अतः अंतःकरण में यही भाव रहना चाहिए कि भिन्न-भिन्न आपत्ति आने पर भी अपने कार्य का योग्य विकास करते हुए इस पद्धति को सफल करना है। इसमें यत्किंचित भी कमी न आए। समय-समय पर इधर-उधर विचलित करनेवाले कार्य भी हमारे समक्ष चलते दिखाई दें, तो उसका यह अर्थ नहीं कि हम अपने मूल कार्य से हटने की तैयारी कर रहे हैं। उदाहरणार्थ- कुछ समय पूर्व हमने गौ-हत्या निषेध के लिए हस्ताक्षर संग्रह किया था। उसे देखकर कई लोगों के मन में आया कि अब संघवालों के मन में सार्वजनिक पद्धति से रचनात्मक कार्य करने की भावना आ रही है। धीरे-धीरे इनकी प्रगति हो रही है। शनैः-शनैः यह खेती आदि के क्षेत्र में भी कुछ करने लगेंगे। अब इनके शाखा कार्य में कुछ विशेष दम नहीं है। परंतु हमारा विचार क्या है? हम संघकार्य की दृष्टि से ही विचार करते हैं। इन कार्यों के द्वारा भी अपने कार्य का पोषण अधिक मात्रा में हो यही विचार अपने सामने रहता है। सर्वसामान्य समाज के मन में संघ के विषय में जो भ्रांतियाँ हैं, वे नष्ट होकर उन लोगों का आकर्षण संघकार्य की ओर हो, उनके मन में अपने कार्य के लिए श्रद्धा उत्पन्न हो, इसके लिए जो कुछ भी करने की आवश्यकता है, वह सब सामयिक साधन के रूप में अपनाकर, हम चारों ओर अपने कार्य का प्रसार कर सकें, यही हमारा उद्देश्य रहता है।

विवेकहीन शुष्क तर्क

उदाहरणार्थ- अभी मैं बिहार-प्रवास पर गया था। वहाँ एक स्थान पर एक सज्जन ने अपने गणवेश पर टीका की। उन्होंने कहा कि यह भारतीय संस्कृति के अनुसार कहाँ तक मेल खाती है?' मैंने कहा, 'हमने मेल बैठा लिया है, इसलिए मेल खाती है, उन्होंने कहा- 'कैसे' मैंने कहा कि 'जो गुण हमें चाहिए, उन्हें उत्पन्न करने के लिए जो-जो आवश्यक है,

वही हम करते हैं, अन्य कुछ सोचते नहीं।' उनको स्पष्ट कहा कि 'खास आपसे तो इस विषय पर मैं कोई बात करने को तैयार नहीं हूँ, क्योंकि जो अपने जीवन में शास्त्रीय ढंग से चलते हैं, वे आकर कहें तो मैं बात कर सकता हूँ। यदि आपको इस विषय पर तर्क करना है तो शास्त्रों के अनुसार अखंड वस्त्र परिधान करना चाहिए। ब्राह्मण होकर नौकरी कर रहे हो, उसे छोड़कर भिक्षा माँग कर निर्वाह करो। फिर कहोगे, तो सुनूँगा।' उन्हें कहा कि 'तुम्हारे कहने में विवेक नहीं है। हमारे इतिहास में कहा है कि एक बार हिंदुस्थान पर आक्रमण करनेवालों ने हमारे राष्ट्र के रक्षक सैन्य के सामने गायों को खड़ा कर दिया था। हमारे सैनिक असमंजस में पड़ गए कि हमला करते हैं तो इतनी गायें मरती हैं। इसलिए वे इस ताक में रहे कि कब गायें हटें और कब हम हमला करें। इस बीच शत्रु ने हमला कर उनकी कमर तोड़ दी। हम विचार करें कि उस समय हमारा कर्तव्य क्या था। भले ही गायें मर जाती, पर शत्रु की इस चाल को सफल नहीं होने देते।' अब उन्हें यह बात समझने में बड़ी कठिनाई हुई। वे बोले 'आप गोरक्षक होकर ऐसा बोलते हो।' मैंने उन्हें दूसरा उदाहरण दिया और कहा कि 'आप तो बड़े धार्मिक सज्जन लगते हैं। आपके आदर्श भगवान श्रीकृष्ण और उनके भाई बलदेव का ही उदाहरण है। गोकुल में बहुत गड़बड़ मचाने वाले एक बैल को बलदेव ने मार डाला था। इसका उल्लेख भागवत पुराण में है।' अब हम विचार करें कि बैल को मारना गऊ हत्या के समान ही पातक होने पर भी लोग उन्हें आदर्श मानते हैं। अंत में उन्होंने कहा कि 'हम उनके अनुयायी हैं, तुम्हारे नहीं।'

हमारा लक्ष्य

अपना लक्ष्य क्या है? अपना लक्ष्य एक ऐसे प्रबल राष्ट्र का निर्माण करना है, जो मानव-समाज की उत्तम धारणा लेकर चले, जो संपूर्ण मानवों में परिवर्तन कर भौतिकता से भरे हुए आदर्शों को शुद्ध आध्यात्मिक आधार देकर वैभव के साथ-साथ शुद्ध आध्यात्मिक जीवन का समन्वय कर सके एवं उस आदर्श की पुनर्स्थापना पूरी पृथ्वी पर कर सके। इस राष्ट्रनिर्माण के लक्ष्य के लिए जो कुछ भी उपकारी एवं सहायक हो, वही हमारा धर्म है और जो अपकारक है, वही अधर्म है। क्योंकि अपने यहाँ धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि भगवान का दर्शन जिसके कारण हो, वह धर्म और जिसके कारण बाधा आए, वह पाप। यह राष्ट्र जो अपने सामने खड़ा

है, वही परमात्मा का व्यक्त रूप है। भगवान के स्वरूप का वर्णन करते हुए अपने यहाँ स्पष्ट कहा गया है 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' (ऋग्वेद– १०-९०-१)। उस व्याख्या के अनुसार समाजरूपी भगवान की पुनर्स्थापना जगत् में करने का जो हमारा संकल्प है, वही धर्म है, अन्य सब अधर्म है। इसी नियम के अनुसार, अपने कार्य में आनेवाली बाधाओं को हटाने की दृष्टि से जो काम किया जाए, वही धर्म है।

सच्चा विधायक कार्य

इस कुंभ मेले के अवसर पर अन्य लोगों ने एक गौहत्या- निषेध सम्मेलन किया था। कोई संबंध न होते हुए भी सब लोगों के आग्रह पर मुझे वहाँ जाना पड़ा। बहुत से लोग वहाँ भाषण देनेवाले थे। गौहत्या-बंदी का प्रस्ताव पारित कर सभी ने बोलना प्रारंभ किया। उनके भाषणों के पश्चात् मुझे बोलने को कहा गया। मुझे लगा कि इन सब भाषणों के पश्चात् मेरे बोलने का कोई लाभ नहीं, क्योंकि उनके भाषणों में बड़ा आनंद और जोश रहता है। कई तो अपना सिर कटवाने को भी तैयार हो गए थे। अतः मैं बोलना नहीं चाहता था, परंतु अपने कार्यकर्ताओं के आग्रह के कारण मुझे बोलना पड़ा। पता नहीं, मैंने जो कुछ कहा उन्हें समझा या नहीं, किंतु इस आंदोलन से संघ का जो कुछ भी संबंध है, वह रखने का प्रयत्न पूर्ण रूप से किया। आपके ध्यान में भी आता होगा कि यह आंदोलन आदि तभी पूर्ण होने वाले हैं अथवा भारतीय जीवन सच्चे अर्थ में स्वतंत्र तभी होने वाला है, जब यहाँ के राष्ट्रजीवन का अंग-प्रत्यंग प्राचीन राष्ट्रभाव से, हिंदूभाव से ओतप्रोत होगा। हिंदू का प्रभुत्वसंपन्न सच्चा स्वराज्य निर्माण होगा, तभी सब समस्याओं का हल हो सकेगा, अन्यथा नहीं। अर्थात् अपना लक्ष्य तो प्रबल राष्ट्र का निर्माण करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति की राह में समय-समय पर आनेवाले बौद्धिक, मानसिक एवं भावात्मक संकटों के निराकरण के लिए होनेवाली अनेक बातों के कारण अपने मन में भ्रम उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि अब हमने विधायक कार्य स्वीकार कर लिया है। अपना विश्वास राष्ट्र के हृदय के पुनर्निर्माण पर है, राष्ट्र-सामर्थ्य के पुनर्जागरण पर है। राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति के रोम-रोम में राष्ट्रभक्ति जगाने के लिए अपनी समस्त शक्ति व जीवन लगाऊँगा। केवल मरना यही सेवा का लक्षण नहीं, तो जीना भी लक्षण है, इसे समझकर सारे जीवन को राष्ट्र की सेवा में बिताऊँगा। इस प्रकार के

राष्ट्रभाव के जागरण के कार्य के अतिरिक्त कोई अन्य विधायक कार्य मेरे सामने नहीं है। इसमें सब कुछ आ जाता है।

इस लक्ष्य पूर्ति के लिए अपने कार्य का जो निर्धारित स्वरूप है, जिसके अंदर विशिष्ट संस्कारों को गहरा करते-करते, उसे व्यवहार में परिणत करने की प्रेरणा देने की व्यवस्था है, उसी स्वरूप को अधिकाधिक मात्रा में सफल बनाने का हम सबको प्रयत्न करना चाहिए। कुछ समय के लिए कम-ज्यादा होने पर पीछे हटना पौरुष का लक्षण नहीं अथवा परिवर्तन करने की इच्छा होना भी पराक्रम का लक्षण नहीं है। यदि हमने अपने मार्ग को विचारपूर्वक ग्रहण किया है तो उसपर अडिग रहना पराक्रम का लक्षण है। चाहे जितनी भी बाधाएँ आएँ, हम सफल होकर ही रहेंगे। भले ही किसी-किसी व्यक्ति के ऊपर अपनी इच्छा के अनुरूप सुसंस्कार न हो सके, तथापि इसी मार्ग से हम संस्कार डालेंगे।

संस्कारक्षमता पर अटल विश्वास

जहाँ तक संस्कारों का प्रश्न है, वे कितने ही लोगों पर असफल हुए हैं। ऐसे बड़े-बड़े उदाहरण अपने सामने हैं कि कितने ही अच्छे-अच्छे स्वयंसेवक संघ-विरोधी के रूप में खड़े हैं, ऐसा अनेक प्रांतों का अपने को अनुभव है कि जिनकी प्रेरणा से हमने कार्य किया, जिनके लिए बड़ा आदर रखा, वे ही आज संघकार्य से निवृत्त हो गए हैं या विरोधी हैं। इस कार्य के प्रति अपना विश्वास खोकर कार्य करने की प्रवृत्ति छोड़कर वे छोटे-छोटे कार्य की ओर प्रवृत्त हो गए हैं। यह सब देखने के बाद भी हमें अपने अंतःकरण में यह दृढ़ विश्वास रखकर चलना चाहिए कि अपने कार्य में पर्याप्त मात्रा में तेजस्विता एवं संस्कारक्षमता उत्पन्न करेंगे। चाहे जिस प्रकार के संकट अपने सामने खड़े हों, असफलता के चाहे जितने बड़े उदाहरण अपने सामने आएँ, परंतु हम इसको सफल करके ही रहेंगे। ऐसा निश्चयात्मक विचार लेकर चलेंगे, तभी सफलता मिलेगी। नहीं तो उस रोगी जैसी अवस्था होगी, जो बुखार हो जाने पर जल्दी-जल्दी दवाई बदलकर स्वयं ही मृत्यु का कारण बनता है। राष्ट्र के पुनर्निमाण का यह महान कार्य एक बार हाथ में ले लेने के बाद 'यह करूँ या वह करूँ' की दुविधा उत्पन्न होने पर राष्ट्र-निर्माण का कार्य कभी भी नहीं हो सकेगा। कुछ तो होगा ही, पर हमारा यह विचार कि हम हिंदू राष्ट्र को इतना तेजस्वी और समर्थ बनाएँगे कि वह संसार के ऊपर अपनी एड़ी रख सके– संभव न हो

सकेगा। इसलिए अपने को विचार करना चाहिए कि चाहे जितने बाह्य संकट आएँ, मन को विचलित करनेवाली परिस्थिति उत्पन्न हो, हम अपने अंतःकरण को दृढ़ रखेंगे।

मुझे स्मरण आता है कि एक बार संघ के विरोध में अकोला के एक वृत्त-पत्र ने एक बड़ी लेखमाला लिखी। उसे पढ़कर वहाँ के तत्कालीन संघचालक श्री गोपालराव चितले, जिनका अब देहांत हो गया है, को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने सोचा कि इसका जवाब देना चाहिए। वे उस पत्र की प्रतियाँ इकट्ठी कर डा. साहब के पास नागपुर आए। भावना के आवेश में उन्हें ज्वर तक चढ़ गया था। डाक्टर साहब हमेशा की भाँति बिस्तर लपेटकर उसकी तकिया लगाकर बैठे हुए थे। आने का कारण पूछने पर चितले जी ने दुःख के साथ वे समस्त प्रतियाँ निकालकर उनके सामने रख दीं और पूछा कि आपने यह लेखमाला पढ़ी या नहीं। डाक्टर साहब ने उस वृत्त-पत्र के नाम को देखकर कहा– 'इसका एक-एक अक्षर अच्छी प्रकार से पढ़ा है। अरे! इसका उत्तर क्या देना, इसके कारण हमारी बैठक में खूब आनंद आता है। इसलिए हमने सोचा कि अभी ऐसा ही चलता रहे तो बैठक में बड़ा आनंद रहेगा।' अब गोपालराव विस्मय मे पड़ गए, क्योंकि वे तो क्रोध के कारण आए थे। लेकिन, यहाँ तो उसी से दिल बहलाया जा रहा था। डाक्टर साहब ने उनको समझाया कि हम लोग किसी को जवाब नहीं देते। इसके बारे में चिंता करने की जरूरत भी नहीं है। इस प्रकार उन्हें समझा-बुझाकर शांत किया।

यही बात अपने को ध्यान में रखनी चाहिए कि हम किसी की बात का जवाब नहीं देते। जब आवश्यकता होगी तो देंगे। कोई चाहे जैसे प्रस्ताव पास करे, चाहे जैसी ऊटपटाँग बातें करे, हम उनका उत्तर नहीं देंगे। दूसरे की देखा-देखी हम कुछ नहीं करेंगे। दूसरे के प्रत्युत्तर में हम भी विवाद खड़ा करें, यह ठीक नहीं। इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं। अनेक बार तो अनेक आपत्तियाँ केवल मौन से ही टल जाती हैं। उत्तर देकर क्यों हम उनकी ताकत को बढ़ाएँ। हमें अपने कार्य एवं कार्यपद्धति के बारे में पूर्ण विश्वास लेकर चलना चाहिए। जो हमारे विरुद्ध कुछ लिखते हैं, उन्हें लिखने दें। हम अपना प्रचार करेंगे, उनके प्रचार का उत्तर नहीं देंगे। दृढ़ विश्वास हृदय में लेकर अपना कार्य अपने ढंग से सुचारु रूप से करते रहेंगे। अपने काम के बारे में इतना विश्वास रखें कि इसी से संस्कार देकर प्रत्येक मनुष्य को श्रेष्ठ बनाएँगे। यह विश्वास हृदय में होने के कारण ही हमने बाकी

बातों को नगण्य माना है। यदि लोग हमारे पास आकर कहते हैं कि शाखा में क्या करते हो? जरा कुआँ खोदो। तो कहेंगे कि जब आवश्यकता होगी तो खोदेंगे, अभी से क्यों खोदें?

अपनी इच्छा से कार्य

अपने सामने एक श्रेष्ठ कार्य है– राष्ट्रभक्त मनुष्य बनाना एवं स्वयं बनना। फिर व्यर्थ प्रश्नों, जैसे– मनुष्य का अंतर्जातीय विवाह होना चाहिए कि नहीं, का विचार करना अपना काम नहीं। यदि कोई इस प्रकार से पूछता है तो कह देना चाहिए कि हमने दुनिया भर के प्रश्नों का उत्तर देने का ठेका ले रखा है क्या? कभी लोग पूछते हैं कि पानी कहाँ से लाएँ कुएँ कैसे खोदें? खेती के लिए अच्छा खाद कौन-सा है, आदि। कभी लोग कहते हैं कि मनुष्य को शिक्षा देनी चाहिए उसके लिए नया शिक्षाक्रम बनाना चाहिए। तो उन्हें बताना चाहिए कि क्या करना चाहिए, इसका विचार हम स्वयं करेंगे। जो कुछ करना होगा, अपनी इच्छा से करेंगे, तुम्हारे कहने से नहीं। हम अपनी इच्छा से यह कार्य करते हैं, अपनी ही प्रेरणा के सहारे अन्य कार्य भी करेंगे। दूसरों के कहने में आकर नहीं। यदि मरीज कहे कि इस समय मुझे यह दवाई दो, तो वैद्य कहेगा कि तुम्हें जरूरत नहीं, इसलिए नहीं दूँगा। वैसा ही अपने को भी कहना होगा, उत्तर नहीं देंगे। हम लोगों ने भी राष्ट्र की नब्ज देखी है, उसका उपचार करने का सोचा है। अब कोई कहे कि राजनीति करो, संगठन छोड़कर शिक्षा का प्रबंध करो, दवाखाने खोलो, तो उनके कहने में आकर हम नहीं करेंगे। प्रवाह के झकोरे में नहीं बहेंगे। हमें जो कुछ करना है, जो उचित है, आवश्यक है, वही करेंगे। एक महान लक्ष्य अपने सामने है। संसार की दुष्ट प्रवृत्तियों के मन में अपने राष्ट्र से टकराने की हिम्मत न हो, यदि वे टकराएँ तो अपने ही भाग्य को दोष दें, हमको दोष न दे सकें, यह अनुभव उन्हें हो– ऐसा अभेद्य, सुदृढ़, सामर्थ्य अपने राष्ट्र में निर्माण करने का यह एकमेव कार्य अपने सामने है। शेष सब अपनी इच्छा से चाहे तो करेंगे, चाहे तो नहीं करेंगे। राष्ट्र की उन्नति के लिए जब ठीक जँचेगा, तभी करेंगे।

अभी तो इतना ही सोचना चाहिए कि हमने राष्ट्र के सामर्थ्य-निर्माण का जो कार्य अपने सामने रखा है, उसे पूर्ण किए बिना कोई कार्य नहीं करेंगे। अपने इस कार्य का प्रभाव समाज के अंग-प्रत्यंग पर डालने के लिए जिस बात की हमें सर्वप्रथम आवश्यकता प्रतीत होती है, उसी के बारे

में हम सोचते हैं। जीवन के अंग-प्रत्यंग पर पूरा प्रभाव पड़ जाने पर भी जिसकी आवश्यकता कभी कम नहीं हो सकती, वह याने चारित्र्यसंपन्न राष्ट्र के लिए आत्मसमर्पण करनेवालों का देशव्यापी, सुसंगठित, प्रबल सामर्थ्य। उसी पर अपना ध्यान केंद्रित कर हम चलते हैं। वही लक्ष्य, वही कार्यक्रम, सब प्रकार की परिस्थितियों में अपने मन को दृढ़ करके चलना चाहिए। सोच-विचारकर जो कार्य हाथ में लिया है, जो पद्धति अपनाई है, उसी के लिए विचारपूर्वक एक-एक कदम आगे बढ़ाएँगे। यदि उसमें अपेक्षा से कम सफलता दिखाई देती है तो वह भी अपने कार्य करने की आवेशयुक्त भावना की कमी के कारण है, न कि पद्धति के दोष के कारण। मन में यह योग्य विचार करते हुए हमें अपनी संपूर्ण शक्ति अपने ढंग से अपने कार्य में लगानी चाहिए।

९. सर्वांगपूर्ण संघकार्य

(१४ मार्च १९५४)

पिछले कुछ वर्षों से संघकार्य के साथ-साथ और भी कुछ कार्य चल रहे हैं। उदाहरणार्थ– कुछ वर्ष पूर्व अपने प्रयत्नों से वृत्त-पत्र, पाठशालाएँ, दवाखाने आदि आरंभ हुए हैं। ये व्यवसाय की दृष्टि से नहीं किए गए, अपितु अपने कार्य के प्रचार का साधन, उसके ही स्वरूप या उसमें से ही निकलनेवाले उपांग हैं। अनेक स्थानों पर जनसेवा के कार्य भी किए हैं। विचार आता है कि यह सब कार्य क्यों किए? क्या दैनंदिन शाखा के रूप में जो कार्य चलता है, उसमें किसी त्रुटि का अनुभव कर यह कार्य किए हैं? हम तो कहते थे कि हमें वृत्त-पत्रीय प्रचार से मतलब नहीं, तथाकथित विधायक कार्यों में विश्वास नहीं। फिर इस प्रकार के कार्यों का और अपने मूल कार्य का सामंजस्य कैसा? इस प्रश्न को अनिर्णित छोड़ना ही अच्छा है, क्योंकि यदि वर्षानुवर्ष संघ का कार्य करते हुए भी हम यह न समझ सकें कि अपने कार्य की रचना त्रुटिपूर्ण नहीं, तो आज मेरे कहने से समझेंगे– ऐसा मेरा विश्वास नहीं। किंतु सिद्धांत के रूप में यह अवश्य कहूँगा कि संघकार्य स्वतंत्र ओर सर्वांगपूर्ण है। उसकी पूर्ति के लिए इन बातों की आवश्यकता नहीं है। इस संबंध में कोई विशेष युक्तिवाद देने की भी जरूरत नहीं। हम तो इसी विश्वास के आधार पर कार्य कर रहे हैं।

आक्रामक पदार्पण

किंतु प्रश्न उत्पन्न होता है कि फिर नवीन-नवीन क्षेत्रों में पदार्पण क्यों? हमें जीवन के सब क्षेत्रों में पदार्पण करके काबू पाना है। अतः यह हमारे कार्य का आक्रमण है, उसकी त्रुटि समझकर पराभव के रूप में किए गए काम नहीं। यदि यह सब पराभव में से ही उत्पन्न हुआ है, तो इन्हें चलाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पराभूत अंतःकरण कुछ नहीं कर सकता। फिर उसका लाभ भी क्या होगा? सत्य तो यह है कि यह हमारे पराभव का परिणाम नहीं है। यदि हम थोड़ा पीछे देखें तो ज्ञात होगा कि हमने वृत्त-पत्र तो तब चलाए, जब संघकार्य जोर-शोर से बढ़ रहा था। प्रतिबंध के रूप में कोई खंड नहीं पड़ा था। उस समय तो ऐसी स्थिति थी कि जहाँ कहीं खड़े हो जाते थे, वहाँ शाखा स्थापित हो जाती थी। मिट्टी को हाथ में लिया तो वह सोना हो जाता था। अतः कार्य की असफलता का अनुभव करके वृत्त-पत्र नहीं चलाए, बल्कि सफलता के बाद योजनापूर्वक उन्हें प्रारंभ किया। 'यह हमारा हिंदू राष्ट्र है'– केवल इसका समर्थन और प्रकट संरक्षण ही हमारा कार्य नहीं है, अपितु इसका विकास और विस्तार भी हमारा लक्ष्य है। आत्मरक्षा तो कोई बड़ा ध्येय नहीं है। आत्मरक्षा भी करनी हो तो उसका सर्वोत्तम उपाय आक्रमण ही है। जीवन के सभी क्षेत्रों में संघ का प्रभाव रहेगा, केवल उसके विचार का नहीं, तो प्रत्यक्ष कार्य एवं उसकी रचना का प्रभाव निर्माण करने का हमारा विचार है। उसको जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट करने की ही यह नीति है।

वृत्त-पत्रीय क्षेत्र को ही लें। किस प्रकार आदर्शविहीन होकर वे चल रहे हैं। उनमें कितनी गंदगी तथा कितना निम्न स्तर है। चारों ओर चलनेवाली इस बुराई पर आक्रमण करने के लिए ही हमने उसमें प्रवेश किया है। हमारे उस क्षेत्र में काम करनेवाले कार्यकर्ताओं, जिनमें कई प्रचारक हैं और कई न्यूनतम, जीवन-निर्वाह योग्य वेतन लेकर कार्य करते हैं, को इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए। कई बार जब मुनष्य कोई कार्य आरंभ करता है तो उसे उसकी धुन सवार हो जाती है, बाकी की बातें वह भूल जाता है। फिर किसी भी प्रकार समाचार-पत्र चलाना चाहिए, यह सोचकर भला-बुरा सब कुछ करते हुए, स्तर की परवाह न कर संघ के मूल स्रोत से अलग हटकर और कभी-कभी तो विरुद्ध प्रचार भी करना पड़े तो करने की भावना लेकर काम करता है। किंतु यह तो ठीक नहीं। हमें तो अपना आदर्श, ध्येयवाद, जीवन की पद्धति संघ के सर्वसामान्य कार्य के

अनुकूल बनाकर ही इन्हें चलाना होगा। उसे ही संघकार्य मानकर चलना ठीक नहीं। यदि कोई संपादन करते हुए यह सोच ले कि मेरा तो यही एक कार्य है तो ठीक नहीं। एक दृष्टि से तो वह योग्य है। जैसे कि किसी को रक्षक का कार्य दिया तो वह वहीं डटकर खड़ा रहता है, फिर यहाँ बौद्धिक में क्या चल रहा है, यह सोचने की उसे आवश्यकता नहीं। किंतु जब तक कोई आवश्यक कारण न हो या उस प्रकार का निर्देश न दिया जाए, यह सब काम हमें नित्य चलनेवाले संघकार्य के साथ ही करने चाहिए। यह तो संघकार्य के पूरक (Addition) हैं, विकल्प (Substitution) नहीं। बीमारी में मनुष्य को पथ्य के रूप में दलिया दिया जा सकता है, किंतु स्वस्थ व्यक्ति को भोजन के स्थान पर दलिया देना ठीक नहीं, भोजन के साथ दलिया दिया जा सकता है।

जो अपनी विचार-परंपरा का मूल स्रोत है, उसके साथ संबंध-विच्छेद कर यदि कोई कहेगा कि मैं उसका प्रचार करूँगा तो यह ठीक नहीं। वह असफल होकर उपहास का ही कारण बनेगा। मूल स्रोत से जीता-जागता संबंध श्रद्धा के साथ रखना होगा। जहाँ भी जाएँ, वहाँ यही सोचकर काम करें कि वहाँ संघकार्य के अनुरूप उच्चता, श्रेष्ठता, पवित्रता एवं आदर्शवादिता प्रकट हो, जिससे हम उस क्षेत्र में ही कुछ क्रांति कर सकें और संघ के प्रति जमे हुए जन-विश्वास में वृद्धि कर सकें। इसी से अन्य लोग भी अपना स्तर उठाने को बाध्य होंगे। कोई यदि यह सोचे कि ये वृत्त-पत्र संघ का प्रचार करेंगे, तो वे प्रवास के कार्यक्रम को प्रकाशित करने के अतिरिक्त और क्या कर सकते हैं। जहाँ तक संघ के विचारों का प्रश्न है, उसमें तो कोई नित्य बदलनेवाली बात नहीं है। यह हमारा समाज है, इसमें नवीनता कहाँ से लाएँ? इस प्रकार प्रचार की आवश्यकता न होने पर भी हमने इन कार्यों में इतने कार्यकर्ता क्यों लगाए? क्यों इतना श्रम, द्रव्य तथा समय लगा रहे हैं? केवल इसी विश्वास से कि अपने दिन-प्रतिदिन के काम को चलाते हुए, उसमें वृद्धि करते हुए, आगे बढ़कर अन्य क्षेत्रों में अपना प्रभाव बढ़ाएँ और वहाँ आदर्श स्थापित करें।

इतना समझा तो संघकार्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों का यथार्थ स्वरूप भली-भाँति समझा जा सकता है। जनसंघ भी संघकार्य की किसी त्रुटि को पूर्ण करने के लिए नहीं या ऐसा महान नहीं कि संघकार्य को कम करके उसे चलाया जाए? वह तो इस दृष्टि से चला है कि राजनीतिक क्षेत्र में ऐसा कार्य किया जाए, जो परस्पर ईर्ष्या, स्पर्धाविहीन एवं स्नेहपूर्ण रीति

से, उत्कृष्ट रूप से चलते हुए हमारे जीवन के शुद्ध आदर्शों को व्यवहार में लाकर उस क्षेत्र में संगठन का प्रभुत्व स्थापित करे। यहाँ तक कि उसके द्वारा संगठन संपूर्ण शासन को भी अंगुलीनिर्देश से चला सके। उस क्षेत्र में दिए हुए कार्यकर्ता को वहाँ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा संघ के एक स्वयंसेवक से अपेक्षित है। वह यह न समझे कि चलो, अब तो मैं आजाद हो गया। अब अन्य नेताओं के समान थोड़ा-बहुत अपना डिंडिम बजवाकर नाम कर लूँ और सुख-चैन से अपना जीवन बिताऊँ। उन्होंने तो उस क्षेत्र में परिवर्तन करने का महान कार्य अपने ऊपर लिया है। इस निश्चय को भुलाकर यदि राजनीति के आकर्षण में अपने जीवनादर्शों को भुलाने की गलती की तो बड़ी भारी हानि होगी।

विविध क्षेत्रों में संघ के राजदूत

लोग यह भी पूछते हैं कि उसका संघ से क्या संबंध रहेगा? स्पष्ट ही उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में आदर्श रूप से काम करने के लिए भेजा गया है। दूसरे देश में रहनेवाला अपना राजदूत जिस नीति को अपने कार्य और व्यवहार का आधार बनाता है, इसको भी वैसा ही करना चाहिए। वहाँ जाकर वह शादी-विवाह करके घर नहीं बसा लेता और न अपने राष्ट्र से संबंध विच्छेद करता है। बल्कि अपने राष्ट्र के आदर्शों की छाप उस देश पर कैसे पड़े तथा राष्ट्र के हितों का संरक्षण एवं संवर्धन कैसे हो, इसी का प्रयत्न करता रहता है। वह राष्ट्र का प्रतिनिधि होकर जाता है, इसलिए अपने व्यवहार के संबंध में कोई निम्न धारणा न बने– इसकी पूरी चिंता करता है। यहाँ भी संघकार्य की दैनंदिन उपासना में खंड नहीं पड़ना चाहिए। संघ के अनेक कार्यकर्ताओं राजनीति से संबंध आया है। हमने उन सबसे यही अपेक्षा की है कि वे दिन-प्रतिदिन चलने वाली शाखाओं में उपस्थित रहें। आज भी उस अवस्था में परिवर्तन नहीं आया है। बाहर चाहे जितनी गर्जना और नेतृत्व करें, किंतु 'दक्ष-आरम्' करने की पात्रता नहीं जानी चाहिए। स्वयंसेवकत्व के भाव से छोटे से छोटा कार्य करने की अपनी तैयारी चाहिए और उसके लिए कैमरामैन को ढूँढने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। राष्ट्र का भाव, उसकी प्रखर भावना, इसके संस्कार, शिक्षा और इन गुणों की उपासना की आवश्यकता सदैव बनी रहती है। ये तो हमारे जीवन के आधार हैं। हम कितना भी राजनीतिक कार्य करें, किंतु अपना संबंध संघ से नहीं छोड़ना है, बल्कि यही देखना है कि विविध क्षेत्रों में काम करने के परिणामस्वरूप संघकार्य का प्रत्यक्ष विस्तार हो सके और

वह अवस्था लाएँ कि बढ़ते-बढ़ते हम कह सकें कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ही हिंदू-राष्ट्र है। जिनको जनसंघ में कार्य करने के लिए दिया गया है, उनको जनसंघ का कार्य करने के लिए नहीं, अपितु जनसंघ के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र पर संघ का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए दिया है। सेनापति बाहर भेजा गया कि वह जो कुछ करता है, उसका श्रेय भेजने वाले को है तथा उसका पोषण तथा नियंत्रण करने का कार्य भी भेजनेवाले का ही है। यही संबंध रहना चाहिए। हम चाहे जहाँ रहें, हमारा जीवन संगठन के लिए समर्पित है और जितना ही हम इस स्वयंपूर्ण कार्य को बढ़ाएँगे, उतनी ही मात्रा में अपने जीवनादर्श को सभी क्षेत्रों में प्रकट करने में सफल होंगे। यही हमारे जीवन का व्यापक कार्य है और शाखा ही उस सबका मूल है। शाखा है तो सब कुछ है, लेकिन बाकी हो और शाखा न हो तो क्या होगा? क्योंकि राष्ट्रभाव के निर्माण का चिरंतन कार्य और उसपर जीवन सर्वस्व न्योछावर करने की शक्ति और कहाँ है?

जितना किया है, उसमें ही सब प्रकार के क्षेत्र समाप्त हो गए, ऐसी बात नहीं। हम आगे भी बहुत कुछ करेंगे। मैं तो कई बार गाँव में चलनेवाली शाखाओं के स्वयंसेवकों के संबंध में यही पूछता हूँ कि वे उनमें अपने अन्य सहकारियों की अपेक्षा अंतःकरण की भावना, देश की परिस्थिति का ज्ञान, सबको लेकर चलने की योग्यता तथा नेतृत्व की पात्रता अधिक है या नहीं। समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में काम शुरू करने की यह पूर्व सूचना है। यदि समाज के सभी क्षेत्रों को हमें प्रभावित करना है तो सुसूत्र, कार्य दृष्टिवाली, कितनी विशाल मानव शक्ति हमारे पास होनी चाहिए, इसका विचार करें। इस उद्दिष्ट को अपने सम्मुख रखकर, इसकी पूर्ति के साधन बनकर ही सभी क्षेत्रों में काम करें।

कई बार लोग पूछते हैं कि क्या संघ सभी क्षेत्रों पर वर्चस्व स्थापित करना चाहता है? मैं पूछता हूँ कि क्या कुछ लोगों को अपने कंधे पर चढ़ाकर उनकी जय-जयकार बोलने और उनके चरण चूमने के लिए इतना परिश्रम किया गया है। हमार विचार पराभव का नहीं, प्रभुत्व का है। यदि किसी को इसके संबंध में संदेह हो तो उसे इसका अनुभव करा देना चाहिए। हमारा संघकार्य सर्वांगपूर्ण है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भेजे गए कार्यकर्ता एक-एक क्षेत्र को जीतने के लिए भेजे गए सेनापति के समान हैं, जिन्हें संघ के दैनंदिन कार्य से जीवित संबंध रखकर अपने त्याग, तपस्या, श्रम तथा कौशल से हर क्षेत्र में नया आदर्श उपस्थित करते हुए संघ के महान लक्ष्य की पूर्ति करना है।

१०. तत्त्व और व्यवहार

(१५ मार्च १९५४)

अपने कार्य से हमारा क्या संबंध है, क्या करना, क्या न करना, उसमें कार्य करनेवाले अन्यान्य बंधुओं के प्रति कैसा भाव रखना, निष्ठा का किस मात्रा में अपने अंतःकरण में प्रकटीकरण करना, इत्यादि बातों का हम विचार करेंगे। हम लोग इस प्रकार जो निर्णय लेंगे, उसमें संघ की उचित व्यवस्था होगी, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है। व्यवहार का जो पहलू अपने सामने आता है, उसमें संघ के भिन्न-भिन्न क्षेत्र में काम करनेवाले अपने सहस्रावधि स्वयंसेवकों के साथ हमें कुछ व्यवहार करना है, इसका उपदेश न करते हुए विचार करना ही उचित होगा, ऐसा मैं समझता हूँ। कारण यह है कि आपमें से बहुतांश बंधुओं ने संघकार्य की वृद्धि का प्रयास किया है और इस संबंध में आवश्यक जानकारी रखते हैं।

सबको गूँथने का दृष्टिकोण आवश्यक

पहली बात जो हम सोचते हैं, वह यह है कि जो कार्य हमें करना है, वह है अपने बंधुओं को कार्य में संलग्न करते हुए एक सूत्र में गूँथना। तत्पश्चात् अपने कर्तव्य का ज्ञान उनमें उत्पन्न करना, जिससे कार्य करने की पात्रता उनमें एक अद्वितीय गुण के रूप में प्रकट हो। इस विषय का विश्लेषण यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। क्योंकि जिस-जिस के साथ अपना संपर्क आता है या आएगा, उसके संबंध में स्वतंत्र रूप से विचार कर आवश्यक व्यवहार हो, यह कठिन कार्य है। उस व्यक्ति को कार्य में उसका स्थान प्राप्त कराने का एक पहलू भी अपने सामने है। इसलिए उसको समझने का प्रयास करेंगे तो अच्छा होगा। अपने समाज में जितने लोग रहते हैं, उनमें उग्र संगठन का भाव तथा राष्ट्रभाव का ज्ञान योग्य रूप में नहीं रहता, यह अपने हृदय में धारण करते हुए हम चलते हैं। यह भाव क्यों उत्पन्न होता है? इसलिए कि एक स्वार्थहीन जीवन बिताने की सिद्धता हमने प्रकट की है। बाकी समाज काफी हीन जीवन व्यतीत कर रहा है, मानो उसके अंतःकरण की श्रेष्ठता लुप्त हो गई है, इस प्रकार के विचार हमारे मन में स्वभावतः प्रकट या अप्रकट रूप में स्वयं के बारे में एक धन्यता का भाव उत्पन्न करते हैं। मेरी अपनी दृष्टि में यह भाव पूर्णतः अनुचित है। मैं एक उदाहरण बताता हूँ। नागपुर में भिन्न-भिन्न उत्सवों में

कोई न कोई अच्छे व्यक्ति अध्यक्ष के रूप में आएँ, ऐसा मैं लोगों को बताता रहता हूँ। भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोग आएँ और यहाँ अध्यक्ष पद ग्रहण करें, ऐसी इच्छा रहती है। इसीलिए मैंने अपने मित्रों से कहा कि अच्छे अध्यक्ष दो। परंतु उन्हें कोई अच्छा आदमी नहीं दिखता। क्यों नहीं दिखता? इसलिए कि उनके चारों ओर जो लोग हैं, उनकी योग्यता कम है– ऐसा उनके मन का विचार हो जाता है, इसलिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की नागपुर जैसी शाखा की अध्यक्षता करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति मानो कोई नहीं है– इस प्रकार की धारणा जब कभी मुझे दिखाई दी तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि अपनी दृष्टि बहुत 'बड़ी' हो गई है। बहुत बड़ी दृष्टि हो जाने के कारण योग्य व्यक्ति दिखता नहीं। जो कुछ योग्यता दुनिया में थी, वह सब अपने पास आ गई है और बाकी सब निकम्मे, निरुपयोगी व्यक्ति ही चारों ओर फैले हैं। चाहे वे कितने ही शास्त्रों में पारंगत, विद्वान क्यों न हों, अपने को उनकी विद्वत्ता से क्या लेना, यह भावना अपने मन में उत्पन्न हो गई है। उस समय जिन-जिन स्थानों पर बातचीत करने का मौका आया, मैंने अपने बंधुओं से कहा कि ऐसा सोचना अपने लिए ठीक नहीं। यदि यह सोचा कि समाज के बाकी लोग अयोग्य हैं, तो फिर कार्य कहाँ करेंगे? कैसे और किस प्रकार कार्य हो सकेगा?

मुझे एक पुरानी बात याद आती है। अपने एक मित्र, जो स्वयंसेवक के रूप में कार्य करते थे, बड़े उत्साही भी रहे हैं, जिनसे बड़ी आशाएँ भी थीं, से मेरा संपर्क आया था। उसी समय उनसे बातचीत करने का अवसर आया तो इधर-उधर की बात करते हुए मैंने पूछा कि कभी न कभी ग्रामीण क्षेत्रों में अपने को जाना ही होगा। तो अभी से ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाएँ खोलना ठीक नहीं होगा क्या? उन्होंने कहा कि 'वाह। आपने अच्छा प्रश्न पूछा। ग्रामीण तो महामूर्ख होते हैं। उनमें क्या शाखाएँ खोलना?' ऐसा विचित्र जवाब उन्होंने दिया। मुझे अति 'आनंद' हो गया, क्योंकि अपनी जानकारी के अनुसार मैं जानता था कि यह बराबर नहीं। परंतु तो भी एक बात मैंने उनसे कही कि 'अपने संघ के अनुभव के आधार पर मेरा तुम्हारे बारे में भविष्यकथन है कि कुछ काल के बाद तुम संघ का कार्य छोड़ दोगे, यह मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ।' यह मैंने क्यों कहा? क्योंकि उसके मन में इतना अहंकार जागृत हो गया था कि अपने ही बांधवों में वह पशुभाव का दर्शन करने लग गया था। इतने अहंकार को लेकर समाज में संघ जैसा कार्य नहीं किया जा सकता। जहाँ

शुद्ध बंधुता उत्पन्न करने का ही आग्रह होता है, वहाँ तो यह कभी भी संभव नहीं। केवल इसीलिए मैंने उसे यह भविष्य कह दिया। परमात्मा अपना मालिक है। भविष्य सच हुआ। वह संघकार्य से दूर हो गया। अब उसकी ऐसी स्थिति है कि जब कभी मुझे देखता है तो आसपास की गली में चला जाता है। यदि गली न मिले तो उसके मन में इच्छा होती है कि वह किसी दीवार में ही समा जाए। वास्तव में वह कोई बड़ी भविष्यवाणी थी, ऐसा नहीं है। उसके सामान्य स्वभाव के दर्शन से मैंने वह बात कही थी।

सभी में गुण व प्रकाश है

इस प्रकार से मनुष्य-स्वभाव का निष्कर्ष निकालते हुए चलना अनिवार्य है। क्योंकि अपने अंदर के अनंत गुण अपने सम्मुख होने के बाद भी आसपासवालों में भी गुण हो सकते हैं, श्रेष्ठता हो सकती है। वे अच्छे हैं, उनको भी अपनाना है, यह भावना अपने हृदय में न रही तो कार्य कैसे होगा? यह तो समझना ही चाहिए कि भगवान ने संपूर्ण अंधकार दुनिया के अंदर रखा और जो थोड़ा बहुत प्रकाश इस सृष्टि में था, सो अपने लिए बच गया, ऐसा नहीं है। सबके पास कुछ न कुछ विद्वत्ता है। अपने यहाँ देखें कि अपने पूर्वज खुद को आर्य कहते थे, श्रेष्ठ कहते थे और दुनियाभर को 'म्लेच्छ'। परंतु ये सब होने के बाद भी अपने बड़े-बड़े ऋषियों ने कहा कि म्लेच्छों को भगवान के दर्शन हो सकते हैं, याने इतनी आदर की भावना सबके प्रति थी। अपना स्वाभिमान न छोड़ते हुए सबको अपनाकर रखने का गुण अपने पूर्वजों ने प्रकट किया है, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। जिस कार्य को हम राष्ट्रीय जीवन के पुनरुत्थान का, धर्म की पुनर्संस्थापना का, राष्ट्र को फिर से देदीप्यमान स्वरूप प्रदान करने का कार्य कहते हैं, उस कार्य में अपने मन की भावना क्या है? क्या वह उसी प्राचीन परंपरा के अनुकूल है? उस परंपरा में सबके संबंध में आदर, सबको शुद्ध स्नेह से देख सकने की क्षमता, सबके हृदय में उदात्त भावना जागृत करते हुए उनके प्रति मन में घृणा, निंदा या अपमान की भावना न रखते हुए, इतना ही नहीं तो, उनके हृदय में भी अपने कार्य के बारे में श्रद्धा का भाव उत्पन्न करते हुए और स्वयं के बारे में भी कोई हीनता का भाव न रखते हुए व्यवहार करने की शिक्षा हमें मिली है, यह अपने ध्यान में रखें।

सब आदर के पात्र

संघकार्य को स्वतंत्र रूप से अपने सामने रखने का मार्ग योग्य होने

के कारण व्यक्ति का उदाहरण देना ठीक नहीं, परंतु व्यक्ति विशेष का उल्लेख करना ही पड़ता है। इतने बड़े अपने संगठन की धारणा जिस महान व्यक्ति के कारण हुई, उसकी महत्ता का हम अनुमान लगा सकते हैं। उनकी महत्ता के बारे में किंचित् भी संदेह करने का कोई कारण नहीं है। उनका आदर्श सामने रखने पर तो मन में यही भाव उत्पन्न होता है कि सबका सत्कार करें। यहाँ मैं अपना एक अनुभव बताता हूँ। यह उस समय की बात है जब संघ की जानकारी, बुद्धिमत्ता और उसके लिए परिश्रम की दृष्टि से अनेक स्वयंसेवकों की अपेक्षा मेरी योग्यता बहुत कम थी और ऐसी कम योग्यता रखने के पश्चात् भी मुझे भली-भाँति याद है कि उन्होंने मेरे साथ इतने आदर से व्यवहार किया कि मुझे ऐसा लगने लगा कि मेरे अंदर कुछ न कुछ बड़प्पन तो अवश्य होगा। इतना आदर क्यों, किसलिए? यहाँ तक कि उनका कोई काम करने की जरूरत पड़े तो वे मुझे नहीं करने देते थे। इस प्रकार की भावना उनके हृदय में थी कि सबका सत्कार, सम्मान रखना चाहिए। कई बार अनेक छोटे-छोटे व्यक्ति उनके पास आते थे। उनके साथ भी आदर के साथ बात करने की प्रवृत्ति उनमें विद्यमान थी। कभी-कभी मन में विचार भी आता था कि साधारण लोगों के साथ इतना आदर का व्यवहार क्यों?

हमारी दृष्टि से यह निष्कर्ष निकलता है कि चाहे संपूर्ण नम्रता प्राप्त न हो, सबका आदर करने की पात्रता न हो, तो भी यह ध्यान रखना जरूरी है कि अपने चारों ओर रहनेवाले अन्य व्यक्तियों में भी गुण हैं, वे भी श्रेष्ठ कर्तव्य कर सकते हैं। उनके साथ अपना संबंध आदर, प्रेम व अनुकूलता का रहना चाहिए। अपने हृदय में अहंकार की भावना रखने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसा प्रसंग अनेक बार आता है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले लोगों द्वारा राष्ट्रविरोधी विचार प्रकट होते हैं। उस समय उनके प्रति प्रहार करना ही पड़ता है, टीका-टिप्पणी भी हो जाती है। परंतु ऐसा करने में उनके अन्यान्य गुणों, जो उनमें हैं, का हम लोगों को यथोचित सम्मान करना चाहिए। मेरा आग्रह है कि अवश्यमेव करना चाहिए। उनमें भी बड़प्पन है, अच्छाई है, इसका ध्यान रखकर चलना आवश्यक है। अपने मन में स्वयं के बारे में जो धन्यता की भावना उत्पन्न होती है, वह शेष जगत् की ओर हीन दृष्टि से देखने के लिए हमें प्रेरित करती है। हम सर्वज्ञ हो

गए हैं, संपूर्ण कर्तृत्व अपने पास है, इत्यादि प्रकार के विकारों को हम छोड़ें।

निरंहकारी हों

हम अपने हृदय को टटोलकर देखेंगे तो दिखाई देगा कि जिस स्थान पर हम कार्य करते थे, उससे हटकर जरा छोटा कार्य करने को दे दिया तो अपने मन की अवस्था क्या होगी? हृदय की स्थिति कैसी होगी? जिस प्रकार हम आज व्यवहार करते हैं, उससे दिखाई देता है कि यदि किसी ने हमको ऐसी बात कही तो ठीक लगेगा क्या? जरा इसका विचार करके तो देखें। विचार करने और हृदय टटोलने पर ऐसा दिखाई देगा कि अपने मन के अहंभाव को अपने स्थान से नीचे के स्थान पर जाने में चोट पहुँचती है और यदि उससे ऊपर जाकर कार्य करने को कहा, तो सुख होता है। ऐसा अनुभव न करनेवाले भी कार्यकर्ता हैं, यह मैं जानता हूँ। इसलिए अपने मन में ऐसा दुर्भाव पैदा होगा ही– यह मैं नहीं कहता। किंतु होगा ही नहीं या हुआ ही नहीं, या आज न होने की पात्रता अपने में उत्पन्न हो गई है, यह अहंकार भी अपने मन में रखना उचित नहीं। बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस साल तक कार्य करनेवाले बड़े-बड़े लोगों की ओर देखने पर दिखाई देगा कि उनमें भी कभी न कभी ऐसा भाव आ ही जाता है, ऐसा अनेक बार का अनुभव है। अहंकार के कारण अपने स्थान से ऊँचा या नीचा होने से सुख या दुःख हुआ, ऐसा मैंने देखा है। इस प्रकार का अनुभव होने के कारण ही मैं कहता हूँ कि हमें विचार करना चाहिए कि कहीं अपने मन में ऐसी भावना तो नहीं है। हममें कभी भी ऐसी भावना नहीं होनी चाहिए।

सबका सत्कार करते हुए, उनके गुणों की, उनमें जो-जो अच्छाई हो, उसकी वृद्धि करने के लिए जो-जो प्रयत्न आवश्यक हों, वह स्वयं करें और दोष दिखाई दें तो उन दोषों को सबके सामने प्रदर्शित न करते हुए अत्यंत चतुराई, बुद्धि और परस्पर सौहार्द एवं स्नेह के व्यवहार से धीरे-धीरे नष्ट कर दें। इस प्रकार का अपना प्रयत्न होना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करने से ही वे सब गुण, जिनसे हम अपने संगठन की अन्यान्य सब आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकते हैं, जिनकी हमें जरूरत है, यह मेरा विश्वास है। उन सब गुणों, को प्रकट करने की शक्ति इसी एक व्यवहार में है। इस एक ही गुण का आग्रहपूर्वक अवलंब

करने से हमारी और हमारे पड़ोसियों की शक्ति हमारे इस व्यवहार के कारण अपने कार्य में प्रकट होगी।

आत्मविश्वास व अहंकार भिन्न

अब इसका एक दूसरा विरोधी पहलू भी है, जिसका हमें विचार करना चाहिए। मनुष्य के अहंकार और आत्मविश्वास में पहचान करना कई बार बड़ा कठिन होता है। एकाध कार्यकर्ता यदि अपनी वाणी को कुशलता से उपयोग में न लाए और रूखे शब्दों का व्यवहार करे, तो उसके कर्तृत्व और कर्तव्य के बारे में भ्रम होना स्वाभाविक है। रूखा होते हुए भी उसके कर्तृत्व में किंचित् भी कमी नहीं होती। यह समझकर ऐसी परिस्थिति में अपने कार्यकर्ताओं को विवेक से काम लेना होगा। ऐसे उदाहरण जरूर मिलेंगे, जिनसे आत्मविश्वास दूसरों को अहंकार सा लगता है। यद्यपि वास्तव में वह होता नहीं। यहाँ तक कि उसमें अभिमान का लेश भी नहीं होता। ऐसे भी कार्यकर्ता हैं, जो बड़े विश्वास के साथ बोलते हैं और उसपर अडिग रहते हैं तथा अन्यों को उसके अनुसार बाध्य करने की प्रवृत्ति भी उनमें रहती है, किंतु अभिमान का लेश मात्र उनमें नहीं होता। अर्थात् वे स्वाभिमानी होते हैं, अंहकारी नहीं। उनके पास यदि कुछ रहता है तो केवल आत्मविश्वास। यहीं पर विवेक करने में कठिनाई होती है। परस्पर विरोधी ऐसे दो गुण उनमें रहते हैं, लेकिन हमें देखना पड़ता है कि आत्मविश्वास अपने अंदर रखते हुए अभिमान को स्थान न मिल जाए। नहीं तो कभी-कभी आत्मविश्वास कहते-कहते अभिमान के शिकार हो जाने की संभावना रहती है। दूसरी ओर अहंकार उत्पन्न न होने पाए। इस फेर में अपने आत्मविश्वास तक को खोकर संदेहपूर्ण हृदय के कारण कुछ भी न करने की पात्रता अपने हृदय में लाना भी उतना ही अनुचित है। इन दोनों आपत्तियों से बचकर चलने की आवश्यकता है। व्यवहार की दृष्टि से इसमें बहुत कठिनाई का अनुभव होगा। बोलने में वह बड़ा आसान है। यदि ऐसा न होता तो मैं बोलता ही नहीं। संघकार्य को योग्य रूप में चलाने की दृष्टि से इस एक गुण पर अपना ध्यान केंद्रित होना चाहिए। यह कठिन होते हुए भी उसका व्यवहार करना ही होगा।

नम्रता का भाव जागृत करें

अपना कार्य श्रेष्ठ है, उसके तत्त्व में किसी प्रकार की संदेहात्मक स्थिति का प्रश्न नहीं, इस आत्मविश्वास से हम लोगों से बोलेंगे। प्रत्येक को

इस कार्य को अपनाना पड़ेगा, ऐसा विश्वास रखकर ही चलना होगा। परंतु अपने मन में इस प्रकार की कोई दुर्भावना कि केवल अपने ही लोग अच्छे हैं, इसलिए बाकी लोगों से बात करना, अपने लिए अपमान की बात है। ऐसी धारणा उत्पन्न न होने दें। अब इस भावना का पोषण कैसे होगा? इसके लिए नियम बनाना तो सुलभ नहीं। साधारण रीति से विचार करें तो दिखाई देगा कि भूतकाल में अनेक लोग पैदा हुए हैं, जिनमें कितने ही गुण थे। जिन्होंने कितना ज्ञान और पौरुष प्रकट किया, कितने पराक्रम किए और किस प्रकार विपरीत परिस्थितियों में भी अपने ध्येय को सामने रखकर भिन्न-भिन्न प्रकार की आपत्तियाँ झेलीं। मार्ग में अनेकों व्यामोह और आकर्षण उत्पन्न हुए, तो भी वे अपने लक्ष्य-पथ पर अग्रसर होते रहे। इसका हम लोग विचार करें, तो स्पष्ट हो जाएगा कि हमारे पास अहंकार करने लायक कुछ भी नहीं है।

शंकराचार्य जैसी उज्ज्वल परंपरा

ऐसी उज्ज्वल परंपरा का आधार अपने पीछे है। इतनी श्रेष्ठता, जिसकी तुलना में अपना जीवन नगण्य सा है, होने के बाद भी क्या हममें अभिमान करने लायक कुछ है? एक-एक आदमी का विचार करें। हम लोग क्या उतने बड़े हैं। उतनी बुद्धिमत्ता क्या अपने पास है?

शंकराचार्य को ही लें, दुनिया भर के विद्वानों ने कहा कि संपूर्ण सृष्टि के रहस्य को समझने में आज तक विज्ञान ने जितनी प्रगति की है, उस सबको जोड़कर एक अंतिम सिद्धांत के रूप में सृष्टि की संपूर्ण समस्या का जो हल अपने सामने रखा है, वह शंकराचार्य के द्वारा रखे हुए ज्ञान का अंशमात्र है। यही कहना पड़ता है कि जिस बुद्धिमत्ता के सामने दूसरा कोई खड़ा नहीं रह सकता, ज्ञान का इतना निचोड़ निकालकर उन्होंने रखा। जिसे आज नहीं तो कल विश्व को ग्रहण करना ही पड़ेगा। इस सबका साक्षात्कार शंकराचार्य ने किस प्रकार किया होगा, किस प्रकार उसे रखा होगा? बिल्कुल सादे युक्तिवाद से कैसे सिद्ध किया होगा, कहाँ से यह सारी स्फूर्ति आई होगी? सभी बातें ३२ वर्ष के, छोटे से उनके जीवन में कैसी हुई होंगी, यह देखकर मन आश्चर्य से भर जाता है। उनके इस विशाल ज्ञान को देखकर मन में विचार आता है कि इस महासागर की बूँद के बराबर भी क्या अपने पास कुछ है? दिखाई देगा कि कुछ भी नहीं है। फिर अभिमान किस बात का? क्या उनके बराबर हम काम कर सकते हैं?

जब आने-जाने के साधन नहीं, मार्ग में अनेक प्रकार के संकट, कोई साथी नहीं, मार्ग में बड़े-बड़े जंगल, जिनमें श्वापद व श्वापदों से भी अधिक क्रूर मानव तथा अहिंसा के नाम पर गर्जना करनेवाले बौद्ध मतावलंबी, जो उनको जहर देकर मारने पर उतारू थे, ऐसा सब कुछ था, तब भी अपने पैरों पर चलता हुआ एक बालक संपूर्ण भारत की परिक्रमा कर, कश्मीर क्या, असम क्या, सब दूर घूमकर, चारों ओर से पूर्णरूपेण टूटे-फूटे और धर्मच्युत समाज को एक बार पुनः अपने मूल अधिष्ठान पर लाकर खड़ा करता है।

ऐसे परिश्रम का अपने जीवन में विचार करें। छोटी-सी अवस्था में हम उसे प्रकट कर सकते हैं क्या? अपने पास चलने को मोटर है, रेलगाड़ी है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए हवाई जहाज है। अपना सारा कारोबार चल सकता है। उस मनुष्य के पास न खाना था, न कपड़ा, भिक्षा माँगते घूमता था। वैसी स्थिति में सारा जीवन व्यतीत किया और एक आश्चर्य कर डाला। एक संपूर्ण राष्ट्र, जो अपने अधिष्ठान एवं धर्म से गिर गया था, को सब प्रकार के मिथ्याचार, अनाचार व आडंबर से उठाकर एक बार पुनः सुदृढ़ नींव पर खड़ा कर दिया। वह भी केवल ३२ साल की अवस्था में किया। जरा विचार करना चाहिए कि यह कैसे किया होगा? उसकी तुलना में हम क्या हैं? उसने कैसा जीवन व्यतीत किया और क्या कर डाला? हमारी राष्ट्रपरंपरा में यह अनन्यतम व्यक्ति एक देदीप्यमान सूर्य के समान है। हम उसके प्रकाश को परावृत्त करनेवाले रेत के कण के समान जरूर हो सकते हैं।

उसी परंपरा में हम उत्पन्न हुए हैं, यह आत्मविश्वास हमारे अंदर रह सकता है। इस आत्मविश्वास से प्रेरणा लेकर हम कुछ न कुछ प्रकट कर सकेंगे। मन में अभिमान रखने की गुंजाइश ही नहीं है। हम देखें कि कितना भव्य चरित्र एवं आत्मविश्वासयुक्त व्यक्ति अपने यहाँ उत्पन्न हुआ, जिसने कहा कि वैदिक धर्म को छोड़नेवाले सब लोगों को मेरे शिष्य केवल शंख बजाकर ही, जहाँ तक उस शंख की ध्वनि पहुँचेगी, अनुयायी बना लेंगे। यह आत्मविश्वास यदि न होता तो वे एक-एक से होम-हवन, यज्ञादि करवाते या एक-एक को तीर्थों का जल पिलाते। कितना उनका आत्मविश्वास था कि सब लोगों ने उनकी बात मानी। इस प्रकार के विश्वास की भावना अपने अंतःकरण में उत्पन्न हो। फिर से वे लोग अपने अधिष्ठान पर वापस आएँगे और अपनी बुद्धि तथा तपश्चर्या से 'वे मानेंगे ही' ऐसा आत्मविश्वास

उनमें था। उनका आत्मविश्वास यदि देखें तो लगेगा कि हमने कुछ भी तो नहीं किया। अपना जीवन हमारे सामने है। ४०-४०, ५०-५० साल की उम्र होती आई। एक पैर श्मशान में पहुँच गया, तो भी अपने जीवन की साधना पूर्ण नहीं हुई। ऐसा देखने के पश्चात् अपने श्रेष्ठ पुरुषों ने दीपस्तंभ के रूप में खड़े होकर जो मार्गदर्शन किया और किस प्रकार से आदर्श उत्पन्न करना चाहिए– इसके उदाहरण स्वरूप उनका प्रत्यक्ष चरितार्थ किया हुआ जीवन देखकर, इसी परंपरा का भाव अपने अंदर भी अवश्यमेव प्रकट हो सकता है। यह दृढ़ धारणा हममें उत्पन्न होनी चाहिए। उनकी भव्यता की तुलना में अपना नगण्य-सा जीवन होने के कारण उनकी ओर देखकर व्यवहार में नम्रता का भाव जागृत करें।

ऊँच-नीच का भाव नहीं

अपनी परंपरा की ओर दृष्टि रखकर और श्रेष्ठ पुरुषों को आँखों के सामने रखते हुए, अपने जीवन में कैसा व्यवहार करें, कैसे सबको ठीक प्रकार से अपनाएँ, किस प्रकार सबको सत्कार की भावना से देखें, इसका ठीक प्रकार से ज्ञान प्राप्त करने से अपने जीवन में सुधार हो सकेगा। इसकी नितांत आवश्यकता है। इस प्रकार अपने हृदय में यह भाव धारण करके चलेंगे तो उसमें से दूसरा आवश्यक गुण भी हमें प्राप्त होगा। हम जिस समाज के संगठन के लिए चले हैं, उस समाज के सब लोगों के प्रति सत्कार रखने के प्रयत्न का ठीक प्रकार से यदि ज्ञान प्राप्त हुआ, तो 'ऊँच-नीच' का भाव रहेगा ही नहीं। अपनी दृष्टि में सब अपने समाज के अंग-प्रत्यंग हैं, उनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है, तब वे सब समाज की रक्षा के लिए एकरूप होकर खड़े होंगे। उन सबके प्रति समान प्रेम, व्यवहार एवं आचार अकृत्रिम रूप से हो, क्योंकि कृत्रिमता से संघकार्य नहीं चल सकता। मित्रता का व्यवहार करना चाहिए। क्या करूँ, मुझे तो इसे संघ में लाना ही है, ऐसा समझकर नहीं, अपितु स्वभावतः अपने मन में परिवर्तन कर उनके प्रति प्रेम उत्पन्न करना पड़ेगा। क्योंकि संपूर्ण समाज परमात्मा के शरीर का अंग-प्रत्यंग है। परमात्मा के बारे में ऊँच-नीच नहीं हो सकता। वहाँ तो अपना समाज-शरीर शुद्ध ही रहेगा और शुद्धता भी इस प्रकार की, कि उसके शरीर के अंग-प्रत्यंग पूज्य है, सब प्रकार से श्रेष्ठ हैं। उसके चरणों पर यदि सूखा पत्ता भी गिरा तो उसे हम माथे चढ़ाते हैं। प्रत्यक्ष चलता-फिरता, परमात्मास्वरूप अपना समाज है। यह सब प्रकार से

श्रेष्ठ है, यह कहने की आवश्यकता पड़ेगी क्या? श्रेष्ठ भावना रखना नितांत आवश्यक है। इसको छोड़कर अपना कार्य नहीं होगा। सबके प्रति समान आदर और अपने हृदय में समान रूप से शुद्ध भाव रखना होगा। व्यक्ति तो नगण्य है, पर क्या करें, संगठन कहता है, इसलिए उसके प्रति यह भाव रखना आवश्यक है, इस प्रकार के भाव से अपने हाथ से काम नहीं होगा।

काफी पुरानी बात है, शायद सन् १६२८-२६ की होगी। मैं चेन्नै गया था। वहाँ 'प्रेसिडेंसी कॉलेज' में मेरे परिचय के एक शिक्षक पढ़ाते थे, उनसे मिलने गया। वे अपने 'प्रिंसिपल' के एक पत्र का उत्तर दे रहे थे। मैं भी वहीं था। पत्र के अंत में उन्होंने प्रचलित पद्धति के अनुसार 'योर मोस्ट ओबीडियेंट सर्वेंट' लिखा और मुझसे कहने लगे, 'लुक, आय वुड लाइक टु किक दिस मॅन, यट आय हैव टु राइट मोस्ट ओबीडियेंट सर्वेंट'। मैंने उनसे कहा– 'इफ यू रियली वांट टु किक, देन व्हाय डोंट यू?' जो लगता है, वह भाव न लेकर 'योर मोस्ट ओबीडियेंट सर्वेंट' लिखने की जरूरत से कोई मतलब नहीं। इस प्रकार के भाव मन में लेकर व्यवहार नहीं करना चाहिए। उसी प्रकार से हमें भी अंतःकरण में यह भाव रखकर कि यह बड़ा पापी है, पतित है और अपने लिए हृदय में बड़प्पन एवं अहंकार का भाव रखकर नहीं चलना चाहिए, अपितु प्रत्येक को अपनाने की भावना लेकर चलना चाहिए।

किसी नगण्य माननेवाली अहंकारी भावना से कम से कम संघ का कार्य नहीं हो सकता। अतः इस भावना से दूर हटकर सबका सत्कार करने की भावना मन में चाहिए। मान लिया कि कोई पापी भी है, तो हममें कौन-सी ऐसी शुद्धता आ गई है कि हम दूसरों को पापी कहें। जरा हृदय टटोलकर स्वयं को देखें। सबकी अच्छाई देखने एवं सत्कार करने का गुण ही सर्वश्रेष्ठ है। प्रत्येक के गुण-दोषों का विवेचन कर, उसकी अच्छाई की वृद्धि का प्रयत्न करें एवं अपने प्रयत्न से उसके सारे दोषों पर विजय पाकर उत्कृष्ट जीवन-निर्माण करें।

तत्त्वानुसार व्यवहार

अच्छाई देखने का गुण बहुत अच्छा है। यह केवल व्यवहार-दक्षता के लिए ही नहीं चाहिए कि हमें तो अमुक व्यक्ति के साथ संघ का काम करना है। अतः उसके गुण-दोषों की परीक्षा कर तद्नुसार व्यवहार करना

चाहिए, परंतु मैं व्यवहार नहीं जानता, तत्त्व ही जानता हूँ– ऐसा कहना भी उचित नहीं। तत्त्व को व्यवहार में लाना आवश्यक है। तत्त्व कहता है कि व्यक्ति के समस्त गुण-दोषों को जानकर भी उसके गुणों का सत्कार करना चाहिए और दोषों को अपने श्रेष्ठत्व के प्रभाव से नष्ट करना चाहिए। उसके अंदर की अच्छाई को प्रोत्साहन देकर, उसे वृद्धिंगत कर एवं दोषों को दुर्लक्ष्य से हनन कर उसका विकास करें। यही अपना कर्तव्य है और तत्त्व भी। व्यवहारी लोग होने के नाते आप स्वयं इसका विचार करें। मेरा तो यही विचार है कि तत्त्व के अनुसार व्यवहार करना चाहिए, न कि व्यवहार के अनुसार तत्त्व को मरोड़ना।

जो तत्त्व व्यवहार में नहीं आता उसे तत्त्व ही नहीं मान सकते। क्योंकि जो व्यवहार में नहीं है, उस तत्त्व की पतंग उड़ाने से क्या लाभ? तत्त्व व्यवहार में आना ही चाहिए। अपने पूर्वजों का इसपर बड़ा आग्रह था। उन्होंने कहा कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस तत्त्व का यदि मरने के बाद ही अनुभव होता है तो उसका अनुभव हम नहीं करेंगे। इस जीवन में जीते-जागते नित्य-प्रति के व्यवहार में यदि उसकी अनुभूति आती है तब तो वह सत्य है, अन्यथा ग्रहण करने के योग्य नहीं है। इसलिए उन्होंने कहा कि मरने के बाद मिलने वाले स्वर्ग पर अपना विश्वास नहीं। वह है या नहीं, कौन जाने। जिस बैंक का नाम सुना नहीं, उसकी हुंडी नहीं चाहिए। हमें तो स्वर्ग का भी इसी जीवन में अनुभव चाहिए। उसके अनुसार व्यवहार परिवर्तित होना चाहिए। इसी दृष्टि से विचार कर हम कहते हैं कि यदि तत्त्व ठीक है तो उसके अनुसार व्यवहार करो। व्यवहार के लिए तत्त्व को मरोड़ना नहीं चाहिए। तत्त्व के साथ व्यवहार का तद्रूप होना आवश्यक है। इसी बात को लेकर तत्त्व को व्यवहार में लाकर हम इतना सुधार कर पाए हैं, इतना अच्छा वायुमंडल, जिसकी एक झलक हमें इसी शिविर में दिखाई देती है, उत्पन्न कर पाए हैं। आज देश में सर्वत्र एक भाषा-भाषी दूसरे भाषा-भाषी से बात करते समय सौहार्द की दृष्टि से नहीं देखता, परंतु अपने यहाँ भिन्न भाषा-भाषी स्वयंसेवक एकत्र होने के बाद भी एक-दूसरे के बारे में हीन विचार नहीं रखते। हमने अपने तत्त्व में कहा कि यह हिंदूसमाज हमारा है, एक है और उसी तत्त्व के अनुसार हमने अपने व्यवहार को मरोड़कर भव्य स्वरूप प्राप्त किया है। उस स्वरूप में दिखाई देता है कि किसी भी भाषा-भाषी की हम अवहेलना नहीं करते।

संपूर्ण समाज के साथ एक स्तर पर

हम यह सोचकर चलें कि हम भी संपूर्ण समाज के साथ एक स्तर पर हैं। उनके गुणावगुण हमारे भी हैं। हाँ, ईश्वर-कृपा से हमने एक श्रेष्ठ कार्य का साक्षात्कार किया है, अतः हम अपने सभी बंधुओं के गुणों का वर्धन करेंगे। यह भी विश्वास लेकर चलें कि अपने अंतःकरण के प्रेम एवं आदर के भाव से तथा अपने जीवन की वर्धमान शुद्धता से उनके अवगुणों को समूल नष्ट कर देंगे। हमारे व्यवहार का यही नियम है, अन्यथा अहंकार से विकृति उत्पन्न होकर कार्य करने का गुण नष्ट हो जाएगा और सफलता नहीं मिलेगी। वातावरण एवं परिस्थिति के कारण कभी सफलता का आभास भले ही दिखाई पड़े, किंतु उसका स्थायी भाव तो हमारी योग्य गुणयुक्त कार्यक्षमता पर ही निर्भर है। इस महान कार्य के हम निमित्त हैं। किंतु इस निमित्त की योग्यता भी तो हमें प्राप्त करनी होगी। श्रेष्ठ संगीतज्ञ के हाथ में अच्छा उपकरण हो तभी शुद्ध संगीत निकलेगा। हम भी निरहंकारयुक्त योग्य निमित्त के रूप में आगे आएँ, जिसे कोई छेड़े तो आत्मविश्वास के साथ सुस्वर बोलने की योग्यता, पात्रता उत्पन्न हो।

भगवान कृष्ण का आदर्श

हमें तो भगवान कृष्ण का आदर्श अपने सम्मुख रखना चाहिए। हमें विदित है कि भीष्म, द्रोणाचार्य जैसे वयोवृद्ध आदरणीय महापुरुषों ने एक स्वर से कृष्ण जैसे श्रेष्ठ पुरुष को अग्रपूजा में बैठाने का आग्रह किया। परंतु उस अग्रपूजा का मान प्राप्त करने की पात्रता होने पर भी उन्होंने युधिष्ठिर को राजा बनाया और साष्टांग प्रणाम किया। यह पात्रता हमारे अंदर आती है या नहीं– इसका हम विचार करें। यह आनी चाहिए। दुनिया के सब लोगों को बड़ा करेंगे, अपने कंधों को पुष्ट, दृढ़, अविचल रखकर सबको अपने कंधों पर खड़ा करेंगे, फिर भी यही धारणा रखेंगे कि मैं समाज का सेवक हूँ। सब की सेवा करूँगा, यही मेरा धर्म है, यही मेरा कर्तव्य है। इसलिए मेरा स्थान न ऊँचा है, न नीचा। मेरा सबसे बड़ा स्थान एक ही है कि स्वयंसेवक के रूप में मनसा, वाचा, कर्मणा समाजसेवा करता रहूँ; दूसरी कोई बात मेरे लिए नहीं। इस प्रकार की शुद्ध भावना को अपने हृदय में निर्माण करते रहना चाहिए। दुनिया का कोई मोह अपने को विचलित नहीं कर सकेगा, कार्य से नहीं हटा सकेगा। मेरी प्रेरणा में कभी कमी नहीं होगी। मन में केवल अपने कार्य के संबंध में अभिमान रखकर

और अन्य सब अभिमान दूर कर कार्य में पूर्ण जीवन को समर्पित कर दें, तो फिर रुपया-पैसा, औरत-बच्चे इन सबका मोह आ नहीं सकता। वास्तव में ये सांसारिक चीजें तो अभिमान के बच्चे हैं। अहंकार और अपनेपन की भावना के कारण ही ये सब उत्पन्न होते हैं, परंतु जिसने अपने को कार्य में लीन कर लिया, कार्य का ही विश्वास मन में, हृदय में धारण कर लिया, कार्य के अतिरिक्त सब विचारों को दूर कर मन को एकाग्रचित्त बनाकर जिसने अपने अंतःकरण में अहंभाव को जागृत नहीं होने दिया, उसको छोटे-मोटे व्यामोह कभी भी स्पर्श नहीं कर सकेंगे। उसका जीवन ध्येयार्पण ही रहेगा, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं। यही महान गुण अंतःकरण की सब शुद्ध भावनाओं को जागृत रखनेवाला, जीवन के अंत तक कार्य को निभाने का सामर्थ्य देनेवाला है। अतः ये दोनों महान गुण– पहला अपने अंदर अभिमान का लेश न हो और दूसरा, अत्यंत प्रखरता से जागृत आत्मविश्वास हो– वास्तविक श्रेष्ठ गुण हैं। इन्हीं गुणों को अपने अंतःकरण में अधिकाधिक मात्रा में, सब प्रकार का चिंतन कर उत्पन्न करें। हृदय की सब प्रकार की दुष्टता एवं विपरीतता को दूर कर संघ के स्वयंसेवक को शोभा देनेवाला यह श्रेष्ठ गुण हम उत्पन्न करें, यही मेरा विचार है।

११. प्रचारक का दृष्टिकोण

(१५ मार्च १९५४)

हम लोग अपने-अपने प्रांत में संघ का कार्य प्रचारक के रूप में करनेवाले और वह भी किसी जिले का या उससे बड़ा काम सँभालनेवाल कार्यकर्ता, यहाँ एकत्रित हैं। प्रत्येक ने अपना-अपना ऐसा निर्णय किया है कि केवल अपने कार्य को ही इस जीवन में करेंगे। उस निर्णय को निभाने का हमने सामर्थ्य भी पाया है। इस कार्य को हम अपने जीवन में करेंगे और दूसरी कोई बात अपने अंतःकरण में क्षण-भर के लिए भी नहीं आने देंगे, ऐसा दृढ़ विचार किया है।

किंतु कितनी ही बार अपने अनेकों के मन में भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें आती हैं। जैसे अपने साथ का कोई पढ़ा लिखा व्यक्ति कुछ इधर-उधर घूमता-घामता, नौकरी करता दिखाई देता है तो मन में विचार

उठता है कि इसका कैसा सुखी जीवन है। इसके पास धन है, स्त्री है, बच्चे हैं। घर में सायंकाल जब वापस आता है तो उसके कंधों पर छोटे-छोटे बच्चे चढ़ते हुए उसके कान में मीठी-मीठी बातें कहते हैं। तब मन में लगता है, जो स्वाभविक भी है कि हमने ऐसा कौन-सा पाप किया है कि हम यह जीवन क्यों ना जियें। इस प्रकार का विचार अनेकों के मन में आ सकता है और आएगा तो मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा।

ऐसा विचार आने के बाद प्रचारक को कैसे रहना चाहिए, इस संबंध में बहुत बातें कीं तो भी वे अपने लिए निरर्थक हो जाएँगी। एक प्रकार से केवल इतना ही उपयोग अपने लिए हो सकेगा कि बाकी जो कोई थोड़े-बहुत इधर-उधर प्रचार-कार्य करते रहेंगे, उनको देखकर कह सकेंगे 'हमारे जमाने में ऐसा था, वैसा था, ये क्या करते हैं,' ऐसा कहने के अतिरिक्त उपयोग अपने को होगा, ऐसा लगता नहीं। यह सोचकर ऐसा विचार आता है कि जीवन के संबंध में में कुछ कहें या न कहें, कहने की आवश्कयता है क्या? कहना हो तो उसे कहना चाहिए जिसने एकबार अपने व्यक्तिगत जीवन का विचार छोड़ दिया और बाहर निकल पड़ा। बाकी क्या बोलें?

साधारण रीति से हम लोग अपने समाज को यही बताते आए हैं कि संघ फकीरों का नहीं, समाज का संगठन है। इस कारण उन्हीं लोगों को संगठन का काम करना चाहिए, जो समाज में व्यक्तिगत जीवन चलाते हैं, अपना काम-धाम करते हैं, स्त्री-बच्चों का परिवार निर्माण करते हैं, जीविका कमाकर पारिवार का पोषण करते हैं। इस प्रकार समाज की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेकर कार्य चलानेवाले लोगों के लिए यह कार्य उनके जीवन के कर्तव्य के रूप में है, ऐसा हम लोग बोलते आए हैं। यह केवल लोगों को बताने की बात नहीं, सत्य बात है। जब कभी लोग मुझसे पूछते हैं कि क्या हम भी ऐसा ही करें? तो मैं बोलता हूँ कि आप मुझे क्यों तकलीफ देते हैं? अपने संगठन का काम तुम सँभालो और मैं भी अपनी लंगोटी पहनकर कहीं चला जाऊँगा। फिर मुझे कोई देखेगा नहीं और मैं भी किसी को दिखूँगा नहीं। इसलिए मैं कहता हूँ कि भाई, बिना कारण कष्ट क्यों देते हो? अपना-अपना सँभालो– ऐसा लोगों के साथ हम बोलते हैं। यह ठीक है, योग्य है, फिर भी अपने लोगों के मन में दूसरे ढंग से विचार आता है कि परिवार चलाकर इस कार्य को करेंगे।

इसका (परिवार का) आदर्श लोगों के सामने जरा हम भी खड़ा

कर दें। इस प्रकार का विचार आना कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह मन मनुष्य से अधिक चतुर होता है, अनियंत्रित होता है, इसीलिए इन सर्वसाधारण दिखनेवाली बातों को करने की इच्छा से, उनके समर्थन में वह बहुत से तर्क देता है। इसलिए अपने मन का झुकाव उस ओर चला जाए तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। यह झुकाव होना चाहिए या नहीं– यह आप स्वयं निर्णय करें। इसके बारे में मैं कुछ बोलूँगा नहीं। परंतु आगे चलकर जो कुछ संघ का कार्य किसी प्रकार की चिंता न करते हुए हम करते हैं, उसके आधार पर यदि हम सोचेंगे, तो पता लगेगा कि ऐसा करना बहुत कठिन है।

भविष्य की चिंता

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जीवन के कितने ही व्यामोह चारों ओर खड़े रहते हैं, कितने ही भिन्न-भिन्न प्रकार से इस जीवन में उपस्थित होते हैं। वे इतना भिन्न स्वरूप लेकर खड़े होते हैं कि उनका विचार भी अपने लिए कठिन हो जाता है। उदाहरण के रूप में मैंने बताया कि अपनी बराबरी के लोगों को जब अच्छी स्थिति में देखते हैं तो लगता है कि अपना क्या होगा? सोचते हैं कि यदि कार्य करते-करते हम बूढ़े हो गए तो हमें कौन सँभालेगा? कभी बीमार हो जाएँगे तो कौन ख्याल रखेगा? अपने चारों ओर जो कार्यकर्ता कार्य कर रहे हैं, कभी-कभी उनमें जब विकृति आ जाती है, तो मन में लगता है कि उनकी क्या भलाई की गई। इस प्रकार के कितने ही विचार उत्पन्न होने के बाद मनुष्य सोचता है कि मेरा क्या होगा? ये मुझे अयोग्य समझकर छोड़ देंगे तो फिर मेरा क्या होगा? आज मैं शारीरिक दृष्टि से कुछ ठीक हूँ। कार्यक्रम कर सकता हूँ, इधर-उधर चलता हूँ, परिश्रम करता हूँ, खाने-पीने की फिक्र नहीं करता, तब तक ये सब अच्छा कहते हैं। आगे चलकर जब मैं वृद्ध हो जाऊँगा तो मेरा क्या होगा? इसलिए मन में आता है कि चलो भाई, इस प्रकार की विपरीत परिस्थिति आने के पहले ही अपना कुछ प्रबंध कर लें, अपनी कुछ व्यवस्था रखी जाए।

कौन जीतता है

मनुष्य का मन जिस प्रकार अन्य खेल खेलता है, उसी प्रकार यह भी उसका एक दाँव है। इस दाँव में कौन परास्त होता है और कौन जीतता है, यही अपने को देखना है। हम विचार करें कि इस खेल में स्वयं और

अपने मन के बीच में चल रहे संघर्ष में कौन जीतता है? वह जीतेगा या हम जीतेंगे। मन अपनी सहायता के लिए चारों ओर अच्छे-अच्छे तर्क उपस्थित करता है। जैसे वेदों में लिखा है कि वंशतंतु तोड़ना नहीं चाहिए। एक सज्जन ने मुझसे कहा कि इस भारतीय राष्ट्र-परंपरा में जितने श्रेष्ठ पुरुष हुए हैं, वे बौद्धकाल के उपरांत छोड़ दें तो सब घर-बारवाले हुए हैं। वशिष्ठ, विश्वामित्र, राम, कृष्ण, शिवाजी आदि जितने देखो घर-बारवाले ही थे। इतना ही नहीं तो प्रत्येक की दो से लेकर हजार तक संतानें थीं। अपनी पहचान के एक और सज्जन यह कहते थे कि संपूर्ण भारत का जो विनाश हो गया, वह संन्यास के नाम पर घर-बार छोड़ने की प्रवृत्ति के कारण ही हुआ है। तर्क अच्छा है।

युक्तिवाद दिया जाता है कि देखो, बड़े-बड़े बुद्धिमान श्रेष्ठजनों ने विवाह नहीं किया, इसलिए संतति अच्छी नहीं हुई और सामान्य लोगों की जो हीन परंपरा है, उन्होंने विवाह किया और हीन संतति निर्माण की। इस घर छोड़ने की प्रवृत्ति के कारण संतति अच्छी नहीं हुई। उनमें से भी यदाकदाचित उत्पन्न हुए, वे संन्यासी बन गए। शंकराचार्य ने यदि शादी कर ली होती तो शायद उनसे भी बढ़कर पुत्र हुआ होता। फिर वे भले ही शंकराचार्य न बनते। तो इस प्रकार के कितने ही युक्तिवाद, जिसका कोई हिसाब नहीं, अपना मन ढूँढकर निकालता है। इस संघर्ष में कौन जीतता है, कौन हारता है, यही बात अपने सामने है।

यह मन, जो इस प्रकार बड़े-बड़े प्रमाण ढूँढकर लाएगा, उनसे टकराने के लिए कोई चीज अपने पास है या नहीं। केवल एक ही वस्तु है, वह यह कि हमने यह कार्य करने का निश्चय किया है, इसे ही करना है। यह जन्म तो इसके लिए ही समर्पित है। यदि परिवार करना भी है तो एक जिंदगी थोड़े ही है, अगले जन्म में किया जाएगा, इतनी जल्दी क्या है? 'कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी (काल अनंत है और पृथ्वी अति विशाल)। इस जन्म में यदि परिवार नहीं किया तो क्या यह मानव-समाज बरबाद हो जाऐगा? इसे अगले जन्म में कर लेंगे, जल्दी की क्या जरूरत है? इस बार एक कार्य हाथ में लिया है, उसे इस जिंदगी में पूरा कर लें। जितना अधिक से अधिक अपने मन से, बुद्धि से, शरीर से कार्य हो सके, उतना अधिक कार्य लिया जाए और बुढ़ापे में क्या होगा, इसका विचार बुढ़ापे पर छोड़ दें, अभी से उसका विचार क्या करना।

संगठन से अपेक्षा

ऐसा भी विचार मन में आता है कि मैं यह कार्य कर रहा हूँ इसलिए मेरी दुर्बलता में, मेरे बुढ़ापे में इस कार्य को मेरी चिंता करनी चाहिए, मेरे जीवन की देखभाल करनी चाहिए। यह इच्छा भी एक स्वार्थप्रेरित इच्छा है या नहीं? भले ही संगठन सब बातें करें, पर अपनी यह अपेक्षा रही तो वह स्वार्थ हो जाएगा। इसलिए मैंने एक बार नहीं, अनेक बार कहा है कि अपने शरीर से जब तक संघ का कार्य होता है तब तक ठीक। जिस दिन कार्य करना असंभव हो, उस दिन यह शरीर निकल जाना चाहिए, रहना नहीं चाहिए। शरीर अगर छूटने को तैयार नहीं तो किसी भी सड़क के किनारे जाकर उसको छोड़ देंगे, पर संगठन पर उसका बोझ आने नहीं देंगे। कभी-कभी एक-दूसरे के साथ बातचीत करते हुए भी बोलते हैं कि उसकी देखभाल नहीं की गई। वह अपना प्रचारक था, उसकी कोई देखभाल नहीं की गई। ऐसी अपेक्षा क्यों? हम कार्य की देखभाल करेंगे, चाहे हम अपना सारा जीवन उसे दे दें, पर उससे अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अपेक्षा भी तो थोड़ा-बहुत व्यापार ही है। यदि उसमें व्यापार हो गया तो स्पष्टतः शुद्ध भक्ति की धारणा कम हो गई।

प्रचारक निष्ठा

अपने प्रचार विभाग (उस समय संघ में 'प्रचार विभाग' प्रचारक-संबंधी चिंतन, व्यवस्था का ही कार्य था -सं.) की यह रचना किस प्रकार से रखनी चाहिए- यह आपने पूछा है। देश भर से आए हुए आप बड़े-बड़े प्रचारक यहाँ बैठे हुए हैं। आप अपने मन में निश्चय कर लो, किंतु कार्य से, ध्येय से व्यापार नहीं करना; यह परमात्मा है, इसके साथ व्यापार नहीं करना; वह जैसा रखेगा, वैसे रहेंगे; मारेगा तो, मरेंगे; यह भी नहीं पूछेंगे कि क्यों मारते हो, हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है; बिल्कुल नहीं पूछेंगे, इस प्रकार की अपनी धारणा बननी चाहिए या नहीं?- इसका विचार कर लें। अपना मन हमें किसी भी अवस्था में परास्त नहीं कर सकता, किसी प्रकार अपने को डरा नहीं सकता, किसी प्रकार अपने को इस ध्येयनिष्ठ व्रतपूर्ण जीवन से डिगा नहीं सकता, हमें इधर-उधर देखने के लिए प्रवृत्त नहीं कर सकता। किसी भी प्रकार से दुनिया भर के चाहे जितने अच्छे दिखनेवाले कार्य हों, अन्य अच्छे और सफल दिखनेवाले मार्ग हों, तब भी अपना दृढ़ मन इसके विपरीत विचार नहीं कर सकता, इस प्रकार की धारणा कार्य की

कसौटी है। यदि ऐसा अपना निश्चय हुआ हो तो समझना चाहिए कि इस कार्य के संबंध में अपनी निष्ठा भी पूर्ण है।

यदि कभी अपने मन में ऐसा विचार आ गया कि मैं इधर-उधर का काम भी कर सकता हूँ और संगठन का काम भी। वह संपूर्ण समर्पण करने के मन के साथ हुए युद्ध में हार गया। इस बात को मैं इसलिए बताता हूँ कि अपने अनेक कार्यकर्ता विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हैं। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करते समय अपने ध्येय, कार्यपद्धति और निष्ठा की अविचलता का भाव उनके हृदय में रहना चाहिए। साथ ही हम लोग भी जो प्रत्यक्ष संघ के कार्य में हैं, अपने मन को काबू में रखकर उसका उपयोग करें। उस संबंध में कुछ विचार आपके सामने रख रहा हूँ। एक विचार मुझे बहुत दिन से आ रहा है कि अपनी कोई इच्छा न रहे, अपने लिए कोई इच्छा न रहे। संगठन में मेरी क्या स्थिति रहे– इस प्रकार की कल्पना रहना अलग बात है, योजना जानना अलग बात हैं; परंतु अपने जीवन के संबंध में कि मैं संगठन में इसी स्थान पर रहूँगा, इतनी मर्यादा तक कार्य करूँगा; या अमुक क्षेत्र ही मेरे लिए प्रिय है, दूसरा नहीं; अथवा अपने गुण मैं इसी क्षेत्र में प्रकट कर सकता हूँ अन्यत्र नहीं; इसीलिए वहीं पर रहूँगा। जैसे के वैसे रहूँगा, इस प्रकार से जीवन को चुनने का अपने अंतःकरण का भाव समाप्त होना चाहिए। जिसने मन को जीत लिया, उसका यह विचार ही नष्ट हो जाता है।

फिर वह यह सोचता है कि जहाँ के लिए कहा जाएगा, वहीं पर रहूँगा। इसमें उसके मन को सब प्रकार से संतोष हो। अगर कोई सेवा में चुनाव करे तो सेवा कैसी? फिर सेवा क्या? वह तो नौकरी हो गई। ऐसा यदि वह सोचता है तो वह केवल नौकरी करता है। जिस प्रकार नौकरी खोजते समय सोचा जाता है कि अच्छा शिक्षक बन सकता हूँ, अच्छा न्यायाधीश बन सकता हूँ, या अच्छा 'कान्स्टेबल' बन सकता हूँ, इस प्रकार संगठन के अंतर्गत कार्यक्षेत्र चुनने की लालसा रही तो वह एक प्रकार से नौकरी ही हो गई, भले ही निःशुल्क हो, पर हुई तो नौकरी ही। उसमें यह शुद्ध भाव नहीं कि अपना निजी जीवन समाप्त हो गया है, जो कुछ था सब संघ के साथ घुलमिल कर एकरूप हो गया। अब तो जो समष्टि जीवन है, वह जैसी चाहे, वैसी योजना करें। यदि निक्कमा बनाकर छोड़ता है तो छोड़ दे, इसी भावना से जिसके मन और बुद्धि की सिद्धता है, उसने यह संघर्ष जीत लिया– ऐसा समझें।

अपना युद्ध स्वयं लड़ें

हम लोग अपने मन में सदा विचार करें कि हम विजय पाने की ओर बढ़ रहे है या नहीं। जीवन के अपने लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग पर अपना मन समय-समय पर जो बाधाएँ खड़ी करता है, उन सभी प्रकार की बाधाओं को परास्त कर मन को पूरी प्रकार से अनुकूल कर अपनी ध्येय साधना की उपासना में जीवनभर रत रहूँगा। ऐसी अपनी अवस्था हुई या नहीं– इसका हमें अपने मन में विचार करना होगा। मैं आप लोगों से यह नहीं कहता कि इसका विचार करने के लिए आप यही निश्चय करें कि करना है या नहीं, यह आपकी समझ पर है, मन की धारणा पर है, क्योंकि आप लोग संघकार्य के जानकार हैं, सब समझनेवाले हैं, इसलिए मैं कुछ कहूँगा नहीं। आप यदि ऐसा कहेंगे कि हमें तो अपना घर-बार कर संघकार्य करने का एक आदर्श खड़ा करना है, तो अवश्य करें। मैं उसके लिए नहीं कहूँगा। कोई कहेगा कि क्यों नहीं? क्योंकि यह अपनी-अपनी लड़ाई है। स्वयं को ही लड़नी पड़ती है। उसके लिए अन्य किसी की सहायता से काम नहीं चलता। इस युद्ध में अपने प्रतिपक्षी की ओर से भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार शस्त्र के रूप में प्रयोग किए जाते हैं। वे अपने को मार्गच्युत् कर सकते हैं। उसकी सावधानता रखें।

विशिष्ट नियमबद्धता व उपासना

इसी प्रकार दूसरा भी एक विचार है। जिस किसी को इस प्रकार के युद्ध में सफलता पाने का अवसर मिला है, वह लोगों के सामने एक श्रेष्ठ कार्य रखने का प्रयास करता है। अपने जीवन में भी उसका गुण चरितार्थ होता रहे, ऐसा लोगों को लगना चाहिए। सदैव राष्ट्र का चिंतन करते हुए सेवा का व्रत अपने जीवन में चलता है, तब किसी प्रकार का मोह, दंभ, अभिमान और आकर्षित करनेवाली भिन्न-भिन्न बातों का अपने हृदय पर कोई परिणाम नहीं होता। संगठन के लिए जिस प्रकार उत्तम व श्रेष्ठ व्यक्तियों की आवश्यकता है, उस प्रकार का श्रेष्ठ व उत्तम जीवन अंग-प्रत्यंग में प्रकट करना है। अपनी इस इच्छा के लिए कि अपने संपूर्ण राष्ट्र के व्यक्ति एक विशेष स्तर के हों, उनमें एकनिष्ठ राष्ट्रभक्ति हो, उनके पास राष्ट्र के संबंध में ज्ञान रहे, तो उनके अंदर जितनी सद्भावना, जितना ज्ञान, जितनी राष्ट्रभक्ति अपेक्षित है, उससे कितनी ही अधिक मात्रा में हमें अपने जीवन में प्रकट करनी होगी, व्यक्त करनी पड़ेगी। अपने राष्ट्र की

परंपरा का ज्ञान स्वयं को रखना होगा। उस ज्ञान को रखते हुए जीवन में सतत दृढ़ता को बनाए रखने के लिए कुछ दैनंदिन उपासना करनी पड़ेगी। इन सब बातों पर योग्य ढंग से विचार करने के लिए, एक विशिष्ट प्रकार की नियमबद्धता, शुद्ध उपासना और सब प्रकार के ज्ञान के आदर्श के रूप में खड़े हो सकें, इस प्रकार के सद्गुणों को अपने अंदर निर्माण करने के लिए आगे बढ़ना होगा। आप सब लोग प्रचारक हो, विचार करो कि प्रचारक का काम क्या है? कहीं, १५ दिन में चले जाना, शाखा खोलना मात्र ही प्रचारक का काम नहीं है। यह तो कोई भी कर सकता था। अनेक लोगों ने इसके पूर्व किया भी है। आप प्रचार विभाग के रूप में यहाँ एकत्रित हुए हैं। इसलिए इस दृष्टि से अपनी ओर देखना ही उचित होगा। आपका कार्य क्या है, क्या करना चाहिए? इसका निर्णय करें।

उत्कृष्ट जीवन का आदर्श

केवल एक बात अपने सामने रखनी चाहिए कि जब हम अपने क्षेत्र में जाएँगे तो लोग एक उत्कृष्ट जीवन, एक आदर्श जीवन– इस नाते से अपनी ओर देख सकें, ऐसा व्यवहार करना ही उचित होगा। इस प्रकार का उत्कृष्ट जीवन बनाकर चलना चाहिए। एक आदर्श राष्ट्रभक्त के नाते अपना सब व्यवहार होता है– ऐसा दिखना चाहिए और राष्ट्र के शुद्ध जीवन की परंपरा के ज्ञान का अपने पास कोई अभाव नहीं है, इस प्रकार का भी लोगों को अनुभव होना चाहिए। इस प्रकार स्वयं को बनाने की इच्छा लेकर काम करना चाहिए, ऐसा मैं समझता हूँ। मैंने अपनी ओर से उन विषयों का आपके समक्ष निर्देश मात्र किया है, जिनपर विचार करना उपयुक्त होगा। इस संघकार्य को अपनी पद्धति से चलाने के लिए हमने अपने हाथ में लिया है। उसे विचारपूर्वक चलाने के लिए अपना शक्ति-सर्वस्व इसमें लगाना नितांत आवश्यक है।

सारी शक्ति समर्पित करें

चारों ओर की इस अवस्था को देखने के बाद और अपने अंतःकरण में विचार करने के बाद यदि यह निष्कर्ष न निकला कि यही करणीय है, तो अपने को ऐसा समझना चाहिए कि अपने युक्तिवाद में या विचार में कोई दोष रह गया है। तब फिर एक बार शुद्ध हृदय से विचार करना चाहिए कि यह कार्य ही अपने लिए अनुकरणीय है। इसके बिना

राष्ट्र-अभ्युदय असंभव है। राष्ट्र के सामने, आज और आने वाले समय में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की समस्याएँ, जो भिन्न-भिन्न प्रकार की आपत्तियाँ आ सकती हैं, उन सारी आपत्तियों और समस्याओं में से राष्ट्र को पार लगाना इसी कार्य से हो सकता है, अन्य किसी मार्ग से होना संभव नहीं है। इस प्रकार का दृढ़ निश्चय हम अपने हृदय में रखकर अपनी सारी शक्ति इस कार्य के लिए समर्पित करते चलें। तदनुसार अपने प्रयत्न भी होने चाहिए।

संपर्कितों की श्रद्धा वर्धमान हो

संगठन का कार्य करने से अपने संपर्क में छोटे-बड़े कितने ही व्यक्ति आते हैं। अनेक लोगों को लाने के लिए हम छटपटाते हुए प्रयत्न करते हैं। अनेक लोगों को साथ में लाते हैं, तो सदैव यह विचार करना चाहिए कि हम एक ध्येय पर लगे हुए, विशिष्ट जीवन को लेकर चलनेवाले, सद्भाव को लेकर चलनेवाले लोग हैं। जो-जो व्यक्ति अपने संपर्क में आया हुआ है, वह जैसा पहले था, उससे अधिक अच्छा हुआ है या नहीं। अच्छा, याने ज्ञान की दृष्टि से, जानकारी की दृष्टि से, राष्ट्र के इतिहास को जानने की दृष्टि से, उसके जीवनादर्श की दृष्टि से, राष्ट्रभक्ति के साथ एक ध्येयनिष्ठ जीवन निर्माण करने की दृष्टि से, सभ्यता का अपने अंदर साक्षात्कार और अनुभूति करने की दृष्टि से, अपने व्यवहार में अधिक शुद्धता, अधिक स्नेह, अधिक भ्रातृभाव निर्माण करने की दृष्टि से वह अधिक योग्य बना है अथवा नहीं– यह देखना चाहिए। अपने प्रत्यक्ष दैनंदिन जीवन में जीवन निर्वाह के भिन्न-भिन्न कार्य करता हुआ परिवार में अधिक सुख-निर्माण करने की पात्रता अपने अंदर उत्पन्न करता है या नहीं, यह देखना चाहिए। लोकसंग्रह करते हुए समय-समय पर अपने पर संपूर्ण संगठन का कार्य सँभालकर और सुचारु रूप से संगठन कर, उसका व्यवस्थित स्वरूप बनाकर रख सकने की पात्रता उसमें उत्पन्न हुई है, तो वह अधिक वर्धमान हो, इसका भी ध्यान अपने को रखना चाहिए।

प्रचारक को किसी शाखा में केवल दक्ष-आरम् के कार्य करना नहीं है। वह शिक्षक का कार्य तो करता नहीं। कार्य तो प्रचार का है, याने अंतःकरण के गुणों का, श्रद्धा का, निष्ठा का, विकास का, प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा कार्य करा लेने का अपना कार्य प्रचार-कार्य के रूप में है, और यही वास्तविक कार्य है। इस दृष्टि से यह सब प्रगति, वृद्धि हम लोगों को मिलकर देखना ही अपने कार्य की वास्तविक सफलता है। ❀❀❀

१२. ध्येयसिद्धि के लिए संपूर्ण समर्पण

(१६ मार्च १९५४)

एक साधारण प्रश्न कई बार अपने मन में उठता है कि अंतर्राष्ट्रीयता आदि की इतनी ऊँची-ऊँची बातें करने के पश्चात् केवल कबड्डी और दक्ष-आरम् से क्या होगा? यदि युद्ध में खड़ा होना पड़ गया, तो रायफलों के सामने लाठी से क्या होगा? परंतु रायफल के पीछे जो मनुष्य रहता है, उसी का सामर्थ्य लड़ता है, रायफल का नहीं। यदि मनुष्य का सामर्थ्य योग्य रूप में रहा तो हाथ भर की लकड़ी क्या, निःशस्त्र प्रजा ही सफलता पाने की पात्रता रखती है। अभी तक का यही अनुभव है। इस अनुभव को आँखों के सामने से ओझल नहीं होने देना चाहिए। इसी बात पर अपना आग्रह है। अतः कार्यविस्तार की आवश्यकता होने के कारण एवं उसके अतिरिक्त कोई निष्कर्ष न होने के कारण, इस बात पर अविचल बुद्धि से आगे बढ़ना चाहिए। आगे चलते समय अधूरेपन से काम नहीं चलेगा। अपने संपूर्ण जीवन, संपूर्ण प्राण, संपूर्ण शक्ति, भावना एवं बुद्धि का पूर्ण समर्पण कर ही हम यह कार्य कर सकते हैं। इसलिए कार्य की रचना भी उसी प्रकार से की गई है।

दैनिक कार्य में हम इकट्ठा आते हैं। सब कार्यक्रम करते हैं। मन, बुद्धि और शरीर– तीनों को संतोष हो एवं अधिकाधिक उत्साह बढ़ सके, इसी प्रकार के कार्यक्रम बनाने चाहिए। जैसे, भगवान की प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं। मनुष्य से कहा गया कि तुम भगवान की प्राप्ति करो। यदि उन मार्गों में उसका मन नहीं लगता, तो विचार करना पड़ता है कि कैसे उसके मन का भाव जागृत हो। कैसे उसके लिए श्रद्धा उत्पन्न हो? किस प्रकार से अंतःकरण की एकाग्रता हो? इसके लिए कहा गया कि यदि मन नहीं लगता तो अपनी रुचि के अनुसार शारीरिक क्रिया करो। मूर्तिसेवा, प्रार्थना, भजन, नाचना आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के शारीरिक कार्यों से अंतःकरण की सद्भावनाओं को जागृत किया जा सकता है। यदि कोई पूजा कर सकता है, तो उसे कहो कि विग्रह सामने रखो, फूल लाओ, पानी लाओ, आरती करो, धूप जलाओ, स्तोत्र गाओ, अर्थात् शरीर को अभ्यास कराते-कराते निश्चित समय के अंदर शेष सब बातें हृदय से हटाकर, उस एक क्रिया में लगाकर शरीर की ऐसी अवस्था उत्पन्न करो कि उस समय शरीर वही कार्य करता रहे। इस प्रकार शरीर को उसका अभ्यास कराने

से धीरे-धीरे मन के अंदर के भाव जागृत होते हैं। और फिर हृदय के अंदर जैसी अनुभूति चाहिए, प्रेरणा चाहिए, वह भी प्राप्त होती है। इसी दृष्टि से होम, हवन, तीर्थ, यज्ञ, भजन आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियाएँ भिन्न-भिन्न समय पर नित्यकर्म की दृष्टि से अपने को दी गई हैं। उन सबका हेतु यही होता है कि शरीर की उन क्रियाओं से मन पर परिणाम होता है और उसे एकाग्र करने में सहायता मिलती है।

दिन-प्रतिदिन की उपासना

यह जिस प्रकार ईश्वर की पूजा के विषय में है, वैसे ही राष्ट्र रूपी इस व्यक्त परमात्मा की पूजा में लगे होने के कारण हमने भी राष्ट्र के प्रतीक के रूप में इस ध्वज को अपने सामने रखा है। इसके चारों ओर भिन्न-भिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियाएँ करते हैं, जिनके कारण संगठन के लिए आवश्यक भाव अपने हृदय में उत्पन्न होते हैं। पौरुष, पराक्रम, निर्भयता उत्पन्न होती है। किसी के भी सामने खड़े होकर निश्चल दृष्टि से उसकी ओर देखने की पात्रता उत्पन्न होती है और एक साथ रहने के कारण पवित्र स्नेह, जो संगठन के लिए आवश्यक है, उत्पन्न होता है। उस स्नेह के सागर में समस्त देश डूब जाए, आसेतुहिमाचल सब लोगों के अंतःकरण में एकात्मता जागृत रहे, उस एकात्मता को अपने कार्यक्रमों के द्वारा शरीर से शरीर रगड़ कर, कंधे से कंधा मिलाकर, संस्कारों को जागृत करते-करते, उन्हीं कार्यक्रमों के द्वारा अनुशासन का सूत्र शरीर, मन और बुद्धि में दृढ़ता से बैठे– इसका हम प्रयत्न करते हैं। अपने शरीर के द्वारा इस संगठनरूपी मार्ग से राष्ट्र की उपासना में अपने भिन्न-भिन्न भावों एवं विचारों के द्वारा मन-बुद्धि को संस्कारित करने की चेष्टा में लगे रहते हैं। वार्तालाप करते हैं, ध्येयवाद निर्माण करनेवाले गीत गाते हैं, समय-समय पर अपने ध्येय के बारे में बातचीत करते हैं। संघ के निर्माता के महान जीवन का दर्शन करने की चेष्टा करते हैं और उसमें से संपूर्ण राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक गुणों का चिंतन करते हैं। इस प्रकार से अंतर्बाह्य जीवन में नित्यव्रत के रूप में आचरण करने के लिए यह प्रणाली हमने निश्चित की है, जिसके कारण कुछ समय बाद मन पर संस्कार पड़ते-पड़ते उसी की धुन अपने ऊपर चौबीसों घंटे सवार रहे– ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। सोते-जागते सब समय एक ही विचार रहता है कि हम लोग कार्य के साथ एकरूप होकर अपना जीवन सफल कर सकें।

यह रचना अकस्मात ही आकाश से नहीं गिरी अथवा जिन्होंने उन्हीं (डाक्टर जी) के हाथ से समय-समय पर लिखे गए वचन देखे होंगे, उन्हें पता होगा कि उन्होंने रचना के जितने भी संभव मार्ग हो सकते हैं, उन सबको अपनी आँखों के सामने रखा और व्यवहार में भी लाने की चेष्टा की। 'स्टडी सर्कल्स', साप्ताहिक बैठकें, 'डिबेटिंग क्लब्स' आदि सब उपायों को अपनाकर देखा। सबसे अंत में उन्होंने दैनंदिन शाखा का निर्माण इसलिए किया कि पूजा दिन-प्रतिदिन हो, अर्थात् नित्यप्रति समय निकालकर नित्यव्रत निभाते-निभाते अंतःकरण उसी संस्कार में रंगकर चौबीसों घंटे दूसरा कोई भी विचार न आ सके, ऐसी सहजावस्था अपने संगठन की उत्पन्न हो। इसी प्रकार बहुत सोच-विचारकर उन्होंने यह रचना अपने सामने रखी। अतः इस रचना को अधिक मात्रा में दृढ़ता के साथ अपने को निभाना चाहिए। इस प्रकार जब हम लोग सहज स्थिति में संगठन के कार्य में लगे रहते हैं, तो अपने प्रत्येक व्यवहार से संघ का ही पोषण होता है। चाहे कोई प्रचारक के रूप में कार्य करे अथवा गृहस्थ के रूप में। ऐसा दृढ़ चिंतन जीवनव्यापी बनाना आवश्यक है। इसलिए दिन-प्रतिदिन की उपासना को निश्चलता से चलाना आवश्यक है। जब यह विचार अपने सामने रहेगा, तब दुनिया भर की बाकी बातों में कोई मतलब नहीं रह जाएगा। जब तक हम लोग प्रत्यक्ष व्रत का आचरण नहीं करते, तब तक बौद्धिक समाधान का कोई लाभ नहीं। वह वेदांत के कोरे प्रवचन करनेवालों के समान हो जाएगा। हम लोग भी संगठन की गपोड़बाजी करनेवालों के समान हास्यास्पद रूप में स्वयं को खड़ा कर लेंगे। वैसा कदापि नहीं होना चाहिए। हम संगठन के मंत्र को व्याप्त करनेवाले इस नित्यव्रत का अनुष्ठान पूर्ण शक्ति से तथा पूर्ण हृदय से जीवन भर करेंगे, उसके द्वारा उत्पन्न सहजस्थिति को जीवन के अंत तक पूर्ण रूप से जागृत एवं कार्यक्षम रखेंगे, इसी निश्चय को लेकर चलना आवश्यक है।

दैनिक शाखा

दैनिक शाखा के संबंध में यही विचार लेकर चलना चाहिए कि यह मेरा कार्य है, इसको मैं करूँगा। इस शाखा के लिए सब लोगों के पास जाऊँगा, उनके साथ वार्तालाप करूँगा। वार्तालाप करने के इस सूत्र को अखंड रखना है। भिन्न-भिन्न स्वभाव एवं गुणों के लोगों से मिलते हुए संगठन के सूत्र को उनके अंतःकरण में जागृत कर एकात्मता से भरे हुए

सब लोगों को एक सूत्र में गूँथना है। मुझे विश्वास है कि सब लोग अपने कार्य के लिए आगे बढ़ेंगे। सब कुछ छोड़कर इसी मार्ग पर हमें चलना है, यह विचार दृढ़ता से अपने सामने रखने की आवश्यकता है। आप लोगों को यह सब ज्ञान होने के कारण मैं यह आपके ही विश्वास पर छोड़ देता हूँ कि आप किस ढंग से कार्य करें। इसी रूप में अथवा शादी-विवाह कर व्यावहारिक मनुष्य के रूप में- इस बात को कहने की मुझे आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह अपने-अपने अंतःकरण पर निर्भर है।

प. पू. डाक्टर जी का जीवन अपने सामने रखें

यदि हम अपने जीवन में कोई आदर्श खोजते हैं, तो जैसा मैंने कहा कि चलते-फिरते किसी व्यक्ति का आदर्श न रखें। क्योंकि उसका कल क्या होगा, इसका कुछ पता नहीं। आज तक हमने अपने सामने जिन लोगों को अपने मार्गदर्शक के रूप में रखा, स्फूर्तिदाता के रूप में देखा, जिन्होंने हमें कार्य करने के लिए आगे बढ़ाया, वे ही इस कार्य से निवृत्त होकर प्रत्यक्ष संबंध तो क्या, विरोध तक करते हुए दिखाई देते हैं। इन सबको देखने के बाद हम यही निष्कर्ष निकालें कि अपना संबंध कार्य से है, व्यक्ति विशेष से नहीं। अतः अपने सामने ऐसा ही आदर्श रखें, जो कभी विकृत नहीं होता। इसी आदर्श के रूप में यह ध्वज अपने सामने है। यह ध्वज अपने त्याग के संदेश को कभी कम नहीं करता। जीवन को यज्ञ करने के साधन के रूप में मानने की प्रेरणा देता है। उसकी प्रेरणा में कभी कमी नहीं आती। इसे हम ग्रहण करें या न करें, यह हमारी ग्रहणशक्ति पर निर्भर है, परंतु पुरातनकाल से चली आई हुई अपनी दिव्य ज्ञानधारा को वह किसी के लिए भी कम या खंडित नहीं करता। कुछ लोगों ने कहा कि ध्वज तो बोलता नहीं, फिर किसकी ओर देखा जाए? विचार करने पर अभी-अभी तक हमने जिनका (डाक्टर जी का) शब्द सुना, जिनके व्यवहार देखे, चलना देखा, हँसना देखा, जिनके अंतःकरण के भिन्न-भिन्न भाव देखे, जिनका जीवन हमारे सामने रहा और आज भी आँखों के सामने है, उनके ही अंग-प्रत्यंग का विचार करें। उन्होंने अपने को बता दिया कि संघकार्य जी-जान से करने के लिए जो प्रवृत्त होगा, उसे उनके जैसा रहना होगा।

यह तो सबको मालूम है कि जीवन में पैसा कमाना आदि जो सामान्य बातें होती हैं, वे उनके मन में आई ही नहीं होंगी- ऐसी बात नहीं है। लोगों ने भी उनसे अवश्य ही अपेक्षाएँ की थीं कि घर में यह अकेला

पढ़ा-लिखा है, डाक्टरी पास है, उस समय डाक्टर बनना धन्य माना जाता था, अतः कुछ न कुछ कमाएगा, कुटुंब के अच्छे दिन आ जाएँगे। यदि उनसे यह अपेक्षा रखी गई तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। साथ ही आस-पास के लड़कीवालों ने भी सोचा होगा कि यह अच्छा आदमी है, नीतिवान व बुद्धिवान है। एक कौड़ी पास न होते हुए भी किसी से बिना भीख माँगे स्वाभिमान से जीवन व्यतीत कर विद्यार्जन किया। ऐसा पराक्रमी अपनी लड़की के लिए बहुत अच्छा रहेगा। उनके सामने इस प्रकार के अनेकों सुझाव आए होंगे, उनका तो मुझे पता नहीं। किंतु एक बात स्मरण है कि उनके चाचा ने जब इन बातों का उल्लेख किया तब पहले तो उन्होंने बात बिल्कुल ही टाल दी। दूसरी बार भी यह कहकर टाल दिया कि अपने बड़े भाई, जो एक वेदनिष्ठ ब्राह्मण थे, के विवाह से पहले वे शादी नहीं करेंगे। उनका विवाह हो जाने के बाद चाचा को पत्र लिख दिया कि मेरा जीवन ऐसा है, शादी करके दूसरे की लड़की को कष्ट देना ठीक नहीं। उसको सुख में रखने के लिए अपने इस कार्य को छोड़कर धन कमाना मेरे लिए संभव नहीं। इस प्रकार विवाह कर जैसा अनेकों का होता है कि शादी होते ही सब कुछ समाप्त, वैसा उन्होंने स्वीकार नहीं किया। यह बात नहीं कि उनको विवाह की इच्छा ही नहीं हुई होगी, परंतु अपने विवेक के आधार पर अपने ध्येय के अनुकूल जीवन उन्होंने ग्रहण किया था।

एक बार जैसा जीवन ग्रहण किया, वैसा ही अंत तक चलाने का उन्होंने निश्चय किया। अपनी ही इच्छा से दरिद्रता का जीवन स्वीकार किया। वैसा उदात्त उदाहरण अपने सामने रखकर जो कुछ निर्णय करना है, वह हम करें और तदनुसार जीवन बनाने के लिए आगे बढ़ें। इसका भी निश्चय अपने-अपने व्यक्तिगत जीवन में योग्य रूप से कर लें। वह उदाहरण हमारे सामने होने के कारण मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। जीवन में कार्य की एकाग्रता लेकर चलने की आवश्यकता है।

व्यक्तिगत रुचि-अरुचि को स्थान नहीं

संघ का स्वरूप विचित्र है। इसमें कोई छोटा, कोई बड़ा नहीं है। कभी कोई बड़ा तो कभी कोई छोटा होता है। विचार उठता है कि मैं कौन-सा काम करूँ? मुझे अमुक काम में रुचि है, अमुक में नहीं। यह विचार करने में काई आपत्ति नहीं। पूर्व काल में डाक्टर साहब के सामने भी लोग कहा करते थे, 'मुझे अमुक काम में रुचि है', 'मैं इतना ही करूँगा'

आदि-आदि। डाक्टर साहब कहते थे कि 'जितना कर सकते हो, जो कर सकते हो, वैसा ही करो। धीरे-धीरे ठीक हो जाओगे।' वे उसपर दबाव नहीं डालते थे। प्रत्येक से उसकी रुचि एवं शक्ति के अनुसार कार्य लेते थे। धीरे-धीरे उनको संगठन के लिए उपकारक बनाने का प्रयास करते थे। उन्होंने स्वयं अपने जीवन से एक आदर्श स्वयंसेवक सबके सामने उपस्थित किया और सिद्ध किया कि एक बार कार्य को जीवन अर्पित कर देने के पश्चात् अपनी रुचि-अरुचि, इच्छा-अनिच्छा को कोई स्थान नहीं। अपने द्वारा होनेवाले समस्त कार्यों का श्रेय अपनी प्रतिभा को न देकर संगठन को ही देना चाहिए। यदि किसी मनुष्य को एकाध अधिकार दिया तो संगठन की इच्छा के अनुसार उसे करना चाहिए और यही भाव मन में लेकर चलना चाहिए कि यदि मेरी पात्रता कम हुई तो भी वह तुम्हारा ही दोष और यदि न हुई तो उससे तुम्हारा ही यश, मेरा कुछ भी नहीं।

यदि हमने कहा कि हम संगठन के अंग हैं, हम उसका अनुशासन मानते हैं, तो फिर व्यक्तिगत इच्छा या चुनाव को जीवन में कोई स्थान न हो। जो कहा, वही करना। कबड्डी कहा तो कबड्डी, बैठक कहा तो बैठक। संगठन को ही अपनी संपूर्ण प्रतिभा का यश प्रदान करना। सबका संगठन के लिए अधिकाधिक उपयोग करते हुए व्यक्तिगत जीवन में निर्वाह के संबंध में कुछ चिंता नहीं करना। अपने बारे में निर्णय करने का दायित्व स्वयं पर न लेते हुए संगठन के कार्यकर्ताओं पर ही छोड़ देना चाहिए। उससे अपने को लाभ होगा। हम स्वयं विचार करें कि यदि हम अपने जिले के किसी कार्यकर्ता को कहें कि तुम इस स्थान पर शाखा चलाओ और वह कहे कि नहीं, मैं नहीं करूँगा, मैं तो दूसरे स्थान पर जाता हूँ, क्या यह ठीक होगा? आप यही कहेंगे कि यह निर्णय करने का काम मेरा है। अधिक से अधिक इतना ही हो सकता है कि हम अधिकारी के समक्ष अपने स्वभाव एवं दोषों का ब्यौरा रख दें। इतना होने पर भी वह जहाँ रखेगा, वहाँ रहेंगे। मन को यह शिक्षा देना अत्यंत आवश्यक है। जैसे अपने कुछ मित्रों से कहा कि राजनीति में जाकर काम करो, तो उसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें इसके लिए बड़ी रुचि या प्रेरणा है। वे राजनीतिक कार्य के लिए इस प्रकार नहीं तड़पते, जैसे बिना पानी के मछली। यदि उन्हें राजनीति से वापस आने को कहा, तो उसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। अपने विवेक की कोई जरूरत नहीं। जो काम सौंपा गया, उसकी योग्यता प्राप्त करेंगे- ऐसा निश्चय करके ये लोग चलते हैं।

मुझे अपना एक अनुभव स्मरण आता है। यद्यपि अपने बारे में कहना नहीं चाहिए, तथापि कहता हूँ कि एक बार भगवान का नाम लेने के लिए गया। उन्होंने (स्वामी अखंडानंद जी ने) कहा– 'भगवान छोड़ो, पहले बर्तन माँजो'। ईमानदारी से बर्तन माँजे, तब उन्होंने कहा कि अच्छा अब झाड़ने-बुहारने का काम करो। फिर कहा– 'बगीचे में पानी दो'। उनकी सब बातों में मैंने अपनी अरुचि नहीं बताई। जैसा कहा, वैसा किया। तब अंत में उन्होंने कहा– 'अच्छा, भगवान का स्मरण करो'। अपने को गंदगी उठाने को कहा, तो गदंगी उठाना चाहिए। उसी में संघकार्य होगा। पत्थर के समान जहाँ रख दिया, वहाँ काम करना चाहिए, अर्थात् कार्य के लिए पूर्ण समर्पण 'विदाऊट रिजर्वेशन' से चलना चाहिए। तभी कार्य करने की पात्रता उत्पन्न होती है। अपने लिए कुछ भी शेष नहीं रखना चाहिए। मन, बुद्धि, शरीर– अपना कुछ भी नहीं, सब सौंप दिया। इस पूर्ण समर्पण से ही अपने अंतःकरण में छिपे हुए समस्त गुण खिल उठते हैं।

हम स्वयं विचार करें कि हमें किस प्रकार से कार्य करना है। जीवन के महान गुणों को उत्पन्न करनेवाले इस कार्य की उपासना पूरी करें या अधूरी छोड़ें, यह मैं नहीं कहूँगा। जितना मुझे कहना था, वह कह दिया। उसमें से जो समझना है, समझ लें।

ऐतिहासिक स्थल सिंदी

एक ही बात आपसे कहनी है कि हम अपना यह कार्यक्रम उस स्थान पर ले रहे हैं, जहाँ पर एक बार पहले भी प.पू. डाक्टर साहब ने अपनी शब्दप्रणाली, प्रार्थना, आज्ञाएँ आदि कार्य की भिन्न-भिन्न रचना निश्चित की थी। मैं भी उसमें बुलाया गया था। तब जिस भूमि में हमने एक सप्ताह बैठकर अपने कार्य का निर्धारण किया था, फिर से एक बार वहीं आकर अपने कार्य का पुनःस्मरण एवं पुनर्विचार का यह प्रसंग उत्पन्न हुआ है। जैसे उस बार हम लोगों ने अपने अंतःकरणों में अपने कार्य के प्रति विश्वास उत्पन्न किया था कि कोई बात नहीं, दिन-रात कार्य में रत रहकर हम इसे बढ़ाएँगे। उसके बाद सवा वर्ष के अंदर डाक्टर साहब का देहांत हो जाने पर भी एकाग्रचित्त होकर हमने अपने कार्य को आगे बढ़ाया। यदि चारों ओर की परिस्थिति के कारण अपने मन में कुछ संदेह उत्पन्न हो गए हों, तो हम निश्चय करें कि अपने अंदर किसी प्रकार की

त्रुटि नहीं आने देंगे और अपनी समस्त शक्ति के साथ दिन-रात एक कर, अपने-अपने क्षेत्र के संघकार्य को इतना प्रसृत करेंगे कि उसके वातावरण से कोई भी अछूता न रहे। यद्यपि सब लोग संघ में नहीं आते, फिर भी कुछ प्रभाव में रहते हैं, कुछ सहानुभूति रखते हैं, कुछ प्रभावित होकर विरोध करते हैं। इस प्रकार अपने कार्य से संबंधित हो जाते हैं। इस प्रकार के प्रसार का हम निश्चय करें, जिससे इतना सामर्थ्य उत्पन्न हो कि अपने इंगित मात्र से ही देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्र चल सकें और देश की तरक्की तथा भलाई हो सके। देश में सब प्रकार की अनास्था एवं अव्यवस्था उत्पन्न करने की अथवा देश पर संकट लाने की क्षमता रखनेवालों के हृदय पर सदा के लिए आतंक छा जाए और वे उससे निवृत्त हो जाएँ, ऐसी स्थिति हमें उत्पन्न करनी है। यही अपने लिए करणीय है, ऐसा मैं सोचता हूँ।

भगवान पर भरोसा करें

मेरा बड़े-बड़े विषयों से तो कुछ संबंध नहीं, मेरा एक सीदा-साधा आधार है, जिसकी ओर मैं अँगुलीनिर्देश करता हूँ। उसी का आज स्मरण दिलाता हूँ। जिस प्रकार डाक्टर साहब ने एक ध्येय को सामने रखकर, दिन-रात उग्र तपस्या कर शुद्ध जीवन अपने सामने रखा। वैसे ही एकाग्रचित्त होकर हम उग्र तपस्या के व्रत को लेकर यहाँ से जाएँ। जब कभी कोई कार्यकर्ता यह विचार करता है कि मेरे जीवन का क्या होगा, तब मुझे लगता है कि क्या भगवान पर कोई विश्वास नहीं रहा? हम क्यों इतनी चिंता करें? जिसने हमें उत्पन्न किया है, क्या वह खाने को नहीं देगा? मैं तो यही विश्वास लेकर चलता हूँ। एक बार बचपन में मेरे बारे में हमारे यहाँ की एक बूढ़ी महिला से लोगों ने शिकायत की कि 'मधु' कुछ नहीं करता। उसने उत्तर दिया कि 'इसने पूर्व जन्म में पुण्य किया इसलिए इस जन्म में बेफिक्र है, भगवान उसकी चिंता करेगा।' तब से भगवान पर ही विश्वास रखकर चलता हूँ। मिल जाता है तो अच्छा, ना मिले तो अच्छा। भगवान देता भी है, वह इतना अन्यायी नहीं है। ऐसा अनुभव मुझे स्वयं एक बार काशी से नागपुर आते समय आया। तब मैं दो दिन से भूखा था, अनायास ही एक व्यक्ति ने आकर भोजन कराया व टिकट की व्यवस्था भी की। यद्यपि उसने नागपुर का पता लिखाया था, परंतु बहुत खोजने पर भी आज तक उसे न पा सका। क्यों हम भगवान पर अविश्वास करें? हमने तो कंटक पथ पर पैर बढ़ाए हैं, तो वे कंटक क्या कालीनों में जड़े गए हैं?

बनावटी कंटक नहीं, तो वास्तविक कंटक हैं। हम उन्हें अपनी एड़ी से कुचलकर दूसरों का रास्ता सुगम करेंगे। बहुत स्वल्पकाल में संपूर्ण भारतीय जीवन में अपना प्रभाव जगाकर उसके जीवन में आनेवाले समस्त दुःखों को कुचलकर वैभवसंपन्नता का, श्रेष्ठता का जीवन निर्माण करेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं।

यह स्पष्ट है कि हिंदूसमाज की अप्रतिम राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुरूप उसे पुनः संगठित करने का पवित्र कर्तव्य, जिसे संघ ने ग्रहण किया है, केवल भारत के ही सच्चे राष्ट्रीय पुनरुत्थान का एक कार्यक्रम मात्र नहीं है, अपितु संसार की एकता एवं मानव–कल्याण के स्वप्न को चरितार्थ करने की अनिवार्य पूर्वभूमिका भी है। जैसा हम देख चुके हैं, संसार की एकता को संपादन करनेवाला यह केवल हिंदुओं का ही महान विचार है, जो मानव–भ्रातृत्व के लिए स्थायी आधार प्रदान कर सकता है।

— श्री गुरुजी

इंदौर

मार्च १९६० में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विभागीय व उसके ऊपर के स्तर के कार्यकर्ताओं के इंदौर में हुए एक अखिल भारतीय वर्ग में देश, काल व परिस्थिति की पृष्ठभूमि में संघ की विचारधारा का व्यापक और गहन मंथन हुआ। उस वर्ग में प्रारंभ से अंत तक श्री गुरुजी उपस्थित थे व चर्चाओं के आधार पर प्रतिदिन वे कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन किया करते थे। प्रस्तुत अध्याय में उनके उस मार्गदर्शन का संकलन है।

---

१. वर्तमान परिस्थिति में हमारा दायित्व

(५ मार्च १९६०)

संघ का कार्य जब से चला है, तब से हमने यही कहा है कि हमें हिंदू-समाज संगठित करना है। हिंदुस्थान में हिंदू-समाज ही मूल तथा मुख्य घटक है। इस भूमि में राष्ट्ररूप से विद्यमान रहने का स्वाभाविक दायित्व हिंदू-समाज का ही है। इस राष्ट्र का विद्यमान रहना, उसका वैभवसंपन्न जीवन रहना, और उसका निर्भयता से पूर्ण स्वतंत्र जीवन होना, यही वास्तविक स्वतंत्रता है।

अनेक बार कहा जाता है कि हम स्वतंत्र हैं, किंतु हम विचार करें कि अंग्रेज यहाँ से गए तो स्वतंत्रता प्राप्त हुई— ऐसा हम कह सकते हैं क्या? जब तक अपने राष्ट्र का महत्त्वपूर्ण सुप्रतिष्ठित जीवन न हो, तब तक यह कहना कि हम स्वतंत्र हैं, बिल्कुल बेकार की बात है। जब तक

अपने घर में ही अपने धर्म के, संस्कृति के, परंपरा के शत्रु, समाज जीवन के शत्रु, चाहे वे जन्म से हिंदू क्यों न हों, उद्दंडतापूर्वक अपने साथ व्यवहार करते हुए चल सकते हैं और उसपर कोई रोक हम नहीं लगा सकते, तब तक स्वतंत्रता कैसी? जगत् के सामने उन्नत मस्तक से खड़े रह सकें, स्वत्व से सुप्रतिष्ठित और अकुतोभय रह सकें, तभी सच्ची स्वतंत्रता है, यह कह सकेंगे। इस सत्य को न समझने के कारण ही अनेकों को स्वतंत्रता का भ्रम होकर, उनकी कार्य की प्रेरणा कम हो गई है।

कई लोग पहले इस प्रेरणा से काम करते थे कि अंग्रेजों को निकालकर देश को स्वतंत्र करना है। अंग्रेजों के औपचारिक रीति से चले जाने के पश्चात् कार्य की यह प्रेरणा ढीली पड़ गई। वास्तव में इतनी ही प्रेरणा रखने की आवश्यकता नहीं थी। हमें स्मरण होगा कि हमने प्रतिज्ञा में धर्म और संस्कृति की रक्षा करके राष्ट्र की स्वतंत्रता का उल्लेख किया है। उसमें अंग्रेजों के जाने या न जाने का उल्लेख नहीं है, अर्थात् धर्म, संस्कृति, समाज की परिपूर्ण रक्षा यह अपनी स्वतंत्रता की कल्पना का सर्वप्रथम अविभाज्य तथा अनिवार्य अंग (कंडीशन प्रिसिडेंट) है। उसके बिना स्वातंत्र्य नहीं। इसको ध्यान में रखा तो मन में किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न नहीं होगा।

यह हिंदुस्थान अपना राष्ट्र है। अपनी भूमि, अपना समाज इसका संगठन अपने को करना है। यथार्थ रूप से उसको राष्ट्रीय जीवन, स्वतंत्र जीवन अभी प्राप्त हुआ नहीं। केवल अंग्रेज के जाने न जाने में स्वातंत्र्य-पारतंत्र्य निहित नहीं था, तो अपनी स्वतः की प्रकृति को लेकर, स्वतः की आत्मा को लेकर, अपना जीवन सुप्रतिष्ठित करना, यही अपना वास्तविक स्वातंत्र्य होने के कारण हम लोग प्रतिज्ञा में उसका उच्चारण करते हैं। हमने अपने धर्म एवं समाज को अग्रस्थान देकर उसको अपने स्वातंत्र्य के मूल स्वरूप का अनिवार्य और सर्वश्रेष्ठ अंग के रूप में ग्रहण करके ही प्रतिज्ञा का उच्चारण किया हुआ है। उसका हम लोग अच्छी प्रकार से स्मरण करें और इस स्थिति को प्राप्त करने हेतु किस प्रकार के प्रयत्न करने चाहिए, इसका भी विचार करें।

तत्त्ववादी कर्ममय जीवन

अपने-अपने दैनंदिन जीवन चलाते हुए, अपने-अपने कारोबार करते हुए, उसमें अपनी राष्ट्रचिंता का अपने अंतःकरण पर कितना

परिणाम है और उस परिणाम के अनुरूप अपनी कृति कितनी होती है, इन सब बातों का हम लोग विचार करें। यदि केवल तात्त्विक विचार हो और उसके साथ कर्म की जोड़ न रहे तो वह विफल होता है; और केवल कार्य किया तथा उसका विचार न रहा, तो कर्म अनेक बार विकर्म हो जाता है। दोनों प्रकार की आपत्तियों को सोचकर योग्य विचार के साथ अपना कर्म-जीवन चलता है या नहीं, कर्मठ जीवन चलता है या नहीं– इसका विचार करने की आवश्यकता है।

संघोन्मुख संकटाकुल समाज

और भी एक छोटी सी बात है, जिसका जरा-सा उल्लेख इस समय करता हूँ। मनुष्य मात्र पर परिस्थिति का परिणाम होता है। जब देश-भर में सब लोगों ने मुसलमानों की पाकिस्तान की माँग के रूप में उद्दंडता बढ़ती हुई देखी, तो किसी के न बताने पर भी लोगों को यह लगने लगा कि वे अपनी उद्दंडता को आक्रमण का रूप देकर इस भूमि के किसी न किसी अंग पर अपना राज्य प्रस्थापित करने का संकल्प लेकर चल रहे हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि वातावरण में भविष्य के संकेत दिखाई देने लगते हैं और वे अंतःकरण पर अपना परिणाम कर देते हैं। उस समय ऐसा दिखाई देता था कि बहुतांश लोगों के मन पर कुछ अस्पष्ट-सा ऐसा आभास उत्पन्न हो गया था कि इस उद्दंडता में से अपने पर आपत्ति आनेवाली है। पाकिस्तान बनेगा या नहीं बनेगा इत्यादि सब बातों का ठीक-ठीक पता किसी को भले ही न हुआ हो, परंतु कुछ न कुछ इसकी आशंका हो गई थी। अंतःकरण में इस प्रकार का एक बड़ा भारी भय-सा उत्पन्न हो गया था। इस भयाकुल स्थिति में जब लोगों ने चारों ओर सहारा खोजा तो उन्हें अपने संगठन की शक्ति विस्तृत होती हुई, आत्मविश्वास के साथ संपूर्ण समाज का आवाहन करती दिखाई दी। अतः भय या प्रतिक्रिया से समाज के अनेक व्यक्ति संघ की ओर आकृष्ट हुए। फलतः छोटे-छोटे ग्रामों में भी शाखाएँ खोलना सुकर हो गया था, यद्यपि उस समय ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो मुसलमानों के इस उद्दंड व्यवहार को प्रेम का उपहार मानकर उन्हें गले लगाने में व्यस्त थे। फिर भी सर्वसाधारण समाज के मन में इतनी मात्रा में भय और आशंका निर्माण हुई थी कि वह सुरक्षा का अवलंब ढूँढने को आतुर था।

आज भी ऐसी ही एक परिस्थिति निर्माण हो रही है। पूर्व परिस्थिति का निराकरण नहीं हुआ है, अर्थात् मुसलमानों की उद्दंडता का भय समाप्त नहीं हुआ है, परंतु लोगों के मन में अब वैसी जागृति नहीं है। उसके साथ ही आज प्रत्यक्ष आक्रमण का भय भी उपस्थित हो गया है। जैसे पहले मुसलमानों की उद्दंडता के समय कुछ लोग उसे प्रेम का उपहार समझते थे, वैसे ही आज भी देश में ऐसे व्यक्ति हैं, जो इस आक्रमण को भगवान का वरदान मानते हैं, परंतु जनसाधारण में तात्कालिक भीति या प्रतिक्रिया के कारण ही क्यों न हो, एक चेतना उत्पन्न होने की संभावना है। इस स्थिति में वे फिर से इधर-उधर देखेंगे कि कहाँ जाना चाहिए। वे संघ की ओर देखेंगे या नहीं, यह मैं कैसे कहूँ? यह अपने कार्य के ऊपर निर्भर है।

संघ 'भीड़' न हो जाए

यदि अपना कार्य बराबर चला तो वे अपनी ओर ही देखेंगे, क्योंकि उनका पिछली बार का अनुभव खराब नहीं है। यदि लोगों को यह लगा कि एक अत्यंत उद्दीपित राष्ट्रभक्ति और उसके आधार पर एक प्रबल संगठित शक्ति के रूप में चलनेवाला संघ का कार्य ही हमारा अवलंब रहेगा तो वे केवल संघ के निकट, आश्रय के हेतु ही नहीं, अपितु प्रत्यक्ष स्वयंसेवक के नाते शाखाएँ चलाने के लिए खड़े होंगे। इन सब लोगों को सँभालने का एक बड़ा बोझा हमारे ऊपर आएगा। इतने लोगों के आने मात्र से काम बढ़ेगा- ऐसा भ्रम लेकर हम आनंद मनाते रहे, यह उचित नहीं। हमें तो यह ध्यान रखना होगा कि इस भीड़ के आने पर कहीं संघकार्य 'भीड़' न हो जाए तथा जिस एक उद्देश्य को लेकर, जिस प्रकार की रचना के बल पर हम लोग अपने ध्येय को सफल करने की आकांक्षा धारण करके चले हैं, उस अपनी रचना में उसके कारण कहीं अस्तव्यस्तता न आ जाए। प्रत्यक्ष क्या होगा- यह भविष्य मैं नहीं बता सकता, लेकिन ऐसी संभावना हो तो पूर्वसिद्धता जरूर करनी चाहिए। इसलिए अपनी शाखाओं की दृढ़ता, उसकी रचना की दृढ़ता, उस रचना को बराबर योग्य रीति से चलानेवाले स्वयंसेवकों की संख्या की पर्याप्तता, ध्येयनिष्ठा इत्यादि सब बातों में योग्य ऐसी अवस्था रहे- इस हेतु प्रयत्न करने की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

यह सोचकर चलना ठीक नहीं कि अपना काम तो चल ही रहा

है तथा उसमें किसी भी परिस्थिति में अपनी रचना और पद्धति की दृढ़ता में कमी नहीं होगी। हमें इस दृष्टि से कुछ अनुभव भी मिले हैं। सन् १९४९ में संघकार्य से प्रतिबंध हटने के बाद यह निश्चय किया गया कि देश भर में स्वागत-सत्कार, जलसे और जुलूस किए जाएँ। उस समय हमें दिखा कि उत्साह अनुशासन की सीमा को तोड़ गया है। अपनी रचना बहुत अच्छी है, परंतु उसे इतना दृढ़ बनाना है कि उत्साह संयम की मर्यादाओं को, कभी भी, किसी भी प्रकार की लहर क्यों न आए, लाँघ न सके। उस संयमहीनता का दुष्परिणाम आज बारह साल के पश्चात् भी गया नहीं है।

हमें यह भी मालूम है कि अपने कुछ स्वयंसेवक राजनीति में काम करते हैं। वहाँ उन्हें उस कार्य की आवश्यकताओं के अनुरूप जलसे, जुलूस आदि करने पड़ते हैं, नारे लगाने होते हैं। इन सब बातों का हमारे काम में कोई स्थान नहीं है, परंतु नाटक के पात्र के समान जो भूमिका ली, उसका योग्यता से निर्वाह तो करना ही चाहिए। पर इस नट की भूमिका से आगे बढ़कर काम करते-करते कभी-कभी लोगों के मन में उसका अभिनिवेश उत्पन्न हो जाता है। यहाँ तक कि फिर इस कार्य में आने के लिए वे अपात्र सिद्ध हो जाते हैं। यह तो ठीक नहीं। अतः हमें अपने संयमपूर्ण कार्य की दृढ़ता का भलीभाँति ध्यान रखना होगा। आवश्यकता हुई तो हम आकाश तक भी उछल-कूद कर सकते हैं, परंतु जब 'दक्ष' दिया तो 'दक्ष' में ही खड़े होंगे। उसमें तनिक भी फरक नहीं पड़ेगा। इस प्रकार की मन की दृढ़वृत्ति उत्पन्न होनी चाहिए। इसके लिए हमें पर्याप्त परिश्रम करने की आवश्यकता है। यह बात हमको पिछले दस-बारह वर्षों में ध्यान में आई ही होगी।

अतः आज की परिस्थिति में भयमिश्रित कौतूहल और व्याकुल वृत्ति से अवलंबन खोजनेवाले समाज को संतोष और समाधान देने के लिए तथा उस भीड़ के बोझ में भी अपना यह संयमशील कार्य पक्का का पक्का ही सिद्ध हो, इस हेतु हमें अत्यंत दत्तचित्त होकर काम करने की आवश्यकता है।

ॐ ॐ ॐ

२. लोकसंग्रह और संस्कार

(६ मार्च १९६०)

अपने कार्य में विचार का जितना महत्त्व है, उतना और भी कई बातों का महत्त्व है। अपने कार्य की जो रचना और पद्धति है तथा उसके अनुरूप आचरण और व्यवहार है, उनको भी बहुत अधिक मात्रा में महत्त्व देने की आवश्यकता है। अपने कार्य की रचना, दिन-प्रतिदिन की शाखा के रूप में हमें परिचित हैं। दिन-प्रतिदिन की शाखा का स्वरूप हमको किस प्रकार दिखना चाहिए, यह हम जानते हैं, क्योंकि हम पुराने अनुभवी कार्यकर्ता हैं। जो अपेक्षाएँ कार्य की रचना से उत्पन्न होती हैं, उनको पूर्ण करने के लिए कार्य का योग्य संचालन हम कर रहे हैं क्या? यह विचार मन में आना चाहिए। अपेक्षा यह है कि दिन-प्रतिदिन की शाखा अखंड रूप से चले, नियमित चले। समय के बारे में ढीलापन न होते हुए चले। कार्यक्रमों की ठीक से रचना हो, संचालन में अस्तव्यस्तता का दृश्य दिखाई न दे। सुव्यवस्था, अनुशासन, योग्य पद्धति तथा उत्साह उसमें व्यक्त हो। फिर इन अपेक्षाओं को पूर्ण करने के लिए हम क्या करें, ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है।

शिक्षकों की आँखें खोलो

वास्तविक रूप से तो यह प्रश्न उत्पन्न होने की आवश्यकता ही नहीं है, परंतु आवश्यकता उत्पन्न होती है। कारण यह हो सकता है कि दिन-प्रतिदिन के कार्य का जो स्वरूप है, उस संबंध में अपना विचार शुद्ध व दृढ़ नहीं है। विश्वास भी अटल नहीं है। मुझे प्रसंग स्मरण आता है। मैं नागपुर आता-जाता रहता हूँ, तो वहाँ के प्रमुख कार्यकर्ता, कार्यवाह इत्यादि से बातचीत करने का अवसर मिलता है। शाखा देखने का अवसर तो अवश्य आता ही है। एक बार कार्यवाह से बातचीत करते समय मैंने कहा- 'जो नागपुर के शिक्षक हैं, उनकी आँखें खोलो।' आँखें तो सभी को हैं। अंधा कोई नहीं है। तो इस शब्द-प्रयोग का अर्थ ध्यान में आया होगा। अन्य जगह भी मैंने यह बातें बताई हैं। शाखा चलाते समय शिक्षक आँखें बंद करके चलते हैं। कोई कार्यक्रम करने की आज्ञा दी तो तदनुसार प्रत्येक स्वयंसेवक कार्यक्रम के अंगोपांग ठीक कर रहा है या नहीं, इसे शिक्षक देखते ही नहीं, तो उसे ठीक करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः कार्यक्रम को देखते समय हमें 'वैरायटी एंटरटेन्मेंट' रंगारंग कार्यक्रम का अनुभव

आता है। सब अलग-अलग उछल-कूद कर रहे हैं, अलग-अलग चेष्टाएँ कर रहे हैं, ऐसा लगता है। आँखें खुली होतीं, तो इस प्रकार से अव्यवस्थित कार्यक्रम नहीं होते। इसलिए कई बार कहना पड़ता है कि अपनी शाखाओं के कार्यकर्ताओं की आँखें खोलनी चाहिए। फिर बाकी सब ठीक हो जाएगा। जो श्रेयस्कर है, वह दिखाई देगा। और जो अश्रेयस्कर है, उसको रोकने की चेष्टा चलती रहेगी।

शाखा संस्कारयुक्त बने

नियमपूर्वक चलनेवाले कार्यक्रम का संस्कार मन पर पड़ते रहना चाहिए। संस्कार पड़ते-पड़ते वह स्वभाव बनता है। ठीक-ठीक कार्यक्रम करने से उत्साह, पौरुष, निर्भयता, अनुशासन, सूत्रबद्ध होकर चलने की क्षमता, अखंडरूप से कार्य करने की प्रवृत्ति इत्यादि गुण स्वभाव के अंग बन जाते हैं। 'अनुशासन' वैसे तो बड़ा शब्द है, लेकिन केवल शारीरिक दृष्टि से ही उसका प्रयोग किया है। इस दृष्टि से दिन-प्रतिदिन के कार्यक्रमों को ठीक ढंग से चलाने का प्रयास होता नहीं है। अनेक प्रांतों के कार्यकर्ताओं से प्रश्न वगैरह पूछने पर ऐसा दिखता है कि अपनी शाखाएँ खेल-कूद के अड्डे के रूप में चलती हैं; यदि अन्य शारीरिक कार्यक्रम हुए तो भी उनमें विशेष आवेश नहीं दिखता; चलानेवालों के हृदय में हेतु का विचार नहीं रहता; उदासीनता से कार्यक्रम चलते हैं; शाखा अव्यवस्थित दिखाई देती है; जबकि हम अपेक्षा रखते हैं कि इन कार्यक्रमों में से संगठित शक्ति निर्माण होगी– यह समझ में आने वाली बात नहीं है। शाखा को शाखा के रूप में चलाएँगे। कहीं शाखा खेल-कूद का अड्डा या मित्रमंडल तो नहीं बनेगा, यह विचार करने की आवश्यकता है। उसके लिए कार्यकर्ताओं में स्वतः की गुणवृद्धि का प्रयत्न होता है क्या? शिक्षक आँखें खोलकर काम करते हैं क्या? वर्षानुवर्ष संघ चलाते हुए, उसके वायुमंडल का विशिष्ट प्रकार का प्रभाव आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति पर स्वाभाविक रीति से पड़ते हुए भी हमें उदासीनता नष्ट करने के लिए किसी से कहना पड़े, यह आश्चर्य की बात अवश्य है, लेकिन उसकी आवश्यकता अमान्य करने से लाभ नहीं होगा। दत्तचित्त होकर इसका विचार करने से ही काम चलेगा।

शाखा का स्वरूप ठीक नियमपूर्वक चलने के लिए कुछ रचना बनी है। वह रचना कार्यक्षम है क्या? या केवल कागज पर औपचारिक रूप में ही है। प्रवास में एक शाखा का विवरण सुना तो वहाँ मुख्यशिक्षक, शिक्षक,

गटनायक आदि मिलाकर सात-आठ अधिकारी थे, परंतु दैनिक औसत उपस्थिति तीन रहती थी। मैंने कहा- 'शिक्षक, मुख्यशिक्षक लापता रहते होंगे, नहीं तो अधिकारी आठ और दैनिक उपस्थिति तीन- यह स्थिति संभव ही नहीं।' यह केवल उस शाखा की ही बात नहीं है। आपके क्षेत्र में भी ऐसे उदाहरण मिलते होंगे।

शाखा, याने केवल मित्रमंडली का एकत्रीकरण नहीं

ऐसा दिखता है कि दो-तीन मित्र शाखा में आते हैं, खेल-कूद, बातचीत हो जाती है, आपस में मिलने का अवसर मिल जाता है, इतना ही अपने लिए पर्याप्त है, ऐसा अधिकारीगण समझते हैं। ज्यादा कुछ करने की आवश्यकता उनको प्रतीत नहीं होती। जैसा सामान्य मनुष्य भी स्वार्थ की दृष्टि से सोचता है कि दो-चार पड़ोसियों से अच्छा संबंध रखना लाभदायक होगा, ज्यादा की जरूरत नहीं। उनसे गपशप की, फिर अपने-अपने परिवार में आनंद मनाते रहे। संघ का कार्य मैं करूँगा- ऐसी घोषणा करनेवाला भी ऐसा व्यवहार करे तो उसे क्या कहना चाहिए? स्वयंसेवक के नाते उसने कुछ भी ग्रहण किया नहीं। उसने अपने जीवन में कोई परिवर्तन लाया नहीं। वह कोरा का कोरा ही रह गया। उसने संघ का यत्किंचित् विचार किया नहीं, समझने का यत्-किंचित् प्रयास किया नहीं, ऐसा ही कहना पड़ेगा। जिनकी भावना का जागरण नहीं हुआ, ऐसे अनेक लोग दुर्भाग्य से मिलते हैं। अंधों में एक आँख वाला राजा बनता है। दूसरा कोई न मिलने से काम जैसे-तैसे चलाते ही हैं, परंतु उससे समाधान नहीं होता। अपेक्षा पूरी नहीं होती। अतः इन शिक्षकों की आँखें खोलनी हैं, जिससे वे स्थूल और सूक्ष्म- दोनों ही दृष्टि से देख सकें। अंतर्मुख होकर अपनी पात्रता, निष्ठा बढ़ाने की वे चेष्टा करें। इस लिए दत्तचित्त होकर प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा अव्यवस्था दूर न होगी।

नए स्वयंसेवकों की भर्ती

प्रवास में कई बार स्वयंसेवकों को स्मृति दिलानी पड़ी कि संघ का कार्य जिन्होंने प्रारंभ किया, उन्होंने यह कहा था कि प्रत्येक स्वयंसेवक को नए-नए मित्र जोड़ने चाहिए, केवल दो-चार मित्र जोड़ने से कृतकृत्यता नहीं माननी चाहिए, अपितु यह काम चलते ही रहना चाहिए। नए मित्र कैसे मिलेंगे, इस बात की ओर अत्यधिक ध्यान देना चाहिए, ऐसा वे कहते थे।

कभी-कभी बातचीत सुनने को मिलती है कि नए-नए मित्र कहाँ से मिलेंगे, उन्हें कैसे सँभालेंगे। परंतु इन बातों में तथ्य नहीं है। एक मित्र का उदाहरण देता हूँ। उन्होंने डाक्टर जी का भाषण सुना था कि 'प्रत्येक स्वयंसेवक को निश्चय करना चाहिए कि मैं वर्ष भर में दस नए व्यक्तियों को आत्मीय बनाकर स्वयंसेवक के नाते शाखा में खड़ा करूँगा।' मित्र ने कहा, 'डाक्टर जी, आप कहते तो ठीक हैं, परंतु व्यवहार में ऐसा नहीं हो सकता।' मैंने पूछा– 'व्यवहार कैसा होता है?' उसने कहा, "वास्तविक मित्र एक ही रह सकता है। बाकी के सारे 'परिचित मात्र' होते हैं।" मुझे उससे यह बड़ा उद्बोधक ज्ञान प्राप्त हुआ। मैंने पूछा, 'फिर तुम्हारा संघ में क्या होगा? क्योंकि अपने शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य का अत्यंत निकटवर्ती मित्र उसकी स्त्री ही होती है। तुम्हारा तो विवाह होगा। फिर तुम्हारा केवल एक ही मित्र रहेगा और बाकी के संघ के सारे स्वयंसेवक मित्र की दृष्टि से न रहकर परिचित मात्र रहेंगे।' वह अपने को कार्यकर्ता मानता था और उसकी दृष्टि में मैं केवल एक भूला-भटका फकीर था। मेरे उन शब्दों को सुनकर उसे रोष भी आया। परंतु उसका हाल वही हुआ, जो मैंने कहा था। आगे चलकर उसका विवाह भी हुआ और अब वह अपने निकटतम 'मित्र' की सच्चाई के साथ सेवा भी करता है।

यह बात अनेक वर्ष पूर्व की है। उसके बाद अनेक परिवर्तन हुए। फिर से वही विचार उसी रूप में सामने रखने की आवश्यकता प्रतीत होती है। एक ही मित्र बनाने की बात ठीक है क्या? यदि हम समाज-संगठन का उद्घोष करते हैं, तो फिर एक ही मित्र हो– यह भाव रखने से कार्य करने की बात मिथ्या, तथ्यहीन सिद्ध होगी। अतः विचार करें कि अपने कार्य में अनेक प्रकार के लोगों को एकत्र करने की इच्छा और प्रेरणा कार्यकर्ताओं में है या नहीं। यदि यह पर्याप्त मात्रा में न दिखे तो वह उत्पन्न करनी चाहिए। केवल औपचारिक रूप से 'दक्ष-आरम्' करने का कोई उपयोग नहीं। उसके अतिरिक्त प्रेरणा देने का प्रयत्न करना चाहिए। नहीं तो शाखा की वृद्धि कैसे होगी? केवल पाँच-दस स्वयंसेवक इकट्ठा हों, कबड्डी, खो-खो खेलें और सोचें कि बहुत बड़ा काम किया, उसी में कृतकृत्यता मानें, यह ठीक नहीं। भाव और विचार की यह पद्धति अपनी नहीं है। अपने कार्यकर्ताओं को अंतःप्रेरणा मिले, हृदय में कार्य और परिश्रम करने की इच्छा हो, ऐसा काम करना चाहिए।

ऐसी सुव्यवस्था से शाखा का कार्यक्रम नियमितता, अनुशासन, नित्य वृद्धि करने की आकांक्षा आदि लेकर चलता है या नहीं? नित्य नए मित्र बनाने में लोगों को कठिनाई मालूम होती होगी। परंतु व्यावहारिक रूप से हम सोचें। ऊँची बातें छोड़ दें, तो भी कम से कम परिचय तो कर सकते हैं। यह पहली सीढ़ी है। उस परिचय से हमें दिखाई देगा कि किसी-किसी बात में हम समान धर्मा हैं। कहीं न कहीं समान बात निकल ही आएगी। परिचय नहीं है, तब तक भिन्नता मालूम होती है। परिचय होने पर समानता निकल आती है। समानता को आलंबन बना, संबंध को गहरा बनाया तो मित्रता के तथा संपर्क के दूसरे भी पहलू दिखाई देंगे। इस प्रकार मित्रता का संबंध पूर्ण रीति से सर्वगुणव्यापी होकर वह शाखा में आ सकता है, इसमें संदेह की बात नहीं। यदि एकरूपता का अनुभव नहीं हुआ तो भी एक विश्वसनीय मित्र के नाते वह रहेगा ही। परिचितों के मंडल धीरे-धीरे बड़े बनते हैं। उन्हीं में से कुछ अभिन्न मित्र होते हैं। उनमें से ही कुछ अभिन्न हृदय हो जाने के कारण तथा सर्वांश से अपने साथ एकरूप होने के कारण, अपने साथ स्वयंसेवक के रूप में खड़े होते हैं। इसीलिए बोध यही लेना है कि परिचितों की संख्या बढ़ानी चाहिए, जिससे 'परिचित, मित्र और स्वयंसेवक'– इस क्रम से कार्य की वृद्धि में सहूलियत हो जाएगी। इस दृष्टि से अपने शिक्षक, गटनायक आदि प्रयन्तशील हों, इसके लिए प्रयास करने की आवश्यकता है।

शिक्षकों का प्रत्यक्ष मार्गदर्शन

इसके लिए केवल उपदेश से काम नहीं चलेगा। सब छोटे-बड़े कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर प्रत्यक्ष काम करके बताने की दृष्टि से यहाँ-वहाँ दो-चार-आठ रोज रहकर, उनका अभ्यास करा देने की आवश्यकता है। उनमें आत्मविश्वास का अभाव हो, तो प्रत्यक्ष सहायता करके उस अभाव को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। उनके मन की अंतर्बाह्य परीक्षा करने के बाद उनमें योग्य विचार एवं आचरण की इच्छा निर्माण करने का प्रयत्न हो, ऐसा प्रयोग करना चाहिए। हो सकता है कि अच्छी शाखाओं में से अच्छे कार्यकर्ता को इसके लिए जगह-जगह कुछ दिन रहना पड़े, जिससे अपने शिक्षक अयोग्य हैं– ऐसा कहने का मौका न आए।

कई इसको भाग्य का लक्षण मानते हैं। कार्य इतना बढ़ रहा है कि शिक्षक कम पड़ते हैं। कार्य का विस्तार बढ़ा नहीं, परंतु शिक्षकों का अभाव

बढ़ रहा है। हम बड़ा संगठन करने निकले हैं, लेकिन ऐसा न हो कि हमारे संघ की अवस्था भारतीय गणराज्य की सेना के सदृश बने। उनके चीफ आफ स्टाफ ने कहा था– 'वी आर इन वांट ऑफ ऑफीसर्स'। 'हेडलेस बॉडी ऑफ द आर्मी'– जैसी स्थिति हमारी हो गई है क्या? शिक्षक हैं, लेकिन काम करने का ढंग ढीला पड़ गया है। उनका सुधार उपदेश से नहीं होगा। उसी प्रकार केवल दोष दिखाने से भी नहीं होगा, अपितु साथ लेकर कार्य का प्रत्यक्ष ढंग दिखाना होगा। अहोरात्र काम करते हुए उनको संघ के वातावरण का अनुभव आए, इस प्रकार के व्यवहार का आदर्श प्रस्तुत करना पड़ेगा। उससे शाखा का शिथिल रूप काफी मात्रा में बदल सकता है और शाखाएँ बढ़ भी सकती हैं।

अनुकूल वातावरण

लोगों से मैं मिलता रहता हूँ। सबसे तो मिल नहीं सकता, लेकिन समाज में किस प्रकार का विचार चलता है, इसका अंदाज मैं मन में लगाता हूँ। समाज में अनुकूलता तो है, परंतु हम लाभ नहीं उठा रहे हैं। यदि जनता में कहीं उदासीनता भी दिखाई देती हैं, तो वह निराशा में से निर्माण हुई है। आशा की किरणें हम नहीं दिखा रहे हैं। वैसे जनता अकर्मण्य नहीं है। जलसे, जुलूस, हड़ताल, मकान का जलाना आदि कामों में लोगों का उत्साह है। विद्वान-अविद्वान सभी में उत्साह है। अब वे किस ढँग से काम करते हैं, यह मार्गदर्शन पर निर्भर करता है। अगर हम मार्गदर्शक के रूप में खड़े होना चाहते हैं, तो हम निराशा और उदासीनता को हटाएँ, क्योंकि निराशा के ही कारण ऐसे विचार आते हैं कि इस जगत् में न धन-संपत्ति है और न भगवान है। मन में इस प्रकार के भाव आने पर ही वह इस प्रकार के उथल-पुथल के कामों में पड़ता है। उनको वास्तविक रूप से आशा मिले और लक्ष्य का अनुभव हो, ऐसी बातचीत और व्यवहार होना अनिवार्य है, तभी हम प्राप्त अनुकूलता का उपयोग कार्य की दृष्टि से कर सकते हैं। यदि भिन्न-भिन्न शाखाओं के कार्यकर्ताओं के विचार ठीक किए और उनकी उद्योगशीलता ठीक विचारों के कारण बढ़ी, शाखा की अव्यवस्था को हटाकर चैतन्य निर्माण किया तथा उस चैतन्य को अनुशासन का साथ दिया तो कार्य को द्रुत-गति से बढ़ा सकते हैं, इसमें मुझे संदेह नहीं है। अपनी कार्यपद्धति के विषय में अपने मन में संदेह नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार की संदेहरहित अवस्था अपनी है या नहीं, इसका हम

अंतर्मुख होकर विचार करें। अगर विश्वास होता है, तो फिर कोई चिंता नहीं।

संघ ही समाज के परित्राण का एकमेव मार्ग

अपनी रचना, पद्धति, निर्धारित लक्ष्य– इन सबके बारे में काफी कहा गया है। विभिन्न प्रकार की बातें कही गईं, किंतु अन्य कार्यपद्धतियों को स्वीकार न करने का ही अपना विचार रहा है। संघ निर्धारित लक्ष्य को सामने रखकर निर्धारित मार्ग से ही चलता है। अपने मार्ग को छोड़ता नहीं। माननीय भैयाजी दाणी ने जैसे कहा था– 'संन्यासी जवान है, अच्छा है, सुंदर है, इसलिए उसे विवाह करना ही चाहिए– ऐसा नहीं। उसे तो संन्यास-धर्म का ही पालन करना चाहिए।' उसी प्रकार संघ शक्तिशाली होते हुए भी उसे सत्ता से विवाह करने की आवश्यकता नहीं। हमारे अंतःकरण में पूर्ण विश्वास है कि अपने राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए इस कार्य की ही चरम आवश्यकता है। बाकी सब कार्यपद्धतियाँ समाप्त भी हो जाएँ, परंतु यह केवल एक पद्धति चलती रहे, तो बेड़ा पार हो जाएगा। हम जो कार्य कर रहे हैं, वह अगर नहीं हुआ और बाकी सब कार्य अपने-अपने ढंग से चलते रहे, तो दुनिया की उथल-पुथल में राष्ट्र टिक नहीं सकता– यह विश्वास है क्या? अगर है, तो कार्य बढ़ेगा। यह विचार मेरे हृदय में नित्य रहता है। इस बारे में युक्तिवाद करने की आवश्यकता इस बैठक में तो नहीं है। संघ के कार्यक्रम क्यों रखे हैं? दिन-प्रतिदिन आने का आग्रह क्यों है? क्या संस्कार होते हैं? इसका चर्वित-चर्वण करने की आवश्यकता नहीं। इनका उल्लेख करना पिष्टपेषण सदृश होगा।

हम अपना आत्मपरीक्षण कर इस दृढ़, अटल, अमिट, विश्वास का अंतःकरण में पूर्ण प्रभाव है या नहीं– यह देखें। हृदय रंगा है या नहीं, यह सोचें। सभी इसी मार्ग से चलते हैं या नहीं– इसका विचार करें। कोई न्यूनता है, तो हटा दें। चिंतन और विचार से इसे हटा सकते हैं।

संस्कार की अभिनव पद्धति

अपने यहाँ वंश-परंपरा से राष्ट्र की चैतन्यमयी अस्मिता को जगाने का प्रयत्न हजार-पंद्रह सौ वर्षों में दिखाई नहीं दिया। हमारा यह एकमेव प्रयत्न है। अपने कार्य का श्रेष्ठत्व और अलौकिकत्व इस बात में भी है। संस्कार करने की पुरानी धर्म-परंपरा ढीली पड़ गई। 'ओल्ड ऑर्डर चेंजेथ,

यील्डिग प्लेस टू न्यू...'– ऐसा लोग कहते हैं। इसके अनुसार नव-विधान बनेगा। संभवतः हममें से ही कोई बनाएगा। परंतु फिर से संस्कार का ऐसा आयोजन हो कि पीढ़ी के बाद पीढ़ी सुव्यवस्थित रूप में खड़ी होकर राष्ट्र की जागृत शक्ति का स्वरूप दिखाई दे। पिछले हजार वर्षों में किसी को यह सूझा नहीं और यदि सूझा भी हो तो परिस्थिति विपरीत होने के कारण अथवा समय का अभाव होने के कारण कोई कर नहीं पाया। राष्ट्र को चिरकाल तक सुदृढ़ बनाने की योजना करने का यह कार्य ईश्वर की कृपा से अपने लिए सुरक्षित रहा। इस प्रकार पीढ़ी के बाद पीढ़ी राष्ट्रजीवन को सुदृढ़ बनाने का अपना प्रयत्न चलता है और चलता रहेगा। हम लोगों को अपने अंतःकरण में उसका उत्कृष्ट साक्षात्कार स्वाभिमान के साथ होना चाहिए।

पूर्वकाल में संस्कार दृढ़ रखने के लिए पद्धति बताई गई है– उपासना। वैसे ही राष्ट्र-भावना के संस्कार विशुद्ध, दृढ़ एवं समाजव्यापी करने के लिए यह दिन-प्रतिदिन के कार्य की पद्धति चलाई है। यह उपासना राष्ट्रव्यापी, संस्कारक्षम, उत्साहपूर्ण रूप से करनी पड़ेगी। इस कार्य को समाजव्यापी करने के लिए अविरत प्रयत्न करने पड़ेंगे।

स्वयं आत्मनिरीक्षण कर रचना-पद्धति के संबंध के विश्वास को अटल बनाकर, सबको साथ लेकर, प्रत्यक्ष मार्गदर्शन द्वारा, शाब्दिक उपदेश के द्वारा नहीं, यथायोग्य रीति से कार्य की वृद्धि का प्रयत्न करें, तो कार्य बढ़ेगा, ऐसा मुझे लगता है। यह आप जानते नहीं, ऐसा नहीं है। परंतु जो बात जानते हैं, वह दूसरे के कहने से ज्यादा समझ में आती है। जो आप जानते हैं, वही श्रवण कराया है।

३. अनुशासन

(७ मार्च १९६०)

कल के बौद्धिक वर्ग में अपनी शाखा के कार्यक्रम के संबंध में कुछ कहने का प्रयत्न किया था। अपने कार्य के संबंध में बहुत लोगों का यह कथन है और वह ठीक भी है कि अपने कार्य की जो अनेक विशेषताएँ देखने को मिलती हैं, उनमें से अनुशासन एक बहुत बड़ी विशेषता है। इसका अपने को आनंद भी है कि जनसाधारण अपने अनुशासन के संबंध

में गौरव के शब्द कहे, परंतु और लोग गौरव के शब्द बोलते हैं, इतने मात्र से संतुष्ट होना उचित नहीं। विचार यह करना चाहिए कि अनुशासन के संबंध में अपनी कुछ अपेक्षाएँ हैं या नहीं। यदि हाँ, तो उन्हें पूर्ण कर सके– ऐसा अनुशासन दिन-प्रतिदिन के कार्यक्रमों में से प्रस्थापित करते हैं क्या? स्थूल दृष्टि से दिखनेवाली बातों के विषय में ही यदि कहना हो तो, कह सकेंगे कि शायद अपनी अपेक्षा के अनुसार जैसा अनुशासन होना चाहिए, वैसा आजकल कम दिखाई देता है। यदि बिल्कुल शारीरिक क्रियाओं का ही विचार करें, तो कहना पड़ेगा कि दैनिक कार्यक्रमों में अपनी अपेक्षा अभी पूर्ण नहीं होती।

अनुशासन के दो रूप

अनुशासन के दो रूप सामने रखे गए हैं। एक– जिस प्रकार का आदेश है, उसका पूर्णांश से पालन और दूसरा– अनेक लोग पालन करनेवाले होने के कारण सबका एक साथ सूत्रबद्ध होकर पालन, अर्थात् एक व्यक्तिशः पालन और दूसरा संघशः पालन। शाखा में हम ऐसे अनुशासन को देख सकते हैं। छोटी-छोटी बातों का मैं उदाहरण देता हूँ। मानो यहाँ पर कोई बैठा है और उसको खड़े होने का आदेश दिया गया, तो खड़े होने के बाद स्वाभाविक स्थिति कौन-सी अपेक्षित है? दक्ष की स्थिति अपेक्षित है। यदि दक्ष में खड़े रहना है तो किसी भी प्रकार की अन्य क्रिया (हलचल) करना अपेक्षित नहीं, लेकिन प्रत्यक्ष में हलचल होती है या नहीं? होती है। उदाहरणार्थ, यहाँ पर कार्यकर्ताओं का परिचय कराया गया, उस समय जिसका नाम प्रांत-प्रचारक या कार्यवाह पुकारते थे, वे खड़े होते थे। अब वे स्मरण करें कि जो कुछ कचरा धोती, पायजामा या पैंट को लगा होगा, वह झाड़कर खड़े हुए या नहीं? इसका कारण है कि आदेश के अनुसार चलने का अभी परिपूर्ण गुण नहीं आया। ऐसा कहूँ तो वे नाराज हो जाएँगे। फिर भी, नाराज हों तो भी, वस्तुस्थिति कहना उचित है। यदि बड़े-बड़े कार्यकर्ता, जो स्वयंसेवकों का मार्गदर्शन करने के लिए कृतिनिश्चय हैं, उनके ही व्यवहार में इतनी अनवधानता रह सकती है, तो क्रमशः उसका प्रकर्ष होकर शाखा में क्या होता होगा?

छोटी बातों का महत्त्व

अनेक छोटी बातें मिलकर बड़ी बात बनती है। छोटी बातों की ओर ध्यान दिया तो, बड़ी बातों का अपने आप ध्यान रह जाता है। जैसी

कि अंग्रेजी में कहावत है– 'टेक केयर ऑफ पेंस एंड पाउंड्स विल टेक केयर ऑफ देमसेल्व्ज'। इस कथन के अनुसार दरवाजा आवाज न करते हुए बंद करने से लेकर होल्डाल में कंबल रखने तक नगण्य दिखनेवाली बातों के संबंध में श्रेष्ठ पुरुषों को मार्गदर्शन करते हुए मैंने देखा है। एक बार सन् १९३८ में लाहौर के प्रथम शिक्षा वर्ग में डाक्टर साहब के साथ प्रवास करने का प्रसंग आया था। साथ के एक कार्यकर्ता ने कंबल को होल्डाल में डालना चाहा और तह करके कंबल होल्डाल में डालने लगा। डाक्टर साहब ने रोककर कहा– 'यह ठीक नहीं'। उसने कहा, 'मैंने ठीक किया है'। वह अपने हठ पर अड़ गया। मैंने उनके मन्तव्य को समझकर सुधारने का प्रयास किया और कंबल दूसरे ढंग से रखा। वे कुछ बोले नहीं। मैंने समझा शायद लिहाज के कारण वे नहीं बोले हैं। बाद में जब उस स्वयंसेवक ने उनसे पूछा कि अंतर कौन-सा पड़ा, तो उन्होंने समझाया कि होल्डाल की चौड़ाई ज्यादा है और तुमने तह छोटी की थी, इसलिए होल्डाल बीच में फूल जाता। तह बड़ी करने से ठीक प्रकार से लपेटा जाएगा। मेरे भी ध्यान में आ गया कि मैंने गलती नहीं की थी। ऐसी छोटी बातों की ओर भी ध्यान रखनेवाले बड़े पुरुषों को देखा होने के कारण छोटी बातों का महत्त्व हमेशा प्रतीत होता है। छोटे कामों का अभ्यास ठीक हो तो बड़े काम ठीक प्रकार से कर सकेंगे। कोई कहे कि समय आने दो, फिर ठीक प्रकार से काम करके दिखाएँगे, तो उसे समझना चाहिए कि प्रत्येक क्षण समय है और वह नित्य आता है। परीक्षा कभी छोटी होती है और कभी बड़ी, इतना ही केवल अंतर है। छोटी परीक्षा में जो अनुत्तीर्ण होता है, बड़ी-बड़ी परीक्षा में वह उत्तीर्ण कैसे हो सकता है? इसलिए मैंने छोटी बातों का उल्लेख किया।

व्यवस्थित चित्त आवश्यक

कई बार स्वयंसेवकों को सूचना देते हैं कि खड़े होते समय इस प्रकार कचरा मत झाड़ो, क्योंकि अपनी पंक्ति के पीछे और भी स्वयंसेवक बैठे होते हैं। कचरा झाड़ना अपने को भले ही अच्छा लगता हो, परंतु जो स्वयंसेवक पीछे बैठे होते हैं, उनके मुँह में वह कचरा जाता है, उसका क्या? उनका विचार क्यों नहीं करते? सामान्य व्यवहार में अनवधान ही इसका कारण है। जब किसी भी कार्य के लिए एक-एक पग हम आगे बढ़ाते हैं, तब उसके पीछे कितना विचार होता है, कितना ध्यान होता है और दत्तचित्त होकर काम करते हैं या नहीं, इसका परिचय मिल जाता है।

अभ्यास न रहा तो छोटा-बड़ा कोई भी काम अच्छा नहीं होगा। इसके लिए अनवधान हटाना और कृति करने के लिए जो-जो आदेश मिलता है, उसका दत्तचित्त होकर परिपूर्ण पालन करने का अभ्यास जरूरी है। काम करते समय मन इधर-उधर भटकना नहीं चाहिए। लेकिन भटकता है। उड़ीसा गया था, तब की एक घटना स्मरण आती है। एक तृतीय वर्ष शिक्षित व अच्छा बुद्धिमान स्वयंसेवक प्रार्थना करने के लिए खड़ा था मुझे मालूम है कि उसे प्रार्थना याद थी, लेकिन दो श्लोक कहकर वह रुक गया, तीसरा श्लोक प्रारंभ ही नहीं करता था। पास में खड़े मुख्यशिक्षक की थोड़ी सूचना के बाद उसने ठीक से प्रार्थना पूरी की। बाद में उससे किसी ने पूछा कि इस प्रकार क्यों रुक गया? उसने कहा- मैं प्रार्थना भूला नहीं था। लेकिन आगे चलकर होनेवाले प्रदर्शन में कौन-से शारीरिक योग करना है, उसकी ओर ध्यान जाने के कारण प्रार्थना कह रहा हूँ- यह भूल गया, इसलिए रुका। यह मन का भटकना ठीक नहीं। उसके कारण उस समय वह कर्तव्य से दूर हो गया। ऐसा अव्यवस्थित मन कोई कार्य नहीं कर सकता। अपने यहाँ पुराने विद्वान यहाँ तक कहते है कि जिसका चित्त अव्यवस्थित है, उसकी प्रसन्नता भी संकटों से भरी होती है। कहा है- 'अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः'। फिर यदि प्रसन्नता न हो तो कितनी भयंकर अवस्था होगी। चित्त की व्यवस्थितता अनुशासन का मानसिक स्वरूप है। जो-जो कार्य हम करते हैं, उसका चिंतन-मनन और सर्वशक्ति का उसी पर केंद्रीकरण करने का यह मानसिक गुण यदि हममें न होगा तो कठिनाई का अनुभव करना होगा। यदि यह गुण होगा तो शरीर से अनुचित व्यवहार नहीं होंगे। इस दृष्टि से व्यक्तिगत और संघबद्ध जीवन में अनुशासन का गुण मन की गहराई तक पहुँचना, मन अव्यवस्थित न हो और एकाग्रता से काम करने की प्रवृत्ति रहे, इसका अभ्यास करना और करवाना आवश्यक है। तभी अपनी जो अनुशासन की कीर्ति है, वह ठीक रहेगी और अपने को उसमें यथार्थ समाधान प्राप्त करने का भाग्य मिलेगा।

व्यक्ति-स्वातंत्र्य और समष्टि-हित

अनुशासन का और एक अर्थ मेरे सामने नित्य रहा है। अपने यहाँ पर 'अनुशासन' शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल में किया गया। उसके भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं, परंतु एक उल्लेख बड़ा महत्त्वपूर्ण है। एक उपनिषद् में जहाँ पर छात्रों को घर जाते समय आचार्यों द्वारा कुछ उपदेश और सूचनाएँ दी गई हैं, उसमें 'इदम् अनुशासनम्'- ऐसा कहा है। जो

सिद्धांतरूप धर्म है, उसके अनुसार चलो; जो सत्य के अनुसार है, उसे कभी मत छोड़ो आदि मौलिक सिद्धांत उसमें बताए हैं। परंतु विशिष्ट प्रकार से ही चलो और जिसको अंग्रेजी में 'रिजिडिटी' बोलते हैं, उसका आदेश या उपदेश नहीं किया। केवल इतना ही बताया कि शास्त्रों ने अपना मार्गदर्शन किया है। फिर यदि कोई समस्या खड़ी हुई, तो जो श्रेष्ठ, निःस्वार्थ, तपःपूत विद्वान पुरुष हैं, वे उन प्रसंगों में जैसा व्यवहार करते हुए दिखाई देंगे, वैसा व्यवहार करो। विशेष नियमावलि नहीं बताई। बुद्धि का स्वातंत्र्य दिया। इस स्वातंत्र्य का समन्वय मौलिक सिद्धांत के साथ किया और उसको 'अनुशासन' कहा। अपने यहाँ 'अनुशासन' शब्द में व्यक्ति के स्वातंत्र्य और सूत्रबद्ध जीवन तथा समष्टि में उसके विलीनीकरण– दोनों का अंतर्भाव है। इन दोनों का सामंजस्य जो कर सकता है, वही यथार्थ रूप में हिंदू-संगठन करता है, अन्यथा जैसे जगत् के अन्यान्य लोगों ने कुछ संगठितता उत्पन्न की थी और उसके आधार पर कुछ समय तक शक्ति का अनुभव भी किया था, उस प्रकार अपने यहाँ भी होगा। उसमें से एक हिंदू शक्ति उत्पन्न होगी जो कुछ काल के उपरांत टूटेगी, क्योंकि अपनी परंपरा और विचारधारा के अनुकूल जो आचरण है, वही चिरंजीव हो सकता है और अमरत्व प्राप्त कर सकता है। अपने राष्ट्र की दुर्दशा, अपना विचार त्याग कर अन्यों का अनुकरण और अनुनय करने के कारण ही हुई है। उससे कभी थोड़े समय के लिए कुछ सफलता दिखाई दे लेकिन वह शक्ति अल्पजीवी ही होगी, और थोड़े समय के लाभ से अधिक हानि उस शक्ति के टूटने के कारण होगी। यह बहुत स्पष्ट रूप से आपके सामने कहता हूँ, क्योंकि जगत् के वातावरण का प्रभाव अपने ऊपर होता है।

जगत् में भिन्न-भिन्न प्रकार से संगठित जीवन का जो प्रयास हुआ, उसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व का अपहरण कर और उसमें विशिष्ट आचरण, विशिष्ट व्यवहार, बलात्कार से ठूँसकर उसको एक संगठित यंत्र के निर्जीव, निष्प्राण, अचेतन अंग के रूप में चलाने का प्रयत्न हुआ। उसका कुछ परिणाम अपने पर हो सकता है, क्योंकि वह सद्यःफलदायी मार्ग के नाते बड़ा आकर्षक रहता है। वैसी ही रचना की इच्छा मन में निर्माण होना अस्वाभाविक नहीं, लेकिन यह अपने राष्ट्रजीवन की परंपरा के प्रतिकूल है। अपने राष्ट्रजीवन की जिस प्राचीन परंपरा के सुदृढ़ रहते हुए हमने पराक्रम किया था और ऐश्वर्य प्राप्त किया था और भोगा था, उसके यह प्रतिकूल है।

अनुशासन में अपने यहाँ पर व्यक्ति का जो अस्तित्व माना है, वह

उसकी बुद्धि, उसकी प्रकृति, उसकी रुचि– इन सब बातों की स्वतंत्रता को लेकर है। प्रत्येक व्यक्ति के प्रकृति-धर्म के अनुसार उसको जीवन में अपना उत्कर्ष करने के लिए प्रोत्साहन देना– यही अपने यहाँ माना हुआ है। यह करते हुए भी अपने व्यक्तित्व के अहंकार का शिकार न बनते हुए, समष्टि के अभिमान का ही केवल अपने अंतःकरण में भाव रखकर, अपनी वैयक्तिक गुणसंपदा का प्रकर्ष, समष्टि के अहंकार से एकात्म होने के कारण, राष्ट्रहित के लिए ही सुसूत्र रूप से उपयोग में लाने का जो भाव है, उसको अपने यहाँ 'अनुशासन' कहा है। बाकी का तो केवल दासत्व का निर्माण है, 'अनुशासन' नहीं।

संघ कोई दल नहीं

इसलिए कार्य का फिर एक बार विचार करना है, जिसका प्रारंभ में विषय-प्रवेश के रूप में उल्लेख किया था। अपना कार्य हिंदू-समाज को संगठित करने के लिए है, हिंदू-समाज में एक अलग संगठित शक्ति निर्माण करने के लिए नहीं, समाज में एक अलग दल निर्माण करने के लिए नहीं है। हमारा लक्ष्य है कि समाज संगठित जीवन के विचार से ओतप्रोत हो और समाज के सब व्यक्ति निःशेष रूप से उस विचार से परिपूर्ण हों। सब लोग समष्टि में अपने जीवन को विलीन कर स्वतःसिद्ध अनुशासन की भावना में अपने को गूँथने का निश्चय करके यहाँ आएँ। इस प्रकार समाज के संगठन का हमारा विचार है और संकल्प है, एक संगठित दल के निर्माण का नहीं। इतना विवेक करना उचित होगा।

अब कोई कहेगा कि संघ यह दल के रूप में नहीं चलता तो और कैसे चलता है? यह प्रश्न जो वस्तुस्थिति दिखती है, उसको लेकर ही है। यदि हम पूर्ण विचार करने का प्रयत्न करेंगे तो हमें मानना पड़ेगा कि व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचने के लिए संपूर्ण समाज के संगठित जीवन के निर्माण के लिए, एक बड़ा देशव्यापी, निरलस, निःस्वार्थ कार्यकर्ताओं द्वारा बना हुआ एक संगठन-यंत्र अपने को खड़ा करना पड़ेगा, पर वह अपना लक्ष्य नहीं, केवल साधन मात्र है। समाज सुसंगठित बने, इसलिए कार्यकर्ताओं का निर्माण यह केवल पहली सीढ़ी है।

समाज संगठन का माध्यम – शाखा

हम ऐसा कहा करते हैं कि स्नेह, प्रेम, आदर्श, चारित्र्य आदि गुणों

से समग्र समाज को आत्मसात करके, प्रेमबाहु के आलिंगन में समेटकर समग्र समाज को साथ लेकर चल सकें, आदर और विश्वासपात्र स्वयंसेवकों की बनी हुई ऐसी शाखा स्थान-स्थान पर चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि हमारी शाखा समग्र समाज को समेटने का एक माध्यम, एक साधन या एक बृहद यंत्र है। ऐसी शाखा का वर्णन स्वयं डाक्टर जी ने ही किया है। संघ-शास्त्र में मैं उनके शब्द को सर्वाधिक प्रमाण मानता हूँ। इसलिए उनके ही शब्दों का उल्लेख किया है। ऐसी शाखा की उनकी कामना थी और लक्ष्य था 'हिंदू समाज का संगठन', हिंदू समाज में संगठित दल निर्माण करने का लक्ष्य नहीं था। सारांश, समाज-संगठितता के लिए इन शाखाओं के रूप में देशव्यापी यंत्र खड़ा करना होगा। यह अनुभव कर प्रत्येक स्थान पर शाखा के रूप में समाज-संगठन का माध्यम खड़ा करने का अपना प्रयत्न है। इसी दृष्टि से शाखा है। कभी-कभी कहा जाता था कि अपना यह 'मास मूवमेंट' नहीं है, जिसको 'क्लास मूवमेंट' बोलते है, वैसा इसका स्वरूप है। 'क्लास' यह शब्द आर्थिक दृष्टि से या वर्ग-संघर्षवाद की विशिष्ट दृष्टि से यहाँ उपयोग में नहीं लाया है; तो चुने हुए विशिष्ट संस्कारसंपन्न लोग स्थान-स्थान पर एकत्र करके उनके संस्कार संगठनानुकूल बनाते हुए एक अनुशासित महायंत्र हमें प्रस्थापित करना है तथा उसके आधार पर, याने उन संस्कारसंपन्न व्यक्तियों के आचरण तथा स्नेहपूर्ण व्यवहार के आधार पर, संपूर्ण समाज संगठित जीवन का अमृत स्वीकार कर खड़ा हो– यह हमारी अपेक्षा है। इसका केवल इतना ही अर्थ है। 'मास मूवमेंट' में कौन क्या क्या बोलता है, कौन क्या करता है, क्यों करता है और कैसे करता है, इसका पता नहीं चलता। 'मास मूवमेंट' अपने यहाँ स्वीकृत नहीं है। वह विध्वंसकारी कार्य के लिए अच्छा रहता है। शेक्सपियर के 'जूलियस सीजर' नाटक में जनता का क्षोम जागृत कर एंटोनी ने कहा कि 'मिसचीफ दाऊ आर्ट अफूट, टेक व्हाट कोर्स दाऊ विल्ट' (उपद्रव तू चल पड़ा है। जो तेरे मन में आए, वही कर।) राष्ट्र के पुननिर्माण का कार्य उस पद्धति से नहीं हो सकता। इसलिए हमने उसका विचार मन से सर्वथा निकाल डाला।

अधिनायकवाद के दुष्परिणाम

लोग कहेंगे कि भिन्न-भिन्न देशों में संगठित दल खड़े हुए और उन्होंने कितनी प्रगति की। जर्मनी ने केवल २० साल में कितना बड़ा

उत्थान कर दिखाया। इटली में भी जब तक वहाँ के दल की चली, उसने प्रगति का चित्र खड़ा किया। आज इसी प्रकार संगठित दल की निर्मिति करके रूस जगत् को कंपित करनेवाला प्रबल राष्ट्र दिखाई दे रहा है। उपर्युक्त बातों का अपने मन में आकर्षण होना असंभव नहीं। परंतु हम विचार करें कि ऐसे ये जितने काम चले और चलते हैं, उनमें मनुष्य मात्र को, जो सर्वसाधारण समाज का वास्तविक रूप से जीवंत और चैतन्यमय अंग हुआ करता है, अपने स्वतंत्र विकास की स्थिति का अनुभव करने को मिलता है क्या? मैं राष्ट्र का अंग और घटक हूँ, इसकी स्वतंत्र अनुभूति और प्रेरणा यदि व्यक्ति-व्यक्ति को नहीं है और अपनी कृतिमानता से, चारित्र्य से एवं सद्गुणों से इसको श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न करूँगा– ऐसी उमंग नहीं है, किंतु किसी के बल-प्रयोग से वह कार्य करता है, तो वह राष्ट्र के लिए लाभदायक नहीं होगा। उमंग से किया हुआ कार्य ही लाभकारी होगा। बलात् से जो कार्य किया जाता है, वह मनुष्य छोड़ भी सकता है। जब तक बल का प्रयोग होता रहेगा, तब तक वह काम करेगा, लेकिन बलप्रयोग थोड़ा भी ढीला दिखाई दिया तो वह विद्रोह के साथ खड़ा होगा। मनुष्य स्वभावतः दासता का पक्षपाती नहीं है। विशेषतः अपने यहाँ श्रेष्ठ पुरुषों ने कहा है कि हमारा धर्म, हमारी संस्कृति, श्रेष्ठ होने के कारण हम लोग आर्य हैं। आर्य, याने श्रेष्ठ– यह वैदिक अर्थ है। सारे संसार में हम चारित्र्यसंपन्न, ज्ञानसंपन्न हैं, अतएव श्रेष्ठ हैं– ऐसा उनका विश्वास था। मनीषियों ने कहा कि आर्य में कभी दास-भाव नहीं रह सकता। दासत्व में वह कभी संतोष नहीं मानता, फिर वह स्वकीयों का हो या परकीयों का। आर्यों की प्रतिभा और चेतना का यह असामान्य गुण है। हमने जब जीवन में सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य मुक्ति ही रखा है, सर्वतंत्र स्वतंत्र, बंधनों के अभाव की स्थिति श्रेष्ठ मानी है, तो ऐहिक जीवन में भी दासता का विचार मान्य नहीं हो सकता। यदि हुआ तो आर्यत्व से गिर गया। इस प्रकार यह हमारा स्वाभाविक गुण है, जिसका पोषण कर उसे परिपुष्ट बनाना है। कोई व्यक्ति बल प्रयोग द्वारा से दूसरे का दास बने और अपनी प्रतिभा बेच दे– ऐसा किसी भी व्यक्ति का पतन अपने लिए सहनीय नहीं। हम इसे मान नहीं सकते।

हमारे अनुशासन की विशेषता

भिन्न-भिन्न देशों ने जो संगठित शक्ति का निर्माण किया, उसमें

पूरे समाज को काबू में रखा और विशिष्ट प्रकार का जीवन, विशिष्ट ही विचार तथा विशिष्ट प्रकार का आचरण स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। फलस्वरूप जब कभी उथल-पुथल करनेवाली शक्ति संकट में पड़कर क्षीण हो गई तो समाज ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया तथा उसे नष्ट किया। लेकिन दासता के कारण प्रतिभा घट जाने से उस शक्ति का विध्वंस करने के बाद आगे का मार्ग समाज को दिखाई नहीं दिया और संपूर्ण राष्ट्र उध्वस्त, अस्तव्यस्त जीवन का अनुभव करने लगा। यदि फिर से जगत् में उथल-पुथल हो गई और फिर से उसका प्रभाव होता है, तो मानव-समूहों को विध्वंस का चित्र ही देखने को मिलेगा, यह कहने के लिए किसी ज्योतिषी की आवश्यकता नहीं रहेगी। चारों ओर समग्र समाज की प्रतिभा, स्वतंत्रता एवं चेतना की राख पड़ी होगी– ऐसा उध्वस्त जीवन देखने को मिलेगा। अपने को ऐसा जीवन उत्पन्न नहीं करना है। स्वतंत्र और स्वेच्छा से स्वीकृत समष्टिरूप अनुशासन ही हमने अपने सामने रखा है। उसके कारण अतीव दृढ़ता से परस्पर संबंध और सब परिस्थितियों में उस अनुशासन को प्रत्यक्ष रूप से चरितार्थ करनेवाली हमारी रचना है। कितने भी संकट क्यों न आएँ, यहाँ तक कि कुछ समय के लिए वह रचना स्थगित भी क्यों न हो जाए, तो भी समष्टिरूप वह अनुशासन अटूट रूप से चल सकेगा, इतनी स्वतंत्र प्रतिभापूर्वक उस अनुशासन की स्वीकृति सब व्यक्तियों के हृदय में प्रस्थापित करने की अपने मन की इच्छा है। वही अपनी संस्कृति के अनुरूप है। वही आवश्यक भी है।

अपने पूर्वजों ने चातुर्वर्ण्य या अन्य समष्टि की रचना बनाई उसमें व्यक्ति का संतोष और अनुशासन-सूत्र का स्वेच्छा से तथा आनंद से स्वीकार करने का समन्वय किया है। परिणामस्वरूप संसार में अन्य किसी समाज ने सहे नहीं होंगे, उससे कई गुना ज्यादा आघात आने पर भी उन सबको निगलकर हम अभी तक जीवित रहे। यह अपने समाज के लचीले अनुशासन का फल है। यदि 'रिजिडिटी' आती तो जैसे आत्मरक्षार्थ कुछ प्राणियों ने मोटे कवच धारण किए और उसी के बोझ से दबकर नष्ट हुए और केवल 'फॉसिल' के रूप में (अश्मा रूप में) बचे, वैसी ही अवस्था अपने समाज की होती। यह लचीलापन और उसमें जागता हुआ समष्टिभाव यह अपना अमृत है। उसने ही हमें जीवित रखा। उसी प्रकार फिर से दृढ़ता से भरा हुआ स्वतंत्र जीवन निर्माण करना, समग्र समाज में उसे प्रसृत

करना– यह लक्ष्य हमारे सामने रहना आवश्यक है। दलरूप कार्य में हमें संतोष नहीं। समाज-संगठन का माध्यम हम निर्माण कर रहे हैं– यह यथार्थ धारणा हृदय में रखने से ही लक्ष्यपूर्ति हो सकती है।

राजमहेंद्री में वहाँ के कार्यकर्ताओं ने डाक्टर जी का एक चित्र बनाकर उसके नीचे 'डिसिप्लीन इज द सोल ऑफ द नेशन' ऐसा लिखा। अपना 'डिसिप्लीन' का विचार संस्कृति और परंपरा को न भूलते हुए चलने का है। सैनिक संगठन अच्छा दिखता है, खट्-खट् बूट बजाते हुए चलना अच्छा लगता है। इसलिए 'मिलिटराइज' करने की आवश्यकता नहीं। हरेक व्यक्ति राष्ट्रभक्त बने, निरहंकारी बने, गुणसंपन्न बने, समष्टि में व्यक्तित्व विलीन करने की क्षमता रखनेवाला बने– यह आवश्यक है। वह सैनिक ही बने– यह आवश्यक नहीं। वह सैनिक, राजनीतिज्ञ, व्यापारी, कृषक, मैला उठानेवाला या चाहे और काम करनेवाला बन सकता है। राष्ट्र की दृष्टि से सर्वगुणसंपन्नता उसके अंदर आ सकती है। वह इस प्रकार के लचीले अनुशासन के सूत्र में गुँथा हुआ, याने स्वतंत्र प्रतिभा से अपनी रुचि-प्रकृति के अनुसार अपने विकास के लिए परिपूर्ण वायुमंडल बनाता हुआ व साथ ही अपने व्यक्तित्व को समष्टि में ढालने का सत्संकार हृदय में नित्य जागृत रखता हुआ चले, यह आवश्यक है। यही अनुशासन है। इसका बाह्य रूप शारीरिक अनुशासन में दिखाई देता है। अपने में कितनी मात्रा में अहंकार को समष्टि में विलीन करने का गुण उत्पन्न हुआ है, अपना चित्त स्वार्थ में या इधर-उधर न भटकते हुए इसी विलीनीकरण की भावना पर कितनी मात्रा में एकाग्र हुआ है, इसका बाह्य परिचय– इस रूप में शारीरिक कार्यक्रम की ओर हम देखें। बाह्यरूप का आग्रह इसीलिए है। बाह्य सुसूत्र बनाते-बनाते मन संयमित और सुव्यवस्थित होता है। इससे व्यक्तित्व को समष्टि में विलीन करने की पात्रता अपने अंदर आ सकती है। ऐसी पात्रता अपने अंदर लाते समय हमने अपने संघ के कार्य का जो एक स्नेहपूर्ण, बंधुत्व भावयुक्त वायुमंडल है, जिसमें किसी प्रकार ऊँच-नीच का भेदभाव न रखते हुए चलने का विशेष आग्रह है, उस वातावरण से अपने व्यक्तित्व का यथार्थ बोध होते हुए मनुष्य अपनी इच्छा से चलने का और विविधत्व का समाधान भी प्राप्त कर सके, ऐसी स्थिति निर्माण करने का प्रयत्न किया है। ऐसी अनोखी-सी रचना हमारे यहाँ बनी है। इस रचना को यथार्थ रूप से चलाने के लिए प्रयत्नशील होते हुए हम लोगों को छोटे-छोटे कामों में भी कठोर अनुशासन का पालन करना होगा। शारीरिक, मानसिक और

बौद्धिक अनुशासन के संस्कर निर्माण करने होंगे। चित्त को एकाग्र करते हुए इसके लिए प्रयत्न करना है, ऐसा मैं समझता हूँ।

हमारे चिरजीवन का रहस्य

अपने संगठन की शक्ति उसके लचीलेपन में है और उसी में उसकी जीवमानता है। जब तक पेड़ में रस बहता है, तब तक पेड़ की शाखा को झुका दो तो वह झुकेगी और फिर पूर्ववत हो जाएगी। परंतु रस समाप्त हो जाने पर झुकाने से शुष्क शाखा टूट जाएगी। कृत्रिम अनुशासन रूखी-सूखी पेड़ की टहनी के समान निष्प्राण और टूटनेवाला होता है। जीवमान, चैतन्यमय व्यक्ति की स्वेच्छा से स्वीकृत और समष्टि रूप अहंकार से ही ओतप्रोत अनुशासन ही संगठित रूप से खड़ा रह सकता है। वही चिरंजीव होता है, जो अमृत-रस से भरा है, क्योंकि उसे मारने की शक्ति जगत् में किसी की नहीं है। वह अपने बोझ से भी कभी नहीं टूटता। बड़े भारी पेड़ को छोटी-छोटी जड़ें इसलिए सँभाल सकती हैं, क्योंकि वे जीवमान होती हैं। यदि वे निर्जीव हो जाएँ तो पेड़ गिर जाएगा। चैतन्य का अमृत-रस ठीक प्रकार से रहा तो न वह अपने बोझ से टूटता है और न दूसरा कोई उसे तोड़ सकता है।

यह सब सोचकर अनुशासन की अपनी धारणा, कल्पना और विचार तथा उसके आचरण को प्रस्थापित करने के लिए अपने प्रयत्न इत्यादि योग्य प्रकार से होने चाहिए। कारण, आज का वातावरण इस प्रकार अपने ही विशिष्ट परंपरानुकूल पद्धति से चलनेवाले संगठित जीवन से आज अपरिचित है। अनार्य विचारों का बोलबाला सर्वत्र सुनने को मिलता है। भिन्न-भिन्न विकृत कार्य सामने हैं। अनेक अहिंदू विचारों का प्रभाव रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा आदि पर पड़ गया है। उसी प्रकार संगठन करते समय, अहिंदू और अनार्य संगठन-विचारों का प्रभाव अपने पर पड़ने का भय रह सकता है। परिणाम स्वरूप हम भी एक 'रिजिड नॉन-इलेस्टिक', समाज को दास बनानेवाले यंत्र को निर्मित करके नासमझी के कारण राष्ट्र का अहित न कर बैठें, इसलिए यह बात कही। इसपर सोचना और विचार करना आपका काम है। प्रमाणभूत शब्दों से मैंने जो समझा, वह एक आवश्यक कर्तव्य के नाते आपके सामने रखा है।

४. हमारे राष्ट्र का वैशिष्ट्य

(५ मार्च १९६०)

हिंदू-राष्ट्र : एक वादातीत सत्य

अपने यहाँ कहा गया है कि यह अपनी भारत-भू है, उसका यह पुत्ररूप हिंदू-समाज है और अपने हिंदू-समाज का यह राष्ट्रजीवन है। हम लोगों ने सोच-समझकर इसको ग्रहण किया है। हिंदू-राष्ट्र वादातीत सत्य है, अबाधित सत्य है। इस प्रकार का विश्वास अपने सब स्वयंसेवक बंधुओं के हृदय में दृढ़ होना चाहिए और रहना चाहिए, यह अत्यावश्यक है। किसी भी क्षेत्र में हम उद्योग करें, धंधा करें या समाजसेवा का अन्य काम करें, तो भी यह सत्य अपने अंतःकरण में पूर्ण तेजस्विता से प्रकाशित रहेगा, उसका प्रकाश कभी मंद नहीं पड़ेगा, ऐसा विचार नित्य जागृत रखने की आवश्यकता है।

कुछ लोगों को लगता है कि भारतभूमि में हिंदुओं के अतिरिक्त अन्य लोग रहते हैं, उनके पूर्वज हिंदू होने के कारण उनको भी अपने ही समान इस भूमि के पुत्ररूप समझना चाहिए। साथ ही अन्य कुछ लोगों को व्यावहारिक रूप में प्रजातंत्रीय व्यवस्था के अनुसार मतों के आधार पर सत्ता प्राप्त करनी होती है। इस देश में अहिंदू समाज नगण्य तो नहीं है। उस वर्ग का लाभ मिले– इस दृष्टि से कुछ प्रयास करना चाहिए, ऐसा भी वे सोचते हैं। इस प्रयत्न में अपनी परिभाषा में परिवर्तन करना चाहिए। भाषा, भावों का आविष्कार होती है। इसलिए भावों में भी परिवर्तन करना चाहिए, ऐसे विचार उनके मन में आ सकते हैं। उन विचारों में जब मनुष्य अपने को पाता है, तब समस्या उत्पन्न होती है कि अपने इस हिंदूराष्ट्र को क्या कहना होगा? दूसरा कुछ कहें क्या? यहाँ अपने कई प्रमुख और पुराने कार्यकर्ता बैठे हैं। उन्हें स्मरण होगा कि अपने पर लगे प्रतिबंध के रूप में आई छाया के उपरांत नागपुर में सब सम्मिलित हुए थे। उस समय, हम अपने सामने हिंदुस्थान, हिंदूसमाज, हिंदूराष्ट्र आदि शब्द रखें अथवा साधारण रीति से बाहर के वायुमंडल में अप्रिय न दिखाई देनेवाला जो 'भारत' शब्द है, उसका प्रयोग करें। यह विचार अनेक बड़े-बड़े लोगों के मन में भी आया था। आगे चल कर ऐसा भी विचार संभव है कि प्रार्थना में 'वयं हिंदुराष्ट्रांगभूता' कहना चाहिए या नहीं, रोज ध्वज के सम्मुख अपना निश्चय प्रकट करते समय हिंदूराष्ट्र कहें या भारत राष्ट्र कहें– ऐसी

दुविधा और हृदय की शंकाकुल स्थिति उत्पन्न हो सकती है। व्यावहारिक दृष्टि से यदि उचित मालूम होता है तो परिवर्तन करने में क्या प्रत्यवाय है? हृदय में तो भाव हैं ही, शब्दों का क्या महत्त्व है, ऐसा युक्तिवाद भी कोई कर सकता है।

राष्ट्रभाव से समझौता नहीं

जब मन में विचार करता हूँ तो ऐसा लगता है कि किसी परिस्थिति से अभिभूत होने के कारण मन में ऐसा विचार आना, याने पराभव स्वीकार करना है और एक बार परिस्थिति के सम्मुख जिसने पराभव स्वीकार कर लिया, वह परिस्थिति को परिवर्तित करने की क्षमता और शक्ति किस प्रकार रख सकेगा? क्योंकि परिस्थिति जैसी है, वैसी ही है। अपनी भूमि में जो प्रजातंत्र आया, उसके कारण एक प्रकार का महत्त्व अल्पसंख्या में होते हुए भी अहिंदू समाज को मिल सकता है। परंतु क्या उस महत्त्व को ध्यान में रखते हुए और उसका लाभ उठाने के लिए अपने शब्दों में परिवर्तन करने की आवश्यकता है? इसी प्रकार २०-२५ वर्ष तक स्थायी रूप से चलता रहा तो यह भी भाव निर्माण होना संभव है कि 'हिंदू' शब्द के आग्रह का कोई कारण नहीं। यह वायुमंडल सर्वथा संभवनीय है। ऐसा हो सकता है। तो अपने को क्या करना चाहिए? जब लोग कहते थे कि हमारे हृदय में तो हिंदूपन ही है, तो हमारा यही उत्तर था कि हृदय तो दिखता नहीं; वाणी और कृति के द्वारा हिंदूपन का परिचय होना चाहिए। व्यक्त रूप से यदि सामान्य लोगों को वह दिखाई दे तो वे मानेंगे, केवल हृदय में होने से समाधान नहीं होगा– ऐसा उत्तर भी देते थे। जो सत्य है, वह असंदिग्ध रूप से दृढ़ निश्चय के साथ सामने रख देते थे। जो आज नहीं मानते, वे भी मानेंगे। उनके संदेह दूर करेंगे। इस भूमि में इसी राष्ट्र का सार्वभौम जीवन, सर्वसत्ताप्राप्त, सर्वसत्ताधिष्ठित श्रेष्ठ जीवन प्रस्थापित करके ही रहेंगे। जो बाधा डालना चाहेंगे, वे वह 'एट देयर ओन रिस्क' डालने की सोचें, ऐसा असंदिग्ध निश्चय अपने सामने है। यदि अन्य क्षेत्र में क्वचित् किसी को हेर-फेर की आवश्यकता मालूम हुई तो उसको निभाते हुए अपने आपको जागृत रखना और सब कार्यकर्ताओं को बार-बार जागृत करना कि एक हिंदू-राष्ट्र ही है, दूसरी कोई बात नहीं, यह अत्यावश्यक है। इसके बारे में कोई समझौता अथवा कोई लेन-देन नहीं हो सकता, ऐसा भाव हर क्षेत्र में जागृत रखना और स्वयं जागृत रहना, इतना

अवश्यमेव करणीय है। राष्ट्र के पुनः संस्थापन का संकल्प लेकर हम चले हैं। मरुस्थल में से जाते हुए नदी का जल-प्रवाह जैसे शुष्क होने का भय रहता है, उसी प्रकार विचार-संभ्रम के मरुस्थल में अपने कार्य का प्रवाह शोषित न हो जाए। तदनुसार अपने और अपने साथियों के विचार विशुद्ध और जागृत रखने का प्रयत्न हमें अवश्य करना चाहिए।

पश्चिमी राष्ट्रों का लक्ष्य – केवल भौतिक सुख

अपने राष्ट्र का स्वरूप भी ठीक प्रकार से लोगों के सामने रखना चाहिए। पश्चिम के देशों में राज्यविषयक सिद्धांत चले हैं और उनमें होड़ लगी हैं कि अपने-अपने सिद्धांत को लेकर दुनिया में चलेंगे। आज अपने यहाँ भी समाजवाद, जनतंत्र आदि उन सिद्धांतों का चारों ओर– साहित्य और कला के क्षेत्र तक सर्वदूर– प्रभाव दिखाई देता है। अब हम सोचें कि हमारे इस राष्ट्र की कौन-सी विशेषता है? अपने वैशिष्ट्य में कौन-सा ऐसा पहलू है, जो राष्ट्र कहलानेवाले अन्यान्य मानव-समूहों में दिखाई नहीं देता। विचार करने पर कहना पड़ेगा कि दुनिया भर की राज्य-व्यवस्था और राष्ट्र-व्यवस्था में मनुष्य मात्र के जीवन का लक्ष्य ऐहिक सुख-समृद्धि माना हुआ है। अर्थात् खाना-पीना, वस्त्र-प्रावरण, निवास के स्थान, सुखोपभोग, वासना की वृद्धि, वासना संतुष्ट करने के साधनों की वृद्धि, उन साधनों की उपलब्धि, भिन्न-भिन्न मनोविनोद के साधन, यही जगत् के सब देशों में सर्वसाधारण लक्ष्य रखा गया है, ऐसा दिखता है। जिसका बड़ा प्रगतिमान वर्णन किया जाता है। वहाँ सामान्य आदमी के यहाँ भी टेलीवीजन, रेडियो, मोटर, मोटरसाईकिल आदि ऐहिक सुख के लक्षण ही प्रगति के मापदंड माने जाते हैं। ये वास्तव में मानव की प्रगति के मापदंड हैं क्या?

यह सुख स्थायी नहीं

इन बातों का विचार हमारे पूर्वजों ने भी किया था। समय पर वर्षा होनी चाहिए, पृथ्वी पर धन-धान्य समृद्धि रहनी चाहिए, समाज को ऐहिक सुख-समृद्धि प्राप्त होनी चाहिए, कोई भी दुःखी न रहे– ऐसी प्रार्थना उन्होंने की है, परंतु उस समय भी उनको अनुभव हुआ कि मनुष्य केवल वासनाओं का पुतला नहीं है। वासनाओं की तुष्टि कुछ समय के लिए आनंद देती है, किंतु हमेशा के लिए वह आनंद नहीं दे सकती। मनुष्य तो ऐसा सुख चाहता है, जो कभी क्षीण न हो। उसमें कभी बाधा न आ सके,

व्यत्याय न आ सके, याने वह अबाधित, नित्य सुरक्षित और चिरकालिक सुख की कामना करता है। अपढ़ सामान्य व्यक्ति से भी दो-चार प्रश्न पूछिए तो वह कहेगा कि प्रतिदिन समान रूप से अच्छा सुख मिलता रहे। सुख का जैसा-जैसा अर्थ सूझता है, वैसी-वैसी बुद्धि दौड़ती है, उतनी मात्रा में उन सुखों को प्राप्त करने के लिए या उनके साधनों को जुटाने के लिए प्रयत्न होते हैं। जगत् के प्रगतिशील कहलानेवाले लोगों ने वासनाओं की तृप्ति के साधन जुटाने का, उनका संशोधन करने और सबको उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया है। इसी के आधार पर उन्होंने अपनी समाज-रचना, राज्य-रचना इत्यादि योजनाएँ बनाईं। समाजवाद, साम्यवाद आदि सारे उसी के विभिन्न पहलू हैं। सबको ऐहिक सुख उपलब्ध करा देना उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार निश्चित किया, किंतु इनमें वास्तविक सुख देने की शक्ति है क्या? यद्यपि प्रारंभ में लगता है कि आनंद प्राप्त होता है, पर गंभीरता से विचार करने पर दिखता है कि उसके लिए कितने ही परिश्रम करने पड़ते हैं, दुःख सहने पड़ते हैं। दुःख से जिसका प्रारंभ हुआ, उससे कितना सुख होगा? सुख के साधन आए तो वे रहेंगे क्या, नष्ट तो नहीं होंगे, इसकी चिंता रहती है। याने साधनों के रक्षण में भी दुःख। उनके प्रत्यक्ष उपभोग में भी दुःख ही होता है और उपभोग समाप्त होने के बाद बार-बार के अनुभव से उनके प्रति अरुचि निर्माण होकर वे आनंद नहीं दे पाते, याने साधन होने पर भी उनका उपभोग सुख नहीं देता, इसका दुःख होता है। इस प्रकार आदिमध्यांत में दुःख ही दुःख है। सुख का केवल आभास मात्र है, ऐसा मनीषी कहते हैं।

चिरंतन तत्त्व का दर्शन

फिर चिरंतन सुख की कोई स्थिति है क्या? होगी तो उसके पीछे जाएँगे, अन्यथा जो है, उसी में समाधान मानेंगे। किंतु जो आधुनिक भौतिकवादी विद्वान हैं, उन्होंने इस बात की खोज करना छोड़ दिया है। वे बाधित सुख में ही संतोष मानने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। आगे बढ़ने की क्षमता, बुद्धि और प्रेरणा उनमें नहीं है। हमारे पूर्वजों ने सब प्रकार के ऐहिक सुख और ऐश्वर्य की कामना करने के बाद भी उसे अंतिम लक्ष्य नहीं माना। फिर लक्ष्य कौन-सा? चिंतन के बाद जो उत्तर मिला, वह शब्दों की पकड़ के बाहर है।

उन्होंने कहा कि ऐसी एक वस्तु है, जो केवल अंतर्बाह्य सुखपूर्ण ही

नहीं तो प्रत्यक्ष घनीभूत सुख ही है। उससे हमारा तादात्म्य का संबंध है, जिसका अपने को आज पता नहीं है। पता लगने और अनुभव होने के बाद केवल सुख ही सुख है। जीवन के सारे कष्ट सहते हुए, सब काम करते समय हृदय शांत, सुखपूर्ण ही रहता है, दुःख होता ही नहीं। ऐसी वह स्थिति है। इस स्थिति का उन्होंने साक्षात्कार किया और आनंद से जगत् के सामने कहा कि हमने उस दिव्य पुरुष का पता लगा लिया है। उन्होंने कहा– 'दिव्य लोक में रहनेवाले भी सुनो, मैंने उस दिव्य तत्त्व को देखा है, जिसको जानना ही सर्वश्रेष्ठ सुख का मार्ग है। चिरंतन सुख के लिए दूसरा मार्ग नहीं। जिसको जानने के बाद जानने लायक और कुछ रहता नहीं' (शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः। {ऋग्वेद– १०, १३, १}, वेदाऽहमेतं पुरुषम् महान्तं {तैत्तरीय अरण्यक– ३, १२, ७})

अपने राष्ट्र का लक्ष्य क्या? वह है, व्यक्तिमात्र को, इस स्थिति की प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सके– ऐसी विशुद्ध प्रेरणा देना। प्रत्येक मानव, फिर वह वन्य-अवस्था में भी क्यों न हो, इस प्रेरणा को हृदय में जागृत कर वह इस लक्ष्य की ओर किंचित्मात्र भी आगे बढ़े और इस सुख का अधिकारी बने– यह हमारा राष्ट्रीय संकल्प है। उस संकल्प का प्रथम आविष्कार अपने राष्ट्र में हुआ है, यह अपने राष्ट्र की प्रकृति का प्रथम वैशिष्ट्य है। अपने हृदय में हम इस बात को समझते हैं या नहीं? यदि हमारा विचार दैनंदिन ऐहिक जीवन और उसमें होनेवाले आघात-प्रत्याघात, तक ही सीमित रहा हो तो राष्ट्रजीवन के प्रति अपेक्षित उद्दीपित श्रद्धाभाव जागृत नहीं होगा। राष्ट्र के इस दिव्यत्व का बोध होने पर सारी श्रद्धा और दिव्यता स्थाई रूप से जागृत होगी। इस प्रकार से वह लक्ष्य हृदयंगम किए बिना और उसको श्रद्धापूर्वक धारण किए बिना हमारे राष्ट्र के अलौकिकत्व का भान नहीं होगा और जब तक यह उत्कट श्रद्धा निर्माण नहीं होती, तब तक अपने व्यक्तित्व, चारित्र्य, पवित्रता तथा सामर्थ्य से राष्ट्र को श्रेष्ठ स्थान पर आरूढ़ करूँगा– ऐसा अटल निश्चय मन में जागृत नहीं होगा।

चरम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु संस्कारों की योजना

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति पात्र हो सके इसलिए केवल बाल्यावस्था से ही नहीं तो गर्भावस्था से लेकर सब अवस्थाओं में सद्गुणों के संस्कार देने का आयोजन अपने यहाँ किया गया, जिससे प्रत्येक अवस्था में व्यक्ति सद्गुणों को धारण करता रहे। सुनने से, समझने या न

समझने पर भी, संस्कार पड़ते हैं। गर्भावस्था से लेकर शब्दों का संस्कार, भावनाओं का संस्कार, वायुमंडल का संस्कार व्यक्ति ग्रहण करता रहे और ग्रहण करते-करते सब प्रकार के जितने श्रेष्ठ गुण स्थान-स्थान पर अपने यहाँ वर्णित हैं, उन सब गुणों से वह परिपूर्ण होकर चले– ऐसी अपने यहाँ पर एक योजना की गई। इस योजना के परिणामस्वरूप जब अंतःकरण की एक पवित्र रचना बनकर जीवन की अमिट धारा बनती है तो उस धारा को 'संस्कृति' बोलते हैं। स्वभावतः बिना सोचे, पवित्र कार्य करने की जो इच्छाएँ मनुष्य मात्र में समान रूप से जागृत होती हुई दिखती हैं, वही संस्कृति का अभिव्यक्त स्वरूप है। यहाँ पर संस्कार की यह जो योजना बनी उससे कुछ सद्‌गुण-समुच्चय का निर्माण हुआ है और उसी से हिंदू 'हिंदू' बना है। गत हजार-बारह सौ वर्षों के पारतंत्र्य ने इस धारा को दूषित, कलुषित कर डाला। आज हम गुणभ्रष्ट होकर खड़े हैं। यदि इस पारतंत्र्य काल में साधु, संत और महात्माओं की परंपरा संस्कारों को जीवित रखने के लिए खड़ी न होती, तो सारे संस्कार नष्ट होकर हमारा भी अफगानिस्तान या ईरान बन जाता। न संस्कार रहते, न शुद्धता रहती। इन साधु-महात्माओं ने हमको थोड़ी-बहुत मात्रा में सुरक्षित रखा। इसलिए संस्कारों से युक्त थोड़े व्यक्ति अभी भी मिल सकते हैं। उन्हीं की ललकार के कारण आज के शिश्नोदरप्रधान वायुमंडल में और पढ़े-लिखे लोगों में भी ऐसे कुछ लोग दिखाई देते हैं, जो राष्ट्र की भावनाएँ जगाने का कृतनिश्चय लेकर चलते हैं और पवित्र संस्कृति-धारा का आवाहन करते हैं। आज के स्वार्थ के विचार, विश्वासघात के विचार तथा असत्य में रममाण होने की प्रवृत्ति अपनी संस्कृति का स्वरूप नहीं। परकीयों के आघात, उनकी दासता और हीन संस्कृति के लोग उच्च पद पर आरूढ़ होने के कारण उत्पन्न यह विकृति है। कई लोग पूछते हैं कि यही तुम्हारी संस्कृति है क्या? तो उनको बताना पड़ता है कि हीन लोगों के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुई यह विकृति है, संस्कृति नहीं। इस विकृति को ठीक प्रकार से समझना चाहिए। पवित्र वायु से जैसे पानी के ऊपर जमा हुआ मैल या काई हट कर निर्मल जल दिखाई देता है, वैसे ही समय-समय पर एकाध विशुद्ध प्रेरणा जाग कर, कुछ कु-संस्कार हटकर, पवित्र संस्कृति-धारा का साक्षात् दर्शन बिल्कुल देहातियों में भी हो जाता है।

फरवरी १९४८ की बात है। उस समय संघ के विरुद्ध बड़ा बवंडर खड़ा किया गया था। जानबूझकर खोटे आरोप लगाए गए थे। कुछ प्रांतों

में इस बवंडर को ब्राह्मण-अब्राह्मणवाद का स्वरूप प्राप्त हुआ और सीधे-सादे लोगों को भी बड़े दुःख भोगने पड़े। उनकी संपत्ति नष्ट की गई, मकान जला दिए गए। एक जगह एक मकान पर प्रक्षुब्ध समूह आक्रमण करने के लिए गया। मकान के दरवाजे बंद थे। अंदर पुरुष कोई नहीं था, केवल एक अकेली स्त्री ही थी। उसने डर के कारण दरवाजा खोल दिया। घर में कोई पुरुष नहीं, यह सुनकर सारी भीड़ रुक गई। हजार वर्ष के विकृत संस्कार हृदय पर होने और गत पचास-पचहत्तर वर्षों में अपने ही नेताओं द्वारा अनेक प्रकार की विकृतियाँ निर्माण करने की चेष्टा होने पर भी उस समय संस्कृति का निर्मल प्रवाह दिखाई दिया। उस भीड़ में नामी गुंडे थे और बड़े उद्दंड लोग थे, लेकिन वे क्यों रुके? कारण यही कि अपनी संस्कृति का 'मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्' यह संस्कार उनके भी रोम-रोम में बसा हुआ था। उन्होंने उस स्त्री को सुरक्षित जगह पहुँचा दिया। इतना ही नहीं, तो उसके साथ दो रक्षक दिए और रिक्शे के पैसे भी दिए। हमारी संस्कृति की निर्मल धारा ने जो सद्‌गुण-समुच्चय निर्माण किया, उसके कारण आज की भ्रष्ट अवस्था में भी, गाँजे और भांग के खेत में भी कहीं न कहीं तुलसी जैसा पौधा मिल ही जाता है। उसी प्रकार वर्तमान दशा में भी हर हिंदू के हृदय में सत्संस्कार कभी न कभी प्रकट हुआ ही करते हैं। वह पौधा हमारी संस्कृति ने बोया हुआ है और उसे कोई उखाड़ नहीं सकता।

हमारी समाज-रचना का आधार

सत्य और सब प्रकार के सद्‌गुणों का भोक्ता, अन्य मानव को अपने ही जीवन का अंग मानकर चलनेवाला, उनके सुख-दुःख में सहभागी होनेवाला, मानव का यह अनोखा और अलौकिक चित्र हमारी संस्कृति ने लक्ष्य की दृष्टि से अपने सामने रखा है और लक्ष्य की प्राप्ति की दृष्टि से अपने यहाँ एक विशेष प्रकार की समाज-रचना भी की गई है। इस समाज-रचना को लोग भला-बुरा कहा करते हैं। परंतु गहराई से विचार करनेवालों को उसकी शास्त्रीयता और श्रेष्ठता को मानना ही पड़ेगा।

मनुष्य को चौबीसों घंटे पेट के पीछे दौड़ना चाहिए क्या? न पाले हुए कुत्ते रोटी के टुकड़े के लिए द्वार-द्वार पर घूमते हैं। उसी प्रकार आज पढ़े-लिखे लोग भी नौकरी की खोज में दिखाई देते हैं। जीवन क्या इसलिए है? सदा-सर्वदा पेट की चिंता, परिवार की चिंता, कल क्या होगा इसका

विश्वास नहीं, ऐसी अवस्था में जीवन का लक्ष्य कैसे प्राप्त होगा? बड़े लोग कहते हैं कि –'टेक नो थॉट ऑफ टुमॉरो' लेकिन सामान्य व्यक्ति के लिए यह कैसे संभव है? अपने पूर्वज बड़े व्यावहारिक थे। सामान्य मनुष्य की कामना, वासना आदि का विचार करके उसको अंतिम लक्ष्य तक पहुँचाने की कल्पना उनके सामने थी। इसलिए सामान्य मनुष्य को ऐहिक उदर-भरण के बाद उपासना के लिए निश्चित अवकाश मिलना चाहिए, यह उन्होंने समझा और ऐसी व्यवस्था की कि जन्म पाते ही मनुष्य की रोजी निश्चित हो जाए। उसके लिए व्यक्ति का परंपरा से प्राप्त व्यवसाय के लिए योग्य बनना और परिवार का पोषण करना इतना ही आवश्यक था। ऐसे भिन्न-भिन्न व्यवसाय के लोगों को उन्होंने एकत्र किया और जाति-व्यवस्था के रूप मानो 'नेशनल इंश्योरेंस स्कीम विदाउट गवर्नमेंटल इंटरफीयरेंस' निर्माण की। आजकल जाति-व्यवस्था टूट जाने से ये 'सोशल इंशोरेंस' की स्कीम भी नष्ट हो गई है। अपने यहाँ 'कास्ट रिडन सोसायटी' है– ऐसा कहा जाता है। लेकिन आजकल वैसा दिखता तो नहीं। यहाँ की व्यवस्था में धंधा खोजने की या 'युवर मोस्ट ओबिडिएंट सर्वेंट' बनकर नौकरी की तलाश में द्वार-द्वार घूमने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। अपने जन्म-सिद्ध व्यवसाय से परिवार का पोषण करना और आनंद से शांत चित्त होकर परम-तत्त्व का चिंतन और सद्गुणों का आवाहन करना, यह हो सकता था। बड़े-बड़े प्रगतशील देशों में भी ऐसी रचना नहीं है। कारण उनका लक्ष्य केवल ऐहिक है। खाना-पीना और सुख से सोना ही उनका लक्ष्य होने के कारण, और यह जीवन प्रायः पशु के समान ही होने के कारण मानव को पशु-समान बनानेवाली रचना उन्होंने की, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

पशुभाव से देवत्व की ओर

पशुभाव से ऊँचा उठते समय सब लोग एकदम समान ऊँचाई पर नहीं जा सकते, लेकिन प्रत्येक को ऊँचाई पर चलने का विश्वास, आशा, आकांक्षा और निश्चय रहे इसलिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर लोगों को खड़ा करने की दृष्टि से रचना की गई। आखिर जैसा लक्ष्य होता है, वैसी रचना भी होती है। आज भी अपने यहाँ जो लोग समानता की या अन्य बात की घोषणा करते हैं, उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बदल दिया है। चरम लक्ष्य पेट भरने और ऐहिक सुखों का उपभोग लेने तक ही सीमित हो गया है। इसलिए विशिष्ट प्रकार के भिन्न-भिन्न नारे और घोषणाएँ उत्पन्न हुईं। यदि

राष्ट्रजीवन के तात्त्विक अधिष्ठान का अपना लक्ष्य स्थिर रहता तो सारे दोष, विच्छिन्नता की भावना आदि को नष्ट करके स्नेहपूर्ण सहकार्य की स्थिति निर्माण करने का प्रयत्न होता।

मेरे परिचय के एक साधु हैं। उन्होंने विदेश में भी प्रवास किया है। अमरीका में एक व्यक्ति ने उनसे कहा कि हिंदू लोग ढीली-ढाली धोती पहनते हैं, यदि मार-पीट का प्रसंग आया तो क्या करेंगे? उस साधु ने उत्तर दिया, 'हू टोल्ड यू वी आर ड्रेसिंग फॉर ए क्वरल एंड स्ट्रगल? सब जगत् में सुख है, शांति है, समाधान है, बंधुत्व है– ऐसा सोचकर हम चलते हैं। तुम लोग तो आस्तीन चढ़ाकर मारपीट के लिए हिंस्र पशु के समान तुले रहते हो और सड़क के कुत्ते के समान सब दूर भौंकते रहते हो। उसी के अनुसार तुम्हारा वेष भी है।' इसका अर्थ यही कि जीवन का जो लक्ष्य होता है, उसके अनुसार ही सब होगा। समाज की व्यवस्था भी उसी के अनुसार रहेगी। इसी दृष्टि से हमारा अपना जीवन बना है।

एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति

साथ ही साथ यह भी विचार आया कि प्रत्येक मनुष्य एक ही प्रकार से उपासना कर नहीं सकता। इसलिए अपने यहाँ उपासना के भिन्न-भिन्न संप्रदाय बहुत प्राचीनकाल से चलते आए हैं। पेड़, पत्थर, भूत, पिशाच की भी पूजा करो, परंतु पूजा करो। इस विचार से उपासना के अमर्याद क्षेत्र उपलब्ध करा दिए। अपने से श्रेष्ठ, पवित्र उच्च्व ऐसी कोई शक्ति है और उसकी पूजा करनी चाहिए। इस भावना से अंततोगत्वा उच्चतम स्थान पर पहुँच जाएँगे, यह विचार इस व्यवस्था में निहित था। गीता में भगवान ने कहा है कि हर एक प्रकार से पूजा करनेवाला आखिर मेरी ही पूजा करता हे। ऐसे प्रत्येक को अंतिम सुख तक पहुँचाने का बीड़ा स्वयं भगवान ने उठाया है। उपासना का जो मार्ग अपनी प्रकृति को, रुचि को और जीवन पद्धति को जँचे उसको वह स्वीकार करे– यही अपने यहाँ माना गया है। इसलिए अपने यहाँ झगड़ा नहीं हुआ।

अनुशासन के बारे में बोलते हुए मैंने कहा था कि अपने यहाँ व्यक्ति की संपूर्ण स्वतंत्रता है और व्यक्ति के अहंकार को समष्टि के अहंकार में पूर्णतः विलीन कर देना है। इसी सामंजस्य से अटूट अनुशासन निर्माण होता है। धर्म क्षेत्र में भी यही धारणा दिखाई देती है। उपासना का

स्वातंत्र्य होते हुए भी सारे मार्ग उसी एकरूप अंतिम सत्य तक पहुँचनेवाले हैं, ऐसा हम मानते हैं; जैसे आकाश से भूमि पर गिरनेवाला पानी आखिर महासागर तक पहुँच जाता है। शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन, मीमांसक, नैयायिक, सभी ने एक ही तत्त्व को 'त्रैलोक्य नाथो हरिः' करके विभिन्न शब्दों में गाया है—

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।

(रामभक्त हनुमान, हनुमन्नाटकम् अंक १-३)

ऐसा विविधतापूर्ण परंतु समन्वित जीवन यहाँ था। श्रेष्ठतम सत्य की अनुभूति के चिरंजीव और पवित्र अधिष्ठान पर समन्वय उत्पन्न करना और अनेकविध गुणों से परिपूर्ण होना, यह अपने राष्ट्रजीवन की एक अनोखी विशेषता है। इन गुणों में से अधिकांश की अभिव्यक्ति अपने राष्ट्र में फिर से हो, ऐसा प्रयत्न करने की आवश्कयता है। यहाँ स्वामी विवेकानंद के एक उद्‍गार का स्मरण आता है। उन्होंने कहा था कि 'मैं अपने समाज का जो आगामी चित्र देखता हूँ, वह 'ए मुस्लिम बॉडी विथ ए हिंदू सोल ...ऐसा है।' अनेक लोगों को यह बात बड़ी विचित्र सी लगी। लेकिन उसका अर्थ यह है कि मुसलमान समाज के जीवन में जो एक सद्‍गुण है कि वे अपने सब भेद जलाकर अपने धर्म के नाम पर, हम उसको सद्‍गुण कहें या न कहें, कंधे से कंधे मिलाकर समान रूप से सूत्रबद्ध खड़े हो जाते हैं। ऐसा स्वाभिमान लेकर, सूत्रबद्ध होकर, एकरूप बना हुआ समाज का विशाल शरीर, परंतु अपने अध्यात्मपूर्ण राष्ट्रजीवन की परिपूर्ण जागृति अंतकरण में रखनेवाला यह हिंदू-समाज बनेगा, ऐसा स्वामी जी ने कहा था। मैंने एक बार किसी से कहा था कि नया मकान बनाने के लिए कई बार पुराना मकान तोड़ना पड़ता है। आज विकृत बनी हुई जो समाज-रचना है, उसको यहाँ से वहाँ तक तोड़-मरोड़कर सारा ढेर लगा देंगे। उसमें से आगे चलकर जो विशुद्ध रूप से बनेगा सो बनेगा, आज तो सबका एकरस समूह बनाकर, अपने विशुद्ध राष्ट्रीयत्व का संपूर्ण स्मरण हृदय में रखकर, राष्ट्र के नित्य चैतन्यमय व सूत्रबद्ध सामर्थ्य की आकांक्षा अंतःकरण में जागृत रखनेवाला समाज खड़ा करना है।

हिंदू-राष्ट्र की वास्तविक व्याख्या

राष्ट्रजीवन के संबंध में अपना विचार एक मातृभूमि, एक समाज, समान हितसंबंध, समान परंपरा, समान आशा-आकांक्षा– इन बातों से सीमित है। मानो एक-दूसरे के साथ स्वार्थ के कारण वे मिले हुए हैं। इस प्रकार की केवल भौतिक और तात्कालिक व्याख्या से ही संतुष्ट न होकर, अपने राष्ट्र की वास्तविक श्रेष्ठ व अलौकिक प्रकृति को समझकर, जीवन के चरम लक्ष्य का ज्ञान देनेवाला जगत् में यही एकमात्र विचार है, ऐसा विश्वास हृदय में होने के कारण यह पवित्र भरत-भूमि 'हिंदूराष्ट्र' है– ऐसा हम मानते हैं। इस राष्ट्र को पावित्र्य, तेज, सामर्थ्य, ज्ञान, तपस्या और प्रखरता आदि गुणों से सारे जगत् में चमकनेवाले राष्ट्र के नाते हमें खड़ा करना ही है। उसी में हमारा ऐहिक और पारलौकिक कल्याण है इतना ही नहीं, समस्त मानव का भी कल्याण इसी में है। जगत् का मार्गदर्शन करने की केवल ऊँची बातें करने से लाभ नहीं, तो राष्ट्र को वैसा समर्थ और सद्गुणसंपन्न बनाएँगे– ऐसी विशुद्ध धारणा से यदि हम चलें तो तात्कालिक समस्याओं के कारण समझौते का विचार हमारे मन में नहीं आएगा। कभी-कभी जो संभ्रम निर्माण होते हैं, वे निर्माण न होंगे। उनका प्रभाव हम पर कभी नहीं पड़ेगा। इस प्रकार का नित्य चिंतन और वार्तालाप करते रहें, इसी प्रकार का वायुमंडल बनाए रखें, ऐसी अपनी योजना है। जैसे छत्रपति शिवाजी ने अपने पिता को बीजापुर की कैद से मुक्त कराने के लिए औरंगजेब को पत्र लिखकर उसका सरदार बनना स्वीकार कर लिया था लेकिन बाद में शिवाजी का विशुद्ध और प्रखर राष्ट्रीयत्व चमक उठा और उसने औरंगजेब के सेनापति और प्रत्यक्ष उसके मामा को कैसे खेल खिलाए, यह हम इतिहास में देखते हैं।

इस प्रकार यदि किसी कारण व्यावहारिक खेल खेलना पड़े तो चित्त के संभ्रमित और तत्त्वभ्रष्ट होने की आवश्यकता नहीं। अपनी दृष्टि अंतिम गंतव्य स्थान से इधर-उधर न हटाते हुए अपने ध्येय और अपने मार्ग के बारे में परिपूर्ण विश्वास रखते हुए, उसके अनुसार चलने की दृढ़ता रखते हुए काम करना चाहिए। यदि ऐसा हुआ तो सब कार्य हम ठीक प्रकार से कर सकेंगे– ऐसा मुझे लगता है।

५. हमारी प्रतिज्ञा

(९ मार्च १९६०)

अपने कार्य में कुछ विशेष भाव एक निश्चय के रूप में व्यक्त करके चलने की प्रथा बनी हुई है। जीवन में संकल्प एक ही होता है। इसलिए यावज्जीव, आमरणांत उस निश्चय का परिपालन करने की अपनी इच्छा व्यक्त करके हम अपने कार्य में आते हैं। प्रत्येक संस्था, वह किसी भी ढंग से काम करनेवाली क्यों न हो वह अपनी सदस्यता कभी वार्षिक, कभी कम-अधिक अवधि के लिए और लगभग निरपवाद रूप से सशुल्क रखती है। इसके कारण हो सकता है कि दो प्रकार से लाभ होते होंगे। एक तो शुल्क के रूप में थोड़ा-बहुत धन-संचय होता होगा। दूसरा प्रतिवर्ष अपने सदस्यों को स्मरण दिलाने का लाभ भी संभवतः होता होगा। ये दोनों लाभ ध्यान में लेकर भी अपने कार्य में उस पद्धति को स्वीकार नहीं किया गया। मुझे स्मरण है कि प्रारंभ में ऐसे कुछ प्रयोग अपने कार्य में हो चुके थे, परंतु उन प्रयोगों को बाद में छोड़ दिया गया। फिर स्वयंसेवक दिन-प्रतिदिन की शाखा में आएँ, भिन्न-भिन्न प्रकार के शारीरिक, बौद्धिक आदि कार्यक्रम करें और उनके द्वारा अपने हृदय में संघ-भाव दृढ़ करते हुए चले यही विचार स्थिर हुआ। जब स्वयंसेवक में यह विश्वास हो जाए कि अपनी भाव-भावना, विचार तथा आचरण संघ की पवित्र प्रणाली के अनुकूल बनाने में उसने सफलता पाई है तथा आगे चल कर वह उससे पूर्णतया एकरूप हो जाएगा तब वह 'मैं संघ का एक स्वयंसेवक हूँ, याने संघ का एक घटकावयव हूँ'– ऐसा भाव समग्र स्मृतियाँ जगाकर प्रकट रूप से व्यक्त करता है। इसी को 'प्रतिज्ञा' कहा गया है।

हमारा संकल्प

आपको मालूम है कि अपनी प्रतिज्ञा में कुछ विशेष बातें हैं। अपने राष्ट्र के स्वतंत्र, सार्वभौम, सत्तासंपन्न जीवन का तथा उस जीवन के सब प्रकार के विकास का विचार यहाँ मिलता है। उसमें कहा है कि केवल बाह्यस्वरूप के विकास को सोचने और समझने तक ही राष्ट्र के विकास का विचार सीमित नहीं है। तो धर्म और संस्कृति के संबंध में कुछ जानकारी तथा अंतःकरण की भावना का ज्ञान प्राप्त करके समाज-बंधुओं का जीवन पुनीत परंपरा के अनुसार विकसित करने का प्रयास हो; साथ ही यह जो अपना समाज है, वह 'समाज' कहलाने का पात्र हो; सबके अंतःकरण में

समाज का एकरस शुद्ध जीवन है, इसकी स्मृति रहते हुए तदनुसार व्यवहार परस्पर स्नेह-संबद्धता प्रस्थापित होकर एक हृदय से चलने की प्रवृत्ति, भावना, इच्छा, गुणसंपदा रहे– इसको अपने राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए 'सर्वप्रथम आवश्यकता' (कंडीशन प्रिसिडेंट) माना है।

मुझे स्मरण है कि एक कार्यकर्ता ने एक बार प्रतिज्ञा का शब्द-प्रयोग बताते हुए कहा था कि 'हिंदू-धर्म, हिंदू-संस्कृति और हिंदू-समाज का संरक्षण करने के लिए और हिंदू-राष्ट्र स्वतंत्र करने के लिए' तो डाक्टर जी बोले कि यह गलत है। गलती कहाँ है, यह खोजो? वह खोज नहीं पाया। उसी समय मैं संयोगवश वहाँ पहुँच गया। उन्होंने मुझसे कहा कि 'इस समस्या का उत्तर दो।' मुझे प्रतिज्ञा के शब्द-प्रयोग का स्मरण था। मैंने कहा, 'हिंदू-धर्म, हिंदू- संस्कृति और हिंदू-समाज का संरक्षण कर हिंदूराष्ट्र स्वतंत्र करने के लिए'– ऐसा चाहिए। धर्म, संस्कृति और समाज का संरक्षण यह कोई अलग ध्येय नहीं है। सर्वप्रथम उपास्य के नाते हम उनको अपने सामने रखते हैं और उन्हीं को आधारभूत मानकर राष्ट्र की स्वतंत्रता का विचार करते हैं। यह बात ध्यान में रखकर चलना चाहिए।

आध्यात्मिक अधिष्ठान

कार्य के संबंध में विचार करते समय अनेक बार जो तात्कालिक समस्याएँ सामने आती हैं, उन्हीं में अपना सद्विचार और सामर्थ्य लगाते हुए 'कंडीशन प्रिसिडेंट' जो रखा है, उसके लिए पर्याप्त मात्रा में ध्यान रहना चाहिए। महाभारत हमारा एक बड़ा मार्गदर्शक ग्रंथ है। उसमें भारतीय युद्ध का वर्णन किया है, लेकिन उसके पहले गीता के रूप में तत्त्वज्ञान बताया है। भगवान व्यास, जो साहित्य-क्षेत्र के एक सिद्धहस्त जादूगर थे, ने केवल संयोग से इस प्रकार की रचना की होगी– ऐसा नहीं लगता। ऐहिक जीवन के उत्कर्ष के लिए सर्वप्रथम करने की बात इस नाते ही उन्होंने सोच-समझकर ही अपने विशाल ग्रंथ-भंडार में अध्यात्म-विचार को प्रथम स्थान दिया है। इसे आँखों से ओझल करके जो भी प्राप्त होगा, वह राष्ट्रजीवन के वैशिष्ट्य को नष्ट कर देगा। उस जीवन का हमारे लिए कुछ उपयोग नहीं रहेगा। मैं ऐसा मानता हूँ कि प्रतिज्ञा के रूप में जो शब्द-प्रयोग है, वह असाधारण मनःस्थिति में असाधारण प्रतिभासंपन्न मनुष्य के मुँह से निकला है। इसीलिए उसमें पावित्र्य है और बल भी है। उसका उच्चारण करनेवाला, वर्षानुवर्ष का भूला-भटका होने पर भी उसका स्मरण कर, एक पावित्र्य

और सामर्थ्य का हृदय में अनुभव करता है। इसमें वही प्रतिभा है, जो महर्षि व्यास के महाभारत की रचना में दिखती है। परंतु आज के जीवन को देखकर सामान्य मनुष्य की समझ में आ सके, इस प्रकार वह व्यक्त हुई है। शाखाओं के कार्य में प्रतिज्ञा का यह भाव निर्माण होता रहे, इसलिए दत्तचित्त होकर प्रयत्न करेंगे तो चिरस्थायी राष्ट्र के निर्माण का संकल्प पूर्ण हो सकेगा।

तन-मन-धन-जीवन से....

प्रतिज्ञा में दूसरा विचार यह भी है कि यावज्जीव कार्य किस प्रकार करेंगे। तन, मन, धनपूर्वक– ऐसा उल्लेख वहाँ है। काया, वाचा, मनसा ('मनोवाक्काय') यह जो प्राचीन मनीषियों ने कहा है उसके साथ धन को भी जोड़ा गया है, क्योंकि वह एक ऐहिक शक्ति है। यह विचार स्वयंसेवकों को ठीक प्रकार से समझाना लाभदायक होगा। यदि कोई कहे कि केवल शरीर से काम करूँगा या दूसरा कोई कहे कि मैं संघ के बारे में केवल चिंतन करूँगा, नित्य संघ का जप करूँगा, मुझे शाखा में आने की आवश्यकता नहीं, तो वह ठीक होगा क्या? अन्य बहुत लोग ऐसे भी मिलते हैं, जो कहते हैं कि प्रतिवर्ष हमारे पास से पैसा ले जाओ, हर रोज शाखा में आने के लिए हमारे पीछे मत पड़ो। ऐसा कहनेवाले पहले बहुत मिलते थे और आज भी मिलते हैं। अपने डाक्टर जी के ही जीवन का एक प्रसंग है। पंडित मदनमोहन मालवीय, जो 'रॉयल बैगर' करके प्रसिद्ध थे, ने डाक्टर जी से मुलाकात होने पर कहा कि 'आपको जितना रुपया चाहिए उतना मैं लाकर दे सकता हूँ।' डाक्टर जी ने उत्तर दिया– 'हमें रुपया-पैसा कुछ नहीं चाहिए। केवल आपका आशीर्वाद चाहिए। बाकी सब अपने आप आएगा।' यही उत्तर डाक्टर जी ने प्रसंग आने पर बड़ों-बड़ों को दिया। कभी-कभी स्वयंसेवकों के मन में आता है कि वे संघ को कुछ दान करें। परंतु दान करनेवाला वह कौन है? एक बार स्वयंसेवक हो ज़ाने के बाद वह स्वयं संघ का बन जाता है। फिर दान करने के लिए उसके पास अलग बचता ही क्या है? हम ऐसा बोलते हैं कि पैसा देकर स्वयंसेवक का अपने कर्तव्य से छुटकारा नहीं हो सकता, क्योंकि हमने प्रतिज्ञा में 'तन से, मन से या धन से' नहीं कहा है, तन-मन-धन का समुच्चय रूप से उल्लेख किया है। अपनी सब ऐहिक सुख-संपदा निस्संकोच संघ के कार्य में लगा दूँगा, यह भावना इस शब्द-समुच्चय से व्यक्त होती है।

नित्यकर्म अनिवार्य

अपने समाज में अनेक गुणवान लोग हैं और वे अपनी दृष्टि से विचार कर सोचते हैं कि हमसे जितना बनता है, उतना करेंगे। पैसा देंगे, धन देंगे, संघ के बारे में अच्छा बोलेंगे, भाषण करेंगे, परिश्रम करेंगे, कुछ अभियान हो तो दौड़-धूप करेंगे, इस प्रकार की सिद्धता वे बताते हैं। एक कार्यकर्ता का उदाहरण याद आता है। सन् १६४२ के अस्थिर काल में जब संघ पर आपत्ति आने की संभावना थी, तब इस कार्यकर्ता ने बड़ी दौड़-धूप की, परंतु बाद में जब वायुमंडल स्थिर हो गया तो उसकी दौड़-धूप भी शांत हो गई। अब वे निष्क्रिय बैठे हुए हैं। न परिवार सँभालते हैं, न संघ का काम करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि संघ के लिए शारीरिक श्रम करने के लिए हमसे कहिए, संघस्थान भी झाड़ने के लिए तैयार हैं। वैसे तो प्रारंभ में, आवश्यकता के अनुसार डाक्टर जी ने भी संघस्थान स्वच्छ करने का काम अपने हाथों से किया। सभी कर सकते हैं, परंतु स्वतः को कृतकृत्य मानने लायक यह काम है क्या? प्रतिदिन शाखा में जाना तो अपने यहाँ एक 'न्यूनतम स्तर' के रूप में रखा है। 'न्यूनतम स्तर' न छोड़ते हुए अपने यथार्थ गुणों का उपयोग संघ के लिए करना है। शास्त्र में दो प्रकार के कार्य बताए गए हैं– एक नित्य कर्म और दूसरा नैमित्तिक कर्म। यदि कोई कहे कि मैं नैमित्तिक कर्म, जैसे– यज्ञ-याग, सत्यनारायण-पूजा आदि कर सकता हूँ और नित्य कर्म करने की आवश्यकता नहीं तो यह धारणा हानिकारक होगी। नैमित्तिक कर्म यद्यपि किए तो भी नित्य उपासना करनी ही पड़ती है। उसके उपरांत नैमत्तिक कर्म हो सकते हैं। नित्य उपासना को छोड़कर किए हुए नैमित्तिक कर्म केवल निरुपयोगी ही नहीं, तो हानिकारक भी सिद्ध हो सकते हैं।

कभी कोई मेरे पास आकर संघ के लिए ग्रंथ लिखने की इच्छा व्यक्त करता है। मैं उससे पूछता हूँ– 'शाखा में जाते हो क्या? यदि जाते नहीं तो आपका ग्रंथ लिखना निरुपयोगी है।' मेरे ऐसे कहने से लोग नाराज हो जाते हैं। लेकिन वास्तव में 'मिनिमम' नित्यकर्म को छोड़कर बाकी गुणों का ठीक उपयोग नहीं हो सकता। वक्तृत्व, लेखन-कला, अर्थशास्त्र का अभ्यास आदि सब गुणों का उपयोग अवश्य है। लेकिन 'मिनिमम' तो होना ही चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि 'मिनिमम' से हमें मुक्त कर दो, फिर देखो, हम कैसा पराक्रम करते हैं। ऐसा पूछनेवाले लोग भी मिलते हैं कि

गुणवान व्यक्तियों से अपने 'मिनिमम' का आग्रह करें या न करें। मेरे ख्याल से अवश्य करना चाहिए। इस 'मिनिमम' में तन-मन-धन लगता है; शरीर से शाखा में जाना, मन में कार्य का चिंतन करना और उसके विस्तार-प्रसार के लिए अंतःकरण से और समर्पण बुद्धि से धन का व्यय करना। इसके बाद भिन्न-भिन्न गुणवान लोग अपने गुणों का उपयोग समाज की भलाई के लिए कर सकते हैं। समग्र पवित्र भावनाओं का आवहान करके जिस समय हमने संकल्प प्रकट किया, उस समय से हमने स्वेच्छा से एक पवित्र बंधन में अपने को बाँध लिया है। कार्य का जो न्यूनतम, निरतिशय आवश्यक स्वरूप है उसका परिपूर्ण पालन करूँगा एवं समाज संगठित करने के लिए उसके दृढ़ आधार पर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपने भिन्न-भिन्न गुणों का उपयोग करूँगा, यह विचार हरेक स्वयंसेवक के मन में दृढ़ करना और उसको प्रोत्साहित करना आवश्यक है।

हमारे चारों ओर उत्पन्न होनेवाली सामयिक परिस्थिति के विचार से या चिंता से इस नित्यकर्म की ओर थोड़ा दुर्लक्ष हो सकता है, परंतु इस प्रकार दुर्लक्ष करने के लिए शास्त्र ने सम्मति नहीं दी है। शास्त्र ने कहा है कि नैमित्तिक त्यागने को प्रत्यवाय नहीं, परंतु नित्य को कभी त्यागना नहीं चाहिए। अपने समाज ने आत्मविस्मरण का, परस्पर-विच्छेद का, भाइयों के ही विनाश का जो महत्पाप किया है, उसका क्षालन इस नित्यकर्म से ही होगा। समय-समय पर परिस्थिति के अनुसार बाकी के जो काम्य कर्म हम करेंगे, उनके द्वारा पाप-क्षालन नहीं होगा, वह सुसंगठित जीवन उत्पन्न नहीं होगा। इस बात की उपेक्षा यदि हम करेंगे तो गत हजार वर्षों से जो समस्या हमारे सामने खड़ी है, वह वैसी ही रख छोड़ने का पाप हम कर बैठेंगे। यह काम अधूरा ही छोड़ दें, संगठन की परंपरा उत्पन्न न करें, समाज जागृत न करें, सामयिक झंझावत में सूखे पत्तों की भाँति उड़ जाएँ, यह सारा यदि अपने हाथों न हो, ऐसी इच्छा है तो नित्यकर्म के अडिग संस्कार दृढ़ करना और उनके विस्तार के लिए परिपूर्ण शक्ति लगाना अतीव आवश्यक है। शाखाएँ कितनी हैं, उपस्थिति कितनी रहती है, अनुशासन कैसा है आदि प्रश्न इसलिए पूछता हूँ कि नित्य की उपासना ठीक प्रकार से चलती या नहीं– इसका पता चले। यदि ठीक चलती है, तो अपना सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन श्रेष्ठ, पवित्र और शक्तिसंपन्न अवश्य ही होगा।

तात्कालिक प्रश्नों से मन में उथल-पुथल न होने दें

नित्यकर्म में सदैव संलग्न रहने के विचार की आवश्यकता का और भी एक कारण है। समय-समय पर देश में उत्पन्न परिस्थिति के कारण मन में कुछ उथल-पुथल होती रहती है। सन् १९४२ में ऐसी उथल-पुथल हुई थी। उसके पहले १९३०-३१ में भी आंदोलन हुआ था। उस समय कई लोग डाक्टर जी के पास गए थे। इस 'शिष्टमंडल' ने डाक्टर जी से अनुरोध किया कि इस आंदोलन से स्वातंत्र्य मिल जाएगा। ऐसे समय संघ को पीछे नहीं रहना चाहिए। उस समय एक सज्जन ने जब डाक्टर जी से कहा कि वे जेल जाने के लिए तैयार हैं, तो डाक्टर जी ने कहा 'जरूर जाओ। लेकिन पीछे आपके परिवार को कौन चलाएगा?' उस सज्जन ने बताया– 'दो साल तक केवल परिवार चलाने के लिए ही नहीं, आवश्यकतानुसार जुर्माना भरने की भी पर्याप्त व्यवस्था उन्होंने कर रखी है।' तब डाक्टर जी ने उनसे कहा– 'आपने पूरी व्यवस्था कर रखी है, तो अब दो साल के लिए संघ का ही कार्य करने के लिए निकलो।' घर जाने के बाद वह सज्जन न जेल गए, न संघ का कार्य करने के लिए बाहर निकले।

सन् १९४२ में भी अनेकों के मन में तीव्र आंदोलन था। उस समय भी संघ का नित्य कार्य चलता रहा। प्रत्यक्ष रूप से संघ ने कुछ न करने का संकल्प किया। परंतु संघ के स्वयंसेवकों के मन में उथल-पुथल चल ही रही थी। संघ अकर्मण्य लोगों की संस्था है, इनकी बातों में कुछ अर्थ नहीं, ऐसा केवल बाहर के लोगों ने ही नहीं, तो कई अपने स्वयंसेवकों ने भी कहा। वे बड़े रुष्ट भी हुए।

इसके बाद देश-भर में फिर से एक अस्थिर परिस्थिति लोग अनुभव करने लगे। मुसलमानों ने मारपीट और दंगा-फसाद शुरू कर दिया था। विभाजन के पूर्वरंग की कृष्णछाया फैलने लगी थी। उस संकट का दृढ़ता से मुकाबला करने का विचार अपने लोगों के मन में आया और फिर से कार्य विस्तार में वे जुट गए। परंतु तब तक काफी विलंब हो चुका था। जब नाक में पानी घुसने लगता है, तब तैरना सीखने का विचार मन में आने से क्या लाभ? पता नहीं, अपने समाज को क्या हो गया है। पता नहीं, प्यास लगने पर कुआँ खोदने का विचार करने की खराब आदत अपने समाज को कैसे लगी। उस समय भी लोग बोलने लगे कि संगठन होना चाहिए। परिणामस्वरूप पंजाब की संघ-शाखाओं में बहुत बाढ़ आई

थी। मुझे स्मरण है, मैंने उस समय भी कहा था कि पंडुरोग में रोगी मोटा हो जाता है, परंतु उसके स्थूल शरीर का बोझ मृत्यु का पूर्वचिह्न होता है। उसके मुख का गौरवर्ण वास्तव में विवर्ण रहता है। ऐसे पंडुरोगी के पुष्ट दिखनेवाले शरीर से महत्कार्य नहीं होता। उस समय हुआ भी नहीं। कुछ अल्प सा कार्य हुआ और संकट का यथाशक्ति प्रतिकार हुआ। उस संकट का कृष्णस्वरूप प्रत्यक्ष अनुभव करने से स्वयंसेवकों के और कार्यकर्ताओं के हृदय में उथल-पुथल सी हो गई। संघ का नित्य कार्य चलाना या न चलाना, यहाँ से लेकर अनेक बातों में विचारों के और भावनाओं के अंतःसंघर्ष तुमुल युद्ध के रूप में खड़े हो गए। उनसे छुटकारा पाकर हम कुछ विचार करने की स्थिति में आते न आते तो अपने स्वतंत्र और स्वाभिमानपूर्ण अस्तित्व के लिए अपने ही देशवायियों से संघर्ष में अपने को खड़ा रहना पड़ा। डेढ़-दो साल उसी संघर्ष में बीत गए।

संघर्षोत्तरकाल की समस्याएँ

लड़ाई, चाहे वह अहिंसात्मक और शांततामय क्यों न हो, पीछे बड़ी बुराईयाँ छोड़कर जाती है। गीता के पहले ही अध्याय में इन बुराईयों का वर्णन अर्जुन के मुँह से 'संकरो नरकायैव' आदि शब्दों में किया हुआ है। केवल अपने यहाँ ही नहीं तो दुनिया भर में ऐसा ही हुआ है। पहला महायुद्ध प्रत्यक्ष रूप से इंग्लैंड में लड़ा तो नहीं गया था, लेकिन युद्ध के बाद वहाँ की मजबूत समझी जानेवाली समाज-रचना तीन-चौथाई टूट गई। दूसरे महायुद्ध के बाद वह इतनी टूटी कि पहले जहाँ साधारण घर की लड़की भी चारित्र्यसंपन्न होती थी, वहाँ अच्छे-अच्छे घर की लडकियाँ भी चरित्रभ्रष्ट पाई जाने लगीं। अंग्रेज लेखकों ने समाज का काफी निरीक्षण करने के बाद ही इस बात का निर्देश किया है। उन्होंने जो 'इंसेस्ट' शब्द का प्रयोग किया है, उससे यह मतलब निकलता है कि बहुत अनीति फैली हुई है। संघर्ष के बुरे परिणाम हुआ ही करते हैं। सन् १९२०-२१ के आंदोलन के बाद लड़के उदंड होने लगे। यह नेताओं पर कीचड़ उछालने का प्रयास नहीं है, परंतु संघर्ष के बाद उत्पन्न होनेवाले ये अनिवार्य परिणाम हैं। बात इतनी ही है कि उन परिणामों को काबू में रखने के लिए हम ठीक व्यवस्था नहीं कर पाए। सन् १९४२ के बाद तो कानून का विचार करने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा प्रायः लोग सोचने लगे। यह आंदोलन विशेष रूप से बिहार में खूब चला। आज हम देखते है कि गाड़ियाँ रोकना,

जंजीर खींचना, बिना टिकट प्रवास करना आदि बातें वहाँ आम तौर पर चलती हैं। रेलगाड़ियाँ आदि तो जनता की संपत्ति हैं। इसलिए शायद उस संपत्ति का अपनी इच्छानुसार उपयोग करना जनता ने शुरू किया। यह सारी अव्यवस्था और विचित्र दिखनेवाली परिस्थिति संघर्ष के कारण ही निर्माण हुई है। संघर्षकाल में समाज-धारणा के नियमों का पालन करने के भाव टूट जाते हैं और परिणामस्वरूप ऐसी अवस्था निर्मित होती है। हमको सन् १९४६ से लगातार तीन-चार साल संघर्ष में रहना पड़ा। उसके कारण अपनी भी रचना कुछ गड़बड़ा गई। अनेकविध घोषणाएँ सामने आईं, अनेकविध विचार उत्पन्न हुए और नित्य कार्य का विस्मरण सा हो गया। इस परिस्थिति से हम पूर्णतया मुक्त नहीं हुए हैं और चीन के आक्रमण को लेकर लोगों के मन में फिर से उथल-पुथल शुरू हो गई। यदि आक्रमण हुआ तो क्या करेंगे, यह सवाल पूछा जाता है। विवेकी, विचारवान और सयंमशील कार्य के अंगभूत होते हुए भी हम अपने को ठीक मार्ग पर रख न पाए, यह कितने आश्चर्य की बात है। समाज के कार्य के लिए, जिन्हें अपने मार्ग पर पूर्णतः अडिग रहने की आवश्यकता है, वे ही डिग जाएँ, यह कार्य के लिए तथा अंततोगत्वा राष्ट्र के लिए अतीव हानिकारक सिद्ध होगा। केवल हानिकारक ही नहीं तो अतीव दुःखदायक भी।

नित्यकर्म में श्रद्धा से जुटें

शायद कोई मुझे कहेगा कि बढ़ती हुई उम्र के कारण नए-नए प्रयोग करने का तुम्हारा साहस टूट चुका है, तो यह आरोप मुझे मान्य हैं, परंतु सोच-विचार के बाद जो जँचता है, वह आपके सामने रखना आवश्यक ही है। अतः मुझे कहना पड़ता है कि नित्य कर्म के नाते जो कार्य ग्रहण किया है, उसमें अपना परिपूर्ण सामर्थ्य लगाना, अडिग श्रद्धा से वह करते रहना इतना यदि हमसे हुआ, तो फिर सब बातों का लाभ होगा। कोई कमी नहीं पड़ेगी। परंतु यदि इस मूल धारा की, अर्थात् अपने कार्य की अथवा राष्ट्र की नींव की ही उपेक्षा हमने की तो आनेवाली पीढ़ी अपना अभिनंदन नहीं करेगी। अतः अपने व्यक्त संकल्प के अनुसार कार्य का नितांत अनिवार्य स्वरूप विस्तीर्ण व परिपूर्ण करते हुए तथा धर्म, संस्कृति और समाज का उत्कट अभिमान हृदय में धारण करते हुए, उसके अनुसार अपने गुणों में और व्यवहार में परिवर्तन करते हुए, यदि हम कार्य करेंगे, तो अनेकविध संकटों से पार होने की तथा सुखपूर्ण राष्ट्रजीवन प्रस्थापित

करने की आशा और विश्वास अपने मन में निर्माण होगा, अन्यथा क्या होगा– यह आप सोच सकते हैं। कार्य के बारे में यह सब चिंता का विचार मन में आने का कारण यह है कि प्रवास में अनेक स्वयंसेवक मिलते हैं, जिनका अंतःकरण विचलित दिखाई देता है। फिर मन में विचार आता है कि अपने कुछ कार्यकर्ता अनवधान से ऐसा कुछ बोल तो नहीं बैठते, जिससे सिद्धांत हृदय से हिल जाएँ, ऐसा वायुमंडल निर्माण होता है। इसलिए व्यथित अंतःकरण से बातें आग्रहपूर्वक कहनी पड़ी हैं।

हमारा काम चिरकालिक है

कोई कहेगा कि यह काम कब पूर्ण होगा। पंद्रह वर्षों में विशिष्ट मर्यादा तक कार्य पहुँच जाएगा, ऐसी डाक्टर जी की अपेक्षा थी। संयोग से कार्य प्रारंभ से पंद्रह वर्ष के बाद ही उनकी मृत्यु हुई। आखिर-आखिर में उन्होंने कार्य की मर्यादा बताई और उसको पूर्ण करने के लिए तीन साल का समय दिया। उन्होंने बताया कि ग्रामीण क्षेत्र में जनसंख्या के अनुपात में एक प्रतिशत और नगरीय क्षेत्र में तीन प्रतिशत 'पूर्ण स्वयंसेवक' होने चाहिए। तरुण, विधिवत प्रतिज्ञाबद्ध, गणवेशधारी, कार्य को जाननेवाला, समझकर व्यवहार करनेवाला ऐसा स्वयंसेवक उनको अभिप्रेत था। लोग आज भी पूछते हैं, 'कार्य कहाँ तक बढ़ाएँगे? वैसे तो समूचा समाज ही हमारा क्षेत्र है। लेकिन कुछ विशेष मर्यादा बताई जाए।' हमारी बुद्धि मर्यादित होने के कारण समग्र समाज का विचार करना असहनीय-सा हो सकता है। तो छोटा सा दल बनाने की इच्छा भी निर्माण हो सकती है। दलबंदी बनाकर समाज को नियंत्रित करने का जो विदशों में कार्य चलता है, उसका हम पर भी असर हो सकता है। यह परिणाम होना नहीं चाहिए। कारण, यह हमारे राष्ट्रजीवन के वास्तव में विपरीत है। समग्र समाज को समेटकर उसको एक अंतःकरण से ध्येय की ओर ले जाने के लिए आदर्श कार्यकर्ताओं का समूह, इस दृष्टि से ही हम अपने कार्य की ओर देखते हैं। कार्य सफल होने के लिए कार्यकर्ताओं का यह समूह कितना बड़ा होना चाहिए, इसकी मर्यादा ही मानो उन्होंने निर्धारित की। फिर तीन वर्ष की ही मर्यादा क्यों दी? मैं ऐसा मानता हूँ कि डाक्टर जी को भविष्यदृष्टि थी। यदि उसी समय उनके कथन के अनुसार देशभर में प्रयत्न होता तो सन् १९४२ की उथल-पुथल में देश का भविष्य कुछ और ही बनता। लेकिन लोग समय का विचार नहीं करते।

योजना और लक्ष्य

अभी भी संकट की अवस्था है ही। और अपने सरकार्यवाह जी ने तीन वर्ष की मर्यादा फिर से दी है। इस नई योजना के अनुसार कार्य की कितनी प्रगति करनी होगी, इसका गणित आप कर सकते हैं, लेकिन प्रतिज्ञा में हमने कहा है यावज्जीव-आमरण संघ का कार्य करेंगे। खटाखट काम करके और संघ को नमस्कार करके घर का रास्ता पकड़ो, ऐसा विचार यहाँ नहीं है। यहाँ पलायन के लिए गुंजाइश नहीं है। कार्यकर्ताओं को सोचना चाहिए कि राष्ट्र की अवस्था को देखते हुए उसकी प्रबल स्थिति कितने दिनों में ला सकते हैं? उसके उपरांत कार्य चलाना है या नहीं? तात्कालिक लक्ष्यपूर्ति होते ही विचारों और आचरण का त्याग कर देने से चलेगा क्या? सत्य तो यह है कि कार्य अल्पकालिक नहीं और दीर्घकालिक भी नहीं, चिरकालिक है। संस्कार करने का यह महान यंत्र, वंश-परंपरा से चलाते जाना, आत्मविस्मरण न होने देना, इसलिए आज के युग के अनुरूप संस्कारों की रचना संघ के रूप में विद्यमान है। पूर्वकाल के यज्ञ-यागादि के संस्कार टूट गए हैं, अतः संघ द्वारा उन्हें इस प्रकार से चलाना है।

परिस्थिति-निरपेक्ष कार्य

यह ठीक प्रकार से समझें कि अपना कार्य सामयिक समस्याओं को हल करने के लिए नहीं है। हिंदूराष्ट्र को स्वतंत्र करने के बारे में जो उल्लेख प्रतिज्ञा में है, उस संबंध में डाक्टर जी कहते थे कि अंग्रेजों का यहाँ से चले जाना, यह स्वतंत्रता का मतलब नहीं है। अपनी विशुद्ध परंपरा उज्ज्वल होकर जब यहाँ खड़ी होगी और अपना स्वत्वपूर्ण जीवन यहाँ अकुतोभय विराजमान होते हुए सारा जगत् उसके सामने नम्र होगा, तब यथार्थ स्वतंत्रता प्राप्त होगी। ऐसा ही स्वतंत्रता का उल्लेख प्रतिज्ञा में है।

तात्कालिक लक्ष्य और नारे तो रोज भिन्न-भिन्न प्रकार से सामने आते रहेंगे। उनके साथ हम रोज अपनी पद्धति आदि बदलते रहें क्या? यदि बदलते रहें तो बदलते-बदलते आखिर अपना क्या हो जाएगा। स्थायी लक्ष्य का विचार कर तथा कार्य की चिरकालिकता पर ध्यान केंद्रित कर दत्तचित होकर आगे बढ़ना होगा। कार्य के विस्तार की दृष्टि से आचरण करने के लिए डाक्टर जी द्वारा बताई हुई मर्यादा तक कार्य का विस्तार करने का संकल्प कर हम चलें तो लाभ होगा। अपने सामने समय-समय पर जो समस्याएँ खड़ी होती हैं, उनका उत्तर भी इसी में है। अपना यह

हिंदू समाज संगठित, समर्थ, जागृत, शुद्धभाव से परिपूर्ण और वैभवशाली जीवन के पुनर्निर्माण की प्रखर इच्छा लेकर चलनेवाला है, ऐसा जब दिखेगा तो विच्छेद की अंतर्गत शक्तियाँ ढीली पड़ जाएँगी और बाहर का शत्रु हतप्रभ हो जाएगा। परंतु अपना संकल्प दृढ़ होना चाहिए, चित्त एकाग्र होना चाहिए। विचारों की उथल-पुथल में वह शांत और अडिग रहना चाहिए तथा संकल्प के अनुसार दृढ़ता से आचरण होना चाहिए। यदि ये सारी बातें होती हैं, तो सुखकारक दिन शीघ्र ही देख सकेंगे, अन्यथा गत हजार वर्षों में जैसे एक-एक आक्रामक आते रहे एवं तात्कालिक रूप से उनका प्रतिकार होता रहा, वैसा ही चलता रहेगा– इसका विचार करें।

६. स्वयंसेवक का अंतर्बाह्य जीवन

(१० मार्च १९६०)

धर्मप्राण राष्ट्र

प्राचीन काल से चलते आए अपने राष्ट्रजीवन पर यदि हम एक सरसरी नजर डालें तो हमें यह बोध होगा कि अपने समाज के धर्मप्रधान जीवन के कुछ संस्कार अनेक प्रकार की आपत्तियों के उपरांत भी अभी तक दिखाई देते हैं और जिसके पुनर्निर्माण की आकांक्षा अपने अंतःकरण में लेकर हम चलते हैं, जो सतत प्रवाहित और तेजस्वी रहा, वह इसलिए नहीं कि यहाँ पर समय-समय पर ऐसे वीर पुरुष उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपने पराक्रम से बड़े-बड़े राज्य स्थापित किए। इसका कुछ परिणाम अवश्य है, किंतु बहुत थोड़ा। अपितु इसलिए कि यहाँ धर्म-परिपालन करनेवाले, प्रत्यक्ष अपने जीवन में उसका आचरण करनेवाले तपस्वी, त्यागी एवं ज्ञानी व्यक्ति एक अखंड परंपरा के रूप में उत्पन्न होते आए हैं। उन्हीं के कारण अपने राष्ट्र की वास्तविक रक्षा हुई है और उन्हीं की प्रेरणा से राज्य-निर्माता भी उत्पन्न हुए हैं। अतः हम लोगों को समझना चाहिए कि लौकिक दृष्टि से समाज को समर्थ, सुप्रतिष्ठित, सद्धर्माधिष्ठित बनाने में तभी सफल हो सकेंगे, जब उस प्राचीन परंपरा को हम लोग युगानुकूल बना, फिर से पुनरुज्जीवित कर पाएँगे। युगानुकूल कहने का यह कारण है कि प्रत्येक युग में वह परंपरा उचित रूप धारण करके खड़ी हुई है। कभी केवल

गिरि-कंदराओं में, अरण्यों में रहनेवाले तपस्वी हुए तो कभी योगी निकले, कभी यज्ञ-यागादि के द्वारा और कभी भगवद्-भजन करनेवाले भक्तों और संतों के द्वारा यह परंपरा अपने यहाँ चली है।

परंपरा का युगानुकूल रूप

आज के इस युग में जिस परिस्थिति में हम रहते हैं, ऐसे एक-एक, दो-दो, इधर-उधर बिखरे, पुनीत जीवन का आदर्श रखनेवाले उत्पन्न होकर उनके द्वारा धर्म का ज्ञान, धर्म की प्रेरणा वितरित होने मात्र से काम नहीं होगा। आज के युग में तो राष्ट्र की रक्षा और पुनःस्थापना करने के लिए यह आवश्यक है कि धर्म के सभी प्रकार के सिद्धांतों को अंतःकरण में सुव्यवस्थित ढंग से ग्रहण करते हुए अपना ऐहिक जीवन पुनीत बनाकर चलनेवाले, और समाज को अपनी छत्र-छाया में लेकर चलने की क्षमता रखनेवाले असंख्य लोगों का सुव्यवस्थित और सुदृढ़ जीवन एक सच्चरित्र, पुनीत, धर्मश्रद्धा से परिपूरित शक्ति के रूप में प्रकट हो और वह शक्ति समाज में सर्वव्यापी बनकर खड़ी हो। यह आज के युग की आवश्यकता है। इस आवश्यकता को कौन पूर्ण करेगा?

एकै साधे-सब सधे

स्वामी विवेकानंद इत्यादि जो बड़े-बड़े समाज-नेता हुए, उन्होंने यह बताते हुए भी कि अपने समाज का अधिष्ठान धर्म है, बल के ऊपर पर्याप्त आग्रह रखा। अपने पुराने साहित्य में भी धर्म-सिद्धांतों के साथ बलोपासना की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। स्पष्ट है कि अपने राष्ट्र की एक धर्माधिष्ठित राज्य के रूप में अभिव्यक्ति सफल होने के लिए समाज में चरित्रसंपन्न व्यक्तियों द्वारा निर्मित एक पुनीत, शक्तिसंपन्न, सुसंगठित स्थिति की अनिवार्य आवश्यकता है। हमने यदि ध्यान दिया तो दिखेगा कि संघकार्य का निर्माण और संचालन इस पुनीत कर्तव्य की पूर्ति के ही विचार से होता है। राजनैतिक तथा अन्य ऐहिक क्षेत्रों में प्रत्यक्ष इस प्रेरणा को प्राप्त करके जो कुछ प्रयास चलते हैं, उनकी संपूर्ण सफलता अपनी इस परंपरा के सफल होने में निहित है। राष्ट्र का स्थायी चिरंजीव जीवन भी अपने इस कार्य की सफलता में निहित है।

तस्मिन्नेव करणीयम्

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्

(नारद भक्ति सूत्र ६५), अर्थात सब आचार भगवान को अर्पण कर चुकने पर यदि काम, क्रोध, अभिमानादि हों, तो उन्हें भी उस (भगवान) के प्रति ही अर्पित करना चाहिए।

इस प्रकार की परंपरा के निर्माणकर्ता के नाते हमें सदैव स्वतः की विशुद्धता का, राष्ट्रविषयक सद्भावना का, सेवाभाव का, सब प्रकार की कर्तव्यदक्षता का अत्यंत मनोयोग से ध्यान रखना चाहिए। इस व्यामोह से भरे जगत् में मनुष्य मात्र पर अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं, जब वह अपने विशुद्ध जीवन से च्युत हो जाता है। मिथ्याचरण के, अनीति के, आचरण के, प्रलोभन उत्पन्न करनेवाले, मन में स्वार्थ जगानेवाले, काम जगानेवाले, भिन्न-भिन्न प्रकार की एषणाओं को उत्पन्न करनेवाले प्रसंग पग-पग पर उपस्थित होते रहते हैं। अतः अत्यंत सतर्क रहकर, स्वतः को सुरक्षित रखने की आवश्यकता है। तभी प्राचीन परंपरा के पुनर्निर्माण की निश्चिति हो सकेगी।

मनुष्य में कीर्ति की, धन-संपत्ति की, सत्ता-प्राप्ति की लालसा उत्पन्न होती हैं, अभिमान उत्पन्न होता है। विषयों में रुचि होने के कारण लालसा भी उत्पन्न होती है। यह सब अत्यंत स्वाभाविक है। फिर आजकल तो वातावरण भी इनको बढ़ानेवाला ही बना हुआ है। संस्कृति के नाम पर चलनेवाले अनेकविध कार्य, जो वास्तव में विकृति के कार्य हैं, उपभोगप्रवणता को ही प्रोत्साहन देनेवाले हैं। प्रत्येक क्षेत्र में मोह निर्माण करनेवाली बातें दिखाई देती है। राजनीति के क्षेत्र में तो थोड़ा-सा, इधर-उधर किया कि चट नेतृत्व का आभास उत्पन्न हो जाता है। अनीति के मार्ग से थोड़े से परिश्रम से ही धनप्राप्ति की आशा हो जाती है। ऐसे ही, कहीं प्रतिष्ठा प्राप्ति की आशा होने लगती है। इन अनेकविध मोह के प्रसंगों से अपने को सुरक्षित कैसे रखें? यदि अपना ध्येय अपनी आँखों के सामने विशुद्ध रीति से, स्पष्ट रीति से सदैव विद्यमान है, यदि उसके लिए हमने अपने जीवन की सब इच्छाएँ, कामनाएँ समर्पित कर दी हैं, तब तो मैं समझता हूँ कि अपने ध्येयनिष्ठ जीवन के उस विशुद्ध प्रवाह में सब विकृतियाँ धुल जाती हैं और मन पवित्र हो जाता है। संतों ने कहा है कि भगवान की भक्ति करो, उसकी उपासना करो, एकाग्र चित्त से उसका गुणगान करते रहो तो हृदय के सब विकार दूर हो जाएँगे, विशुद्धता उत्पन्न होगी और किसी भी व्यग्रता या व्यामोह के उत्पन्न होने का भय नहीं रहेगा। हम इस राष्ट्रदेव की उपासना में लगे हैं। अतः अपना तन, मन, बुद्धि, वित्त तथा

और जो कुछ ईश्वर की कृपा से अपने को प्राप्त होता है, सब इसके लिए समर्पित है, इस प्रकार की विशुद्ध भावना को अपने अंतःकरण में हम लोग अच्छी प्रकार से निर्माण करें, उसका कभी विस्मरण न होने दें। नित्य ऐसे समानधर्मा व समान संस्कारवालों के संपर्क में रहकर विचारों के, भावनाओं के आदान-प्रदान के संपर्क से भक्ति निर्माण होगी। इस भक्ति को हम जागृत रखें तो हमें ऐसा अनुभव आएगा कि अपने में एक ऐसी शक्ति निर्माण होती है, जो किसी भी संकट में अपनी रक्षा कर सकेगी। कोई भी व्यामोह हमें विचलित न कर सकेगा, किसी भी प्रकार का अभिमान, अहंकार हमको व्यथा न देगा।

राष्ट्रदेव के चरणों में स्वयं को विलीन करने से अपना जीवन पुनीत हो जाऐगा। कहा है कि मन में जो भिन्न-भिन्न विकार होते हैं, उनको भी ईश्वरार्पित कर दो। हम यथायोग्य रीति से यह समर्पण करें, अर्थात् क्रोध उत्पन्न हो तो जिसके कारण राष्ट्रकार्य में बाधा आती हो, उसपर करें। मोहासक्त वृत्ति के कारण काम उत्पन्न हो तो वह इस श्रेष्ठ कार्य के संबंध में ही हो और किसी प्रकार का वैषयिक मोह अपने हृदय का स्पर्श न करे। ऐसा विवेक करके चलने से कुछ काल के बाद अपने को अनुभव आएगा कि प्राचीनकाल से चली आई पवित्र, धर्मपूर्ण परंपरा को आज की परिस्थिति में युगानुकूल खड़ा करने के लिए विशुद्ध भक्तिपरिपूरित अंतःकरण सब प्रकार से योग्य बन गया है।

यावज्जीव नित्योपासना

उपास्य, इस नाते अपने इस कार्य को देखा तो हमें लगेगा कि इसकी छोटी से छोटी बात भी उपेक्षणीय नहीं है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके प्रति हृदय में उदासीनता लेकर चल सकें। यह समझकर चलने की जरूरत नहीं कि हम बहुत बड़े कार्यकर्ता हैं, पंडित हैं। इस प्राचीन परंपरा में उत्पन्न होने के कारण अपने में अत्यावश्यक ऐसे सद्गुण उत्पन्न हो गए हैं और सब प्रकार की पात्रता आ गई है। अतः अब हमारे लिए इस दैनंदिन उपासना का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा है और अब उपदेश करने मात्र से ही हमारा कर्तव्य पूर्ण हो जाएगा। ऐसा विचार ही पतन का प्रारंभ है यह महापुरुषों ने बताया है। बड़े-बड़े साधु-तपस्वियों ने कहा है कि उपासना कभी नहीं छोड़नी चाहिए। उसको यावज्जीव करते रहना चाहिए, तभी उससे जो कुछ गुण-संपदा प्राप्त हुई होगी, वह दृढ़ रह सकेगी। बड़े

ज्ञानी भी नित्य स्वाध्याय करते रहते हैं और सिद्ध तपस्वी भी कभी अपनी तपस्या में व्यवधान नहीं आने देते। हमें भी अपनी उपासना जीवन भर चलानी चाहिए, नहीं तो किस समय अपने पर व्यामोह का आक्रमण हो जाएगा, यह कहना कठिन है।

अहंकार से बचें

कभी-कभी अपने को न ज्ञात होते हुए भी कार्य के लिए अत्यंत घातक ऐसा वैयक्तिक अहंकार मन में प्रवेश कर जाता है। अहंकार बहुत ही दुष्ट वस्तु है। अपने को अहंकार नहीं, इस बात का अहंकार हो जाता है। संत ज्ञानेश्वर ने कहा है कि 'यह अहंकार ऐसी विचित्र वस्तु है कि जो अज्ञानी हैं, उनके पीछे नहीं लगता, परंतु जो अपने को ज्ञानी मानता है, उसके कंधे पर चढ़कर बैठता है और उसे बड़े-बड़े संकटों में डाल देता है।' नवल अहंकाराची गोठी। विशेषें न लगे अज्ञाना पाठी। सज्ञानाचे झोंबे कंठी। नाना संकटी नाचवी'।। (ज्ञानेश्वरी १३ अ.८२)

एक बार अहंकार आया, कि सब दुर्गणों की सेना उसके साथ घुस आती है। वह कब आ बैठेगा, कह नहीं सकते। इस संबंध में कृतकृत्यता या खोटा आत्मविश्वास लेकर चलना अपनी आत्मवंचना करना है। अतएव इन सब विकारों से मुक्त होने व रहने के लिए हम सबको इस उपासना को अत्यंत एकाग्र चित्त से चलाने की आवश्यकता है। राष्ट्रोपासना के रूप में चलनेवाली शाखा का दिन-प्रतिदिन का आग्रह हम लोग इस दृष्टि से करते हैं।

निर्हेतुक राष्ट्रभक्ति

अपने हृदय के सारे अच्छे-अच्छे गुणों को भी हम इसी कार्य में लगाने का प्रयत्न करते हैं। हमारे यहाँ भगवद्भक्ति को साधन और साध्य दोनों ही माना है। नारद भक्ति-सूत्र में कहा गया हैं– 'स्वयं फलरूपता', अर्थात् भक्ति करते-करते ही भक्ति उत्पन्न होती है और दृढ़ होती है। भक्ति से ही हृदय में पावित्र्य और शुचिता उत्पन्न होती है तथा उसके प्रभाव से हृदय का सर्व अंधकार दूर होता है। यही अपने कार्य का आधार है तथा हमने यह निश्चय किया है कि अपने राष्ट्र की उपासना को ही जीवन का कर्तव्य बनाकर, लक्ष्य बनाकर चलेंगे।

भक्ति में से अधिकाधिक भक्तिरूप फल भी मिलेगा और जीवन भी

विशुद्ध बनेगा। इस विशुद्ध जीवन के आधार तथा उस विशुद्ध जीवन को पुष्ट करनेवाले अपने समाज-धर्म की सुव्यवस्थित एवं अनुशासित जीवन की रचना के आधार पर अपनी इच्छा, अपेक्षा के अनुकूल राष्ट्र में सब प्रकार का ऐहिक परिवर्तन भी ला सकने योग्य परंपरा से सुसंगत तथा युगानुकूल रचना करने की आवश्यकता पूर्ण हो सकेगी। अपने कार्य के संबंध में हमें इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए। केवल ऐहिक या भौतिक दृष्टि से विचार करना ठीक नहीं होगा। कोई योगाभ्यासी यदि अपने सम्मुख ऐहिक जीवन के सुखोपभोग का लक्ष्य रखकर साधना करे तो वह बेकार है। वह अपने पतन की ही व्यवस्था करेगा, अर्थात् वह अपने ही हाथ से अपने लिए गड्ढा खोदेगा। हमारा काम भी इस पुनीत परंपरा का अभिव्यक्त स्वरूप फिर से युगानुकूल बनाकर खड़ा करने का है। उसके प्रभाव में अपने राष्ट्र का पुनरुत्थान, ऐहिक पुनरुत्थान भी, अपने को देखने के लिए मिलेगा। उसको चिरस्थायी बनने का श्रेय भी मिलेगा। इसमें विकृति न आने देने का श्रेय भी मिलेगा।

जीवन को निर्दोष बनाएँ

इस दृष्टि से हमें अपने जीवन की ओर देखना चाहिए। अब हम बड़े कार्यकर्ता बन गए, इसलिए अपने व्यक्तिगत जीवन के सब पहलुओं को ठीक रखने की ओर ध्यान देने की अब आवश्यकता नहीं और अपने स्वयंसेवक भी उन बातों की ओर न देखें, ऐसा यदि कोई कहे, तो वह ठीक नहीं। लोग ऐसा कहते हैं कि बड़ों के गुण लें और अवगुण छोड़ दें। यह दूसरों की ओर देखने की दृष्टि से तो उचित है, परंतु अपनी स्वतः की दृष्टि से यह कहना ठीक नहीं है। लोगों को हमारे अवगुण नहीं देखना चाहिए, इसलिए हमें अवगुणपूर्ण व्यवहार करते रहने की छूट हो और फिर भी लोगों ने हमको बड़ा तो कहना ही चाहिए, सम्मान भी देना चाहिए, हमारे कहने के अनुसार चलना भी चाहिए- ये सब बातें जँचती नहीं। उचित तो यह है कि हम ठीक प्रकार से स्वतः की ओर देखें और प्रत्येक कृति अधिकाधिक मात्रा में निर्दोष होती रहे, इसका विचार करें। जो बहुत बड़े हो जाते हैं, उनके दोष भी उनकी शोभा बन जाते हैं। समुद्र-मंथन के समय निकले हुए हलाहल को भगवान शंकर ने पी लिया, जिससे उनके गौर शरीर पर गले में नीला दाग पड गया। इसीलिए लोग 'नीलकंठ' कहकर उनकी पूजा करते हैं। पर हममें तो ऐसे कोई नहीं जो अपने को इतना बड़ा समझें। हमें तो अपने छोटे-छोटे दोषों को भी दूर करना होगा। सब प्रकार

से शुद्ध एवं पवित्र जीवन व्यतीत करना होगा। यह तो ठीक है कि दूसरों से बोलते समय हम नम्रता के साथ अपनी त्रुटियों का उल्लेख करें, किंतु उन त्रुटियों को अपने अंदर आश्रय देकर उनके आधार पर अपना जीवन चलाने का विचार अनुचित है। हमें तो उन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करना ही चाहिए।

जिन लोगों ने अपने जीवन में अनेक प्रकार के भीषण संकटों में राष्ट्र का रक्षण करने की परंपरा को आबाधित चलाया, उन लोगों ने अत्यंत कठोर रीति से अपने सब दुर्गुणों का विनाश करके एक पुनीत, पवित्र जीवन का आविष्कार किया। उसी के बल पर हम जीवित रहे हैं। हमें भी इसी प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए। 'प्रयत्न करना चाहिए' यह शब्द-प्रयोग मैंने जानबूझकर किया है, क्योंकि कोई यह सोच सकता है कि हम तो मामूली आदमी हैं, हमसे यह सब कैसे होगा? किंतु यह सोचना गलत है। हाँ! हम कोई परिपूर्ण भगवान तो नहीं बन सकते, परंतु एक कदम आगे तो बढ़ सकते हैं। आधा कदम, कुछ थोड़ा ही क्यों न हो, आगे बढ़ सकते हैं और यदि अधिक कुछ नहीं, तो हमने कुछ किया– इसका संतोष तो प्राप्त हो सकेगा। अतः प्रयत्न कभी न छोड़ें। अपने कार्य की दृष्टि से, जीवन के उत्कर्ष की दृष्टि से, कर्तव्य की पूर्ति की दृष्टि से यही योग्य है। यदि हमारे अंदर कोई अवगुण है, तो उसे अवश्य दूर करना चाहिए। जितने बड़े-बड़े लोग हुए हैं, कोई पूर्व जन्म के पवित्र संस्कार लेकर आए हों, उनकी बात छोड़ दें, उनके बारे में यही कहा है 'हरेक ऋषि का अतीत है और प्रत्येक पापी को भविष्य है (एवरी सेंट हैज ए पास्ट एंड एवरी सिनर ए फ्युचर), अर्थात् ऐसा कोई ऋषि नहीं, जिसका पूर्व जीवन सदोष न हो। प्रयत्न से ही वे ऊँचे उठ सके। इसी प्रकार ऐसा कोई पतित नहीं, जो यदि प्रयत्न करे तो उज्ज्वल भविष्य का निर्माण न कर सके। अतः हमारे अंदर यदि कुछ न्यून है, तो उसको दूर करने का प्रयत्न करें। हमें अवश्य सफलता मिलेगी, कम से कम यशोन्मुख होकर तो हम चल ही सकेंगे, अपने दोषों के निराकरण का सफल उद्योग करने का समाधान तो प्राप्त कर सकेंगे। जिस प्राचीन, पुनीत परंपरा के अवयव हम बने हैं, उसके योग्य हम हो सकें, इस दृष्टि से हमें बारबार प्रयत्न करते रहना चाहिए।

जीवनव्यापी शुचिता

कुछ लोग कह सकते हैं कि हम तो दुनिया में रहते हैं, उस सबका परिणाम हमारे ऊपर होता है, अतएव हमें तो व्यावहारिक दृष्टि से ही

विचार करना चाहिए। ईश्वरभक्ति आदि जिन्हें करना है, वे सब उस क्षेत्र के अनुकूल विचार करें। कहना होगा कि यह विचार अपनी राष्ट्रचेतना के प्रतिकूल है। हमारे यहाँ तो व्यावहारिक जीवन के अंग-प्रत्यंग में पावित्र्य आदि गुणों का आह्वान भरा हुआ है। यही वर्णन मिलता है कि राज्यसत्ता चलानेवालों में इस प्रकार के गुण होने चाहिए और यदि वे इनसे संपन्न न हों तो जनता को उन्हें पदच्युत करने का अधिकार है। धनसत्ता का उपभोग करनेवाला, निर्माण करनेवाला यदि कृपण हो गया, उदार न रहा, दानी न रहा तो उसको चोर समझकर राजा ने दंड देना चाहिए। अपने श्रम से समाज का पोषण करनेवाला यदि अप्रामाणिक और उद्दंड हो गया तो वह भी दंड का भागी है। जो सबका ज्ञानदाता है, पावित्र्य इत्यादि आदर्शों को समाज के सामने रखने का जिस पर दायित्व है, वह यदि अपने लक्ष्य से च्युत हो गया, अभिमान करने लग गया, तो उसे चांडाल समझकर सबसे निकृष्ट स्थान पर बैठा देना चाहिए। इस प्रकार के स्पष्ट आदेश अपने यहाँ मिलते हैं, अर्थात् ऐहिक जीवन का प्रत्येक अंग अत्यंत पुनीत, पवित्र और शुचिर्भूत हो— इसी प्रकार की भावना हमारे मनीषियों की रही है।

हमें यह भी समझना चाहिए कि आध्यात्मिक जीवन के गुण कोई ऐसे नहीं, जो आकाश में पतंगों की तरह उड़ते रहें और जिनका व्यवहार से कोई संबंध न हो। सच तो यह है कि आध्यात्मिकता के रूप में जो कुछ बताया, वह रोज के व्यवहार के लिए है। जो आत्मज्ञान से पुनीत है, वह अपने चारों ओर के जीव-जगत् को, निर्जीव को भी अपने समान समझते हुए भी सबके सुख की कामना और उसके लिए प्रयत्न करता हुआ व्यवहार करे, ऐसा ही कहा है। अतः ज्ञानी की व्याख्या भी 'सर्वभूत हितेरताः'— इन शब्दों से की है। सबमें अपने आप को जो देखता नहीं, जो सबके सुख के लिए छटपटाता नहीं, प्रयत्नशील होता नहीं, कष्ट करता नहीं, वह ज्ञानी नहीं। हमने राष्ट्र की प्रकृति को इन सब गुणों से ओतप्रोत किया है। हमारे लिए यह सब व्यवहार 'शास्त्र' है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि ऐहिक जीवन में तथाकथित पारमार्थिक बातों का हस्तक्षेप न होने दें। यह अपनी दृष्टि से और राष्ट्र की दृष्टि से ठीक नहीं है।

हम केवल ऐहिक दृष्टि से विचार करके देखें। यदि एक-दूसरे के शब्द पर विश्वास न हो, तो दो मानवों का परस्पर व्यवहार चल नहीं सकेगा। इस विश्वास को ठीक प्रकार से निभाने के लिए, अपने मन में आनेवाले विचार, भावनाएँ और मुँह से निकलनेवाले शब्द तथा शरीर से

होनेवाली कृति, इन सबमें सामंजस्य रखकर ही एक-दूसरे के साथ व्यवहार करना पड़ता है। इसको ही सत्य बोलते हैं। सत्य भगवान का नाम है। संपूर्ण जगत् में वही अनुस्यूत है। व्यवहार में भी वह कितना आवश्यक है, यह हम रोज के जीवन में देख सकते हैं।

पारमार्थिक, अतः अव्यवहार्य ऐसा सोचना उचित नहीं। इसलिए हम लोग कहते हैं कि जितने सिद्धांतरूप श्रेष्ठ गुण अपने यहाँ बताए हैं, उन सबको अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में चरितार्थ कर, अपने इस राष्ट्र के लिए एक विशुद्ध, धर्मप्रवण, शुचिर्भूत एवं नित्य राष्ट्र सेवा में संलग्न ऐसी बृहत् समाजव्यापी शक्ति आज अपने को व्यवंहार में लाने का प्रयत्न करना है। इस हेतु अपने व्यक्तिगत जीवन को हम अधिकाधिक ध्यान देकर निर्माण करें। वास्तविक रीति से हम जितना समय भिन्न-भिन्न प्रकार की समाजरचना, आर्थिक रचना, राज्यरचना इत्यादि विषयों पर विचार करने में लगाते हैं, उसका आधा या चौथाई भी समय यदि हमने इस विशुद्ध चरित्र एवं विशुद्ध वायुमंडल तथा शुचितासंपन्न शक्ति के निर्माण में लगाया, तो मैं समझता हूँ कि ऐहिक जीवन के संकटों से जो चिंता हमें लग गई है, उससे मुक्त होने का तथा अपने राष्ट्र के वैभव के दिन देखने का अवसर हमें बहुत जल्दी प्राप्त होगा।

७. हमारा ईश्वरीय कार्य

(११-१२ मार्च १९६०)

यह हिंदूराष्ट्र ही है

मै समझता हूँ कि कार्य की मूल विचारधारा हमारे ध्यान में है और जिन सिद्धांतों की नींव पर संगठन का विशाल प्रासाद खड़ा करने का हमारा प्रयत्न है, वे भी हम सबको ज्ञात हैं। अपना विचार तो बहुत सरल है। यह भरतभूमि अपनी मातृभूमि है। इस माता का पुत्ररूप यह समाज है। एक माता के पुत्र होने के कारण यह एक परिवार है, इसकी यथार्थ अनुभूति लेकर हमें काम करना है। फिर इसका एक वैशिष्ट्य भरा जीवन है। ऐहिक जीवन में इसने 'राष्ट्र' पदवी प्राप्त की है, कारण यह है कि यहाँ परंपरा, आशा-आकांक्षा, हित-संबंध, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र भाव, इनकी

संपूर्ण एकता अति प्राचीन काल से विद्यमान है। इसलिए आत्मविश्वास और निर्भीकता से सबके सम्मुख खड़े होकर हम कहते हैं कि यह भारतीय राष्ट्र 'हिंदूराष्ट्र' है। इस सिद्धांत पर कोई समझौता, लेन-देन 'कंप्रोमाइज' नहीं हो सकता। जब तक पृथ्वी का अस्तित्व है और वह शून्य में विलीन नहीं हो जाती, तब तक भारतीय राष्ट्र यह हिंदू-राष्ट्र के नाते ही रहेगा और हम रखेंगे।

सीमाओं के संकोच का कारण

इस राष्ट्र का जीवन गत हजार-पंद्रह सौ वर्षों में उध्वस्त-सा दिखाई देता है। यह जीवन उध्वस्त क्यों हुआ? इस विषय में इतिहास कौन सा मार्गदर्शन करता है? इतिहास का असंदिग्ध मार्गदर्शन यह है कि हम अपनी मौलिक एकता के संस्कारों और श्रद्धाओं को भूल गए, वे अनुभव में आना बंद हो गए। अतः संपूर्ण समाज को एकसूत्र में बद्ध रखनेवाली जो चेतना है, वह व्यक्त होने से रुक गई, समाज छिन्न-विच्छिन्न, याने शक्तिशून्य हो गया। जगत् में यदि शक्ति न हो तो चलता नहीं। जिस समाज में शक्ति है, उसी का जीवन अबाधित रूप से चलता है। केवल हमारे उज्ज्वल भूतकाल या श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान की गाथाओं के आधार पर हमें समृद्ध, संपन्न और सम्मानित जीवन प्राप्त नहीं हो सकता। शक्ति जितनी अधिक होती है, जीवन भी उतना श्रेष्ठ बनता है। मुझसे एक ने पूछा था कि अपनी मातृभूमि की सीमा कौन-सी है? मैंने मुष्टि बताते हुए कहा कि जितनी यह मजबूत रहेगी, उतनी हमारी सीमाएँ रहेंगी। सीमा तो बाहुबल से निर्धारित होती है। अपना बाहुबल कम होने के कारण हम सीमाओं का संकोच रोक नहीं पाए। निर्बल अवस्था में, यह संकोच देखना और तड़फड़ाना– यदि भावना हो तो– ऐसी ही स्थिति रही है। जिनके मन में भावना होती ही नहीं, वे तड़फड़ाते भी नहीं। वे शून्य दृष्टि से मुर्दे की तरह देखते हुए अपने स्वार्थ में मग्न रहते हैं। मनुष्य में भाव-भावना रहती है। इसलिए अपने किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु होने पर वह दुःखी होता है, उसे खाना-पीना तक सूझता नहीं। पशुओं में से यदि कोई मर गया तो वे उसको सूँघकर, वह मर गया– ऐसा निश्चय करके, पास ही चरने लगते हैं। उसकी उन्हें कोई चिंता नहीं रहती। यह शून्य दृष्टि और पशुभाव आज चारों ओर दिखाई देता है। इसका कारण यही है कि गत १५०० वर्ष में सामर्थ्य का अभाव अत्यधिक मात्रा में हुआ है, अनुशासन टूट गया है और उसने

अवनति के मार्ग खोल दिए हैं। यही सीख इतिहास देता है। इसलिए हम अपने लुप्त संस्कारों को पुनः जागृत करें, उनको शुद्ध और दृढ़ बनाएँ, उनके कारण जो एकात्मभाव उदित होता है, उसको कार्यक्षम बनाएँ और अपनी उत्कृष्ट भावनाओं के साथ समाज को कर्मशील बनने के लिए अनुशासित करें, याने सरल शब्दों में कहना हो तो हम समाज को संगठित करें। अपना भाव व्यक्त करने के लिए 'समाज-संगठन' यह छोटा सा शब्द ही पर्याप्त है। जैसे, गीता तो काफी सरल है, परंतु उसकी टीका, भाष्य समझना कभी-कभी कठिन हो जाता है, वैसे ही डाक्टर जी के शब्द तो अति सरल थे, परंतु कई बार उनकी व्याख्या समझना कठिन मालूम हो सकता है।

ध्येयानुकूल कार्यपद्धति

इतिहास का यह निष्कर्ष समझकर हम समाज-संगठन का काम करें। संगठन के नाम से चलनेवाले अनेक कार्य चारों ओर दिखाई देते हैं। वे सब कार्य खुद को 'ऑर्गनाइजेशन' कहते हैं। कुछ नियमबद्ध जीवन चलाने की इच्छा से अपनी-अपनी व्यवस्थाएँ भी बनाते हैं परंतु कार्य की वे सब पद्धतियाँ हमने त्याज्य समझीं। कारण, विशुद्ध संस्कारों को प्रस्थापित करने का लक्ष्य उनके सामने नहीं है। सामयिक परिस्थिति को सामने रखकर आंदोलन, विक्षोभ तथा विध्वंस की प्रवृत्ति जगाने का कार्य वे करते रहते हैं। इस प्रकार का कार्य करने में कोई कठिनाई नहीं होती। अपने यहाँ तो प्रारंभिक कक्षा से शुरू करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। यदि प्रारंभ से काम करना है, तो कार्य की पद्धति उसके अनुकूल होना आवश्यक है। नियमित रूप से आवाहन और स्मरण करने से ही संस्कार उत्पन्न होते हैं और पक्के भी होते हैं। इसीलिए दिन-प्रतिदिन नियमपूर्वक कार्य करना आवश्यक है। इसी दृष्टि से शाखाएँ बनीं। संघनिर्माता को अन्य आंदोलन आदि के विषय में अज्ञान नहीं था। वे क्रांतिवादी रहे थे। सार्वजनिक काम उन्होंने किए थे। इतना ही नहीं तो, आंदोलन न करते हुए भी उसका आभास कैसे निर्माण करना तथा उसमें से ईप्सित परिणाम कैसे निकालना— यह भी वे जानते थे। उन दिनों जब कोलकाता के नेशनल मेडिकल कॉलेज की परीक्षा को यूनिवर्सिटी की मान्यता नहीं थी और वहाँ के विद्यार्थी परीक्षा के उपरांत व्यवसाय नहीं कर सकते थे, तब उस कॉलेज की परीक्षा को मान्यता दिलाने के लिए डाक्टर जी ने आंदोलन किया था।

इस आंदोलन के सिलसिले में हुई अनेक सभाओं की लंबी-लंबी रिपोर्ट वृत्त-पत्रों में नित्य छपती थीं। गवर्नर ने पुलिस कमिश्नर को आज्ञा दी कि यह आंदोलन बंद कराओ। बेचारे पुलिस दल ने सारे कोलकाता में खोज की, लेकिन सभाओं का पता उनको कहीं मिला नहीं। अखबारों में रिपोर्ट तो आती ही रही। गवर्नर बड़े चिंतित हुए। यूनिवर्सिटी के उपकुलपति श्री आशुतोष मुखर्जी यह सारी रिपोर्ट साथ में लेते हुए गवर्नर से मिलने के लिए गए। उन्होंने बताया कि बंगाल क्षुब्ध हो गया है, लोगों को शांत करो, नहीं तो 'दे विल टर्न देमसेल्व्ज इन टू द कल्ट ऑफ बॉम्ब' (वे स्वयं को 'बम-संस्कृति' में बदल देंगे) इसके बाद गवर्नर ने न चाहते हुए भी कालेज को मान्यता देने की सम्मति दी। इसका अर्थ यही है कि शून्य में से भी आंदोलन कैसे खड़े करना- यह डाक्टर जी जानते थे। यह सब जानने और करने के बाद भी उन्होंने अपने लिए समाज-संगठन का यह कार्य निर्माण किया। मैं समझता हूँ कि बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने इस कार्य को खड़ा किया।

संस्कारों का प्रभाव

संस्कार निर्माण करने के लिए ही हमारा यह काम है। इस दृष्टि से सोचें कि हमने अभी तक कितना काम किया है। कितना संस्कार पाया है। मुझसे एक बार एक सज्जन ने कहा था कि संस्कार आदि करना बेकार है, वह केवल आत्मवंचना है। किसी भी आक्षेप को मैं बहुत जल्दी मान लेता हूँ। आज भी यहाँ बैठे हुए लोगों को लगता होगा कि ३०-३५ वर्षों में हमने क्या काम किया। स्थिति मन को समाधान देने योग्य नहीं है। हमने बहुत कुछ किया- ऐसा दंभ भी हममें नहीं चाहिए। परंतु वस्तुस्थिति क्या है? हमारे इस कार्य में से क्या किसी को कुछ संस्कार मिले ही नहीं? ऐसा कहने का साहस तो संघ का विरोधी भी नहीं करेगा। विरोधी लोग तो उल्टा ही कहते हैं। वे बोलते हैं कि संघ में छोटे-छोटे बच्चों के भी दिमाग में कई बातें ठूँस-ठूँस कर भरी जाती हैं। स्वयंसेवकों ने दिए हुए उत्तर स्वाभाविकतः समान क्यों निकलते हैं? इसका कारण यह है कि व्यक्ति संघ में आए, उनपर एक से संस्कार हुए, उनमें परिवर्तन हुआ और सूत्रबद्धता उत्पन्न हुई। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि यह सब संस्कारों का वास्तविक कार्य है।

कार्यपद्धति का पालन करने की आवश्यकता

लोगों को संस्कारित करने का यह कार्य अपनी अपेक्षा के अनुसार नहीं हुआ– यह बात ठीक है, लेकिन इसलिए अपने कार्य की रचना और पद्धति सदोष हैं, ऐसा विचार करना अनुचित होगा। यदि पद्धति ठीक प्रकार से उपयोग में नहीं लाई तो दोष पद्धति का न होकर उपयोग करनेवालों का होता है। हमको समझना चाहिए कि संस्कार अगर कम हैं तो दोष अपने में, संगठन को चलानेवालों में देखना चाहिए। अपने ही कार्य करने में त्रुटि होगी। संस्कारों की ओर हम ठीक प्रकार से ध्यान नहीं देते होंगे। शाखा में केवल दक्ष-आरम् किया और हो-हल्ला मचाया तो कार्य कर लिया– ऐसा संभ्रम हमको हो गया होगा। या ऐसे भी विचार दिमाग में चक्कर काटते होंगे कि जैसे विभिन्न राजनैतिक पक्षों के अपने-अपने स्वयंसेवक दल होते हैं, वैसे ही यह एक दल है, जिसका आगे चलकर उपयोग करनेवाला कोई पक्ष याने स्वामी मिलेगा और उस मौके पर काम आने के लिए ही यह भीड़ इकट्ठी की जा रही है। इस प्रकार से संघ के यथार्थ स्वरूप से मेल न खानेवाली अनेकविध बातें हमारे मन में आती होंगी और उचित संस्कारों के निर्माण का कार्य रुक जाता होगा। यदि इस बात का विचार करें तो दिखेगा कि त्रुटि हमारे व्यवहार में और समझने में ही है। यही कारण है कि परिपुष्ट संस्कार हमारी अपेक्षा के अनुसार नहीं होते। फिर भी यह तो स्पष्ट ही दिखाई देता है कि इस सारे त्रुटिपूर्ण व्यवहार के बाद भी ऐसे अनेक संस्कारित व्यक्ति मिलते हैं जो राष्ट्रभावना जगाते हैं और स्वतः के जीवन की आवश्यकताओं को काटकर अधिकाधिक कार्य करने की प्रेरणा लेकर चलते हैं। ऐसे अनेक पढ़े और अपढ़ लोग देश-भर में दिखाई देंगे, जिनमें एकात्मता की कर्मशील प्रेरणा है और जिनके अंतःकरण पर राष्ट्रभक्ति का संस्कार बहुत बड़ी मात्रा में विद्यमान हैं, परंतु लोगों को संस्कारित करने का यह कार्य अधिक गतिमान, तेजस्वी और परिणामकारक बनाना होगा। यही अपने लिए सही विचार है।

हमारी मूलभूत प्रेरणा

फिर अपने राष्ट्र के वैशिष्ट्य का विचार सामने रखने का भी प्रयत्न मैंने किया और उसके आधार पर स्मरण दिलाया है कि हमारे वैभवशाली राष्ट्रजीवन की मूलभूत प्रेरणा कौन-सी है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में सत्य के आविष्कार का अनुभव कराना तथा अखिल सृष्टि में

एकात्मता का दर्शन कराते हुए मानव को सुख-शांति का अनुभव देना, इनमें ही वास्तविक मनुष्य-जीवन की सार्थकता है, यही वह प्रेरणा है। यह कार्य हमें अखिल जगत् में प्रसृत करना है। हमारे पूर्वजों की यही प्रतिज्ञा रही है कि जगत् के द्विपाद को सच्चा मानव बनाएँगे। उसकी पशुता की बलि देकर उसमें मानवता उत्पन्न करेंगे, वह योग्य रीति से अपनी मानवता का आविष्कार कर सके– ऐसी गुण-संपदा, पावित्र्य शुचिता एवं अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान समग्र मानव-समाज में उद्दीपित तथा जागृत करेंगे। अपने राष्ट्रजीवन का प्रारंभ से यही उद्घोष रहा है। आज के अपने नेता कभी-कभी मत-मतांतर होते हुए भी सबमें स्नेह और बंधुभाव होना चाहिए, ऐसा सिद्धांत बोलते हैं। इसका कारण यही है कि संयोगवश इस हिंदू-राष्ट्र की परंपरा में उनका जन्म हुआ है। वे भले ही इस परंपरा से मुँह मोड़ लें, इससे संबंध नहीं है– ऐसा कहें, परंतु समस्त जगत् को एक स्नेह-सूत्र में गूँथकर यथार्थ मानवता का आविष्कार करने का मूल संकल्प, इस राष्ट्रजीवन की परंपरा के कारण, विस्मृत संस्कारों को भेदकर कभी-कभी उनकी आकांक्षाओं में और विचारों में व्यक्त हो ही जाता है। विश्वबंधुता व विशालता की ये सब बातें आज की विशिष्ट परिस्थिति में पराभूत मनोवृत्ति के कारण ही उनके मुँह से निकलती हैं, ऐसा कहा जाता है और वह ठीक भी है। इस दृष्टि से 'पंचशील इज बॉर्न इन सिन एंड डिफीटिस्ट मेंटेलिटी' (पंचशील पापजन्य और पराभूत मानसिकता की संतान है)– ऐसा जो एक नेता ने कहा है, उसमें अतिशयोक्ति नहीं है, परंतु पराभव का भाव होने पर भी अन्य किसी निकृष्ट विचार के स्थान पर जगत् का ही जो विचार हमारे नेताओं के मन में आता है, इसका कारण यही है कि प्राचीन हिंदू संस्कृति की चेतना मानो इनको ठोकर मारकर कहती है– 'जागतिक एकता की बात बोलो' और वह बोलने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से यह समझने की आवश्यकता है कि इस जगत् में अपना एक बहुत बड़ा कार्य है। अपना यह प्राचीन राष्ट्र है और इसका जीवन जगत् का नेतृत्व करने के लिए है। परंतु हम यह विचार करें कि यदि हम अपने यहाँ का जीवन ठीक नहीं कर सकते, अपने आपको पहचान नहीं सकते, जगत् का अज्ञान दूर करने के संकल्प पर तुले हुए हम यदि अपने आपको भूल बैठते हैं, तो अपना 'जागतिक लक्ष्य' कैसे पूरा कर सकेंगे।

ज्ञानशक्ति के साथ क्रियाशक्ति भी

इस दायित्व को हम कैसे निभाएँगे? विचार करने पर हमें दिखाई देगा कि भगवान के इस संकेत का पालन करने के लिए तथा विश्व को अपना संदेश पूर्णरूपेण देने के लिए समृद्ध, शक्तिसंपन्न, विशुद्ध राष्ट्रजीवन यहाँ पर प्रस्थापित करना पड़ेगा। बिना शक्तिसंपन्न हुए वह कार्य होगा नहीं। अपने यहाँ के साधु-संत और विद्वान पुरुष विदेश जाते हैं, धर्म-संस्कृति का विचार बताते हैं। उनका प्रभाव भी अवश्य पड़ता है, परंतु दुनिया में उद्दंड प्रवृत्ति के भी लोग होते हैं, जो केवल समझाने-बुझाने से उनके हित की बात भी मानते नहीं। प्रकृति की इस विभिन्नता के कारण कई बार समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। तब एक ही प्रकार की उपाय-योजना से काम नहीं चलता।

श्री रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि वैद्य तीन प्रकार के होते हैं। एक, रोगी को देखता है, उसको समझाता है कि तुम्हारा स्वास्थ्य खराब है कुछ पथ्य, दवापानी करो तो फिर ठीक हो जाओगे- ऐसा कहकर अपने काम-धाम को चला जाता है। रोगी उद्दंडता से दवा नहीं लेता और अच्छा नहीं होता। श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा है कि यह सबसे छोटी श्रेणी का वैद्य है। दूसरा, मध्यम श्रेणी का वैद्य इससे कुछ अधिक चिंता करते हुए रोगी को औषधि-सेवन के लिए प्रवृत्त करने की चेष्टा करता है। तीसरा, उत्तम वैद्य उन्मत्त या हठी रोगी को खटिया पर लिटाकर, उसकी छाती पर घुटना रखकर, नाक दबाकर रोगी का मुँह खोलकर दवा ठूँस देता है और बोलता है कि 'तू कैसे ठीक नहीं होता है मैं देखता हूँ। मैं तुझे ठीक करके ही रहूँगा।' नित्य के अनुभव में आनेवाला उदाहरण यदि हम लें, तो हमें यह मालूम है कि उद्दंड लड़कों को पढ़ाना हो तो 'दशवर्षाणि ताडयेत्' इस नीति का अवलंब करना चाहिए। अंग्रेजी में भी कहावत है- 'स्पेयर द रॉड एंड स्पॉयल द चाइल्ड।' परंतु कोई दंड तो हाथ में रहे और वह हाथ से फिसलने न पाए।

हम दोनों हाथों से अमृत देने को तैयार है, परंतु कोई लेता नहीं, तो क्या हम हताश और हतबल होकर बैठे रहेंगे? नहीं, उसे लेने को बाध्य करेंगे। क्योंकि वह उनकी भलाई के लिए ही है। किंतु हम यह समझकर चलें कि भिन्न-भिन्न भौतिकवादी समूह जिस प्रकार अपना एक ही विचार सब प्रकृति के लोगों में ठूँसकर भरते हुए उनका दिमाग खराब करने की

चेष्टा करते हैं, उस प्रकार करने की कल्पना हमारी नहीं है; बल्कि प्रत्येक समाज को उसकी प्रकृति के अनुसार ही उन्नति, उत्कर्ष आदि की प्रेरणा देते हुए उसपर अंतिम सत्य और सद्गुणों का सत्संस्कार ठीक प्रकार से करना चाहिए– यह हमारी दृढ़ धारणा है। परंतु इसके लिए प्रभुत्वसंपन्न, शक्तिसंपन्न, सद्गुणों से और सद्भावों से भरा हुआ, पारलौकिक ज्ञान एवं ऐहिक वैभव से युक्त राष्ट्रजीवन पहले अपने घर में तो हम निर्माण करें। उसके लिए अनादि परंपरा के संस्कारों से भरे हुए अनुशासनबद्ध सामर्थ्य का आविष्कार करने का प्रयत्न किसी भी परिस्थिति में न ऊबते हुए, न थकते हुए और विचलित न होते हुए, दिन-प्रतिदिन अविराम करते रहने की आवश्यकता स्पष्ट है। इसीलिए शाखा के बारे में अनेकों प्रश्न सदा पूछे जाते हैं। शाखा में से संस्कारों का निर्माण करते हुए उसमें से स्वराष्ट्र का उत्कृष्ट अभिमान और सूत्रबद्ध सामर्थ्य की अभिव्यक्ति कितनी मात्रा में होती है, यही जानने की इच्छा रहती है।

बलं उपास्व

और भी एक विचार करना है। अपने को जगत् में अपना दायित्व निभाना है, परंतु वह कठिन भी है। पूर्वकाल में महाबलसंपन्न, शस्त्रास्त्रसंपन्न और सत्तासंपन्न रावण के नाममात्र से देव-देवता काँपते थे। उसके पुत्र भी वैसे ही बलाढ्य थे। उस समय चारों ओर अत्याचार होते थे, धर्म उध्वस्त हो गया था। कहीं भी कोई आशा की किरण दिखाई नहीं देती थी। मानो मनुष्य, मनुष्य को चूसकर खा लेगा– ऐसी भीषण परिस्थिति सर्वदूर दिखाई देती थी। उस समय लोगों के मन में उत्पन्न हुई भावनाओं तथा विचारों की कल्पना हम कर सकते हैं, परंतु उस हाहाकार के समय किसी प्रकार विचलित न होते हुए, कृत-निश्चय होकर अनेकों मनीषी, विचारक और तपस्वियों ने गिरि-कंदराओं में आश्रम प्रस्थापित किए और संस्कार कहीं सर्वथा भ्रष्ट न हों और समाज के पुनरुत्थान का आधार बना रहे, इस हेतु महान आयोजन करने में वे जुट गए। स्वतंत्र और स्वाधीन जीवन की प्रेरणा देने का अनेकों प्रकार से प्रयत्न वे करते रहे। अनेकों बार आश्रम उध्वस्त किए जाते तथा तपस्वियों का भक्षण कर राक्षसों द्वारा उनकी हड्डियों के ढेर चारों ओर लगा दिए जाते थे। इस आतंकमय परिस्थिति का बहुत सारा वर्णन पढ़ने को मिलता है। राक्षसवृत्ति और अपने यहाँ की दैवी-संपद् का लंबा संघर्ष कितने वर्ष चलता रहा, भगवान ही जानें! परंतु यह स्पष्ट

दिखाई देता है कि संघर्षकाल में कई वर्ष तो अतीव शांति से केवल विशुद्ध संस्कारों की जागृति और सामर्थ्य की निर्मिति का ही काम चलता रहा। उस समय महाराजा जनक सरीखे बड़े-बड़े लोगों ने शस्त्र मानो डाल दिए थे। उन्होंने देखा कि समय अनुकूल नहीं है। अपना अल्प सामर्थ्य महाप्रतापी राक्षसों के सामने खड़ा करने से समाज का संरक्षण तो होगा नहीं, अपना अस्तित्व ही नष्ट हो जाएगा। इसलिए संयम और शांति से वे काम करते रहे। अंततोगत्वा ऋषियों द्वारा की गई जागृति के कारण बहुत लंबी कालावधि के बाद प्रभु रामचंद्रजी का जन्म हुआ और उन्होंने शत्रु का विनाश किया। एक सत्वगुणसंपन्न धर्माधिष्ठित शक्ति की स्थापना हुई और सुखसमृद्धिसंपन्न जीवन निर्माण हुआ, यह हम इतिहास में देखते हैं।

मुझे अनेक बार लगता है कि संसार में जो दुष्ट शक्तियाँ आती रहीं, उनका वास्तविक शमन भारत ने ही अपने पवित्र जीवन और बल से किया है। सबको त्रस्त करनेवाले शक-हूणादिकों को सच्चे अर्थ से इसी भूमि में पराभूत होना पड़ा। यूरोप और अफ्रीका में उद्दंडता से फैलनेवाले इस्लाम की शक्ति को सच्ची ठोकर इसी भूमि में लगी। दुष्ट प्रवृत्ति के जो कार्य चलते हैं, उन सब की कब्र बाँधने का और उनके विनाश के उपरांत धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करने का एवं आसुरी शक्तियों को दबाते हुए सारे जगत् में सुखसमृद्धि और मानवता की प्रस्थापना कर जगत् का रक्षण करने का, श्रेष्ठतम और पवित्रमय कार्य भारत-भू के लिए ही भगवान ने नियुक्त किया है। यही हमारी नियति है। आज जगत् में जितने भी भौतिक, याने केवल जड़वादी कार्य चलते हैं, उनकी कब्र यहीं बनेगी, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं। मैं बिल्कुल निश्चित हूँ। लेकिन इसके लिए बहुत कष्ट सहना पड़ेगा, बहुत मूल्य चुकाना पड़ेगा। परंतु उन्हें यहाँ पर दफनाकर श्रेष्ठ मानव जीवन की निर्मिति करके ही हम लोग रहेंगे।

दुर्बल समाज की विचित्र मनोदशा

कभी-कभी लोग बड़े ही चिंतातुर होकर बोलते हैं कि चीन का आक्रमण बढ़ रहा है। यह तो मैं भी बोलता हूँ। इसलिए लोगों ने मुझे 'लुनॅटिक' भी कहा है। मुझे किसी ने 'पागल' कहा तो उसे मैं अपना बड़ा सम्मान समझता हूँ। डाक्टर जी को भी 'पागल' कहा गया था। हमें पागल कहनेवालों को हमारा आह्वान है कि आप भी थोड़े पागल बनो। मन में जो दिव्योन्माद होता है, उसकी अभिव्यक्ति के बिना जीवन सफल नहीं

होता। पावित्र्य और श्रेष्ठ आदर्श को लेकर उन्माद जब उमड़ पड़ता है, तब बड़े कार्य होते हैं। उसके बिना लक्ष्य प्राप्त नहीं होता और जीवन भी सफल नहीं होता। चीन आदि के विषय में मैंने कुछ कहा था, वह मैंने जानकारी के आधार पर ही कहा था। अब तो सब लोग उस संकट की बात बोलते हैं। संकट की स्थिति और कठिन होना संभव है, ऐसा भी कहते हैं, परंतु लोग आनेवाली परिस्थिति से समरस होने के लिए कितनी जल्दी तैयार हो जाते हैं, यह भी देखने को मिलता है। इसका एक उदाहरण देता हूँ। इंग्लैंड की रानी विक्टोरिया का शासन जब यहाँ शुरू हुआ, तब कुछ लोग खुद को 'एडजस्ट' करते हुए कहने लगे कि इस रानी का नाम भविष्यपुराण में भी मिलता है। भगवान के आशीर्वाद से ही रानी का राज्य आया है, ऐसा कुछ बड़े-बड़े लोग भी बोलते थे। सन् १९४७ में अपने सिंध इत्यादि प्रांत हम लोगों ने गँवाए। उसके चार-पाँच दिन पूर्व ही मैं सिंध में था। वहाँ के अच्छे-अच्छे वकील, डाक्टर, दुनिया भर में व्यापार करनेवाले लोगों आदि से परामर्श चल रहा था। उनमें से एक सज्जन कहने लगे– 'नाऊ वी हैव बिकम पाकिस्तानी नेशनल्स, व्हाट वी हैव टु डू विथ युअर कंट्री' (अब हम पाकिस्तानी राष्ट्रीय बन गए हैं। हमारा आपके देश से क्या वास्ता?)– यह उद्‌गार सुनकर मैं कितना दंग रह गया, इसकी आप कल्पना कर सकते हैं। अब चीन आया, तो फिर लोग भविष्यपुराण देखने बैठे। एक सज्जन कहने लगे कि कलियुग में यहाँ पीतवंश के लोगों का आक्रमण होगा, ऐसा उस पुराण में लिखा है। तुरंत मैंने कहा कि भविष्यपुराण में लिखी हुई यह बात बिल्कुल सत्य है, लेकिन उसमें और एक बात भी लिखी है कि उनका विनाश हमारे द्वारा ही होगा। शायद मेरा भी नाम उसमें आपको मिलेगा।

प्रक्षुब्ध वातावरण में भी चित्त अविचल रहे

लोगों की इस प्रवृत्ति को समझते हुए दृढ़तापूर्वक प्रयत्नों की आवश्यकता है। आक्रमण की स्थिति से चिंतातुर और व्यथित नहीं होना चाहिए। देश में प्रचार द्वारा जोश निर्माण करके और लोगों में विक्षुब्ध भावना फैलाकर, इस आक्रमण को रोक सकेंगे– यह बात बिल्कुल मिथ्या है। आक्रमण को रोकने के संबंध में एक-दूसरे से संलग्न ऐसे दो विचार हैं। एक, अपने राष्ट्र के लक्ष्य की अंतःकरण में स्वाभिमानयुक्त जागृति और दूसरा, उसकी पूर्ति के लिए संस्कारयुक्त प्रचंड शक्ति प्रस्थापित करेंगे ही, यह भाव। इसके बिना अन्य मार्ग नहीं। बाकी सब मार्ग शक्ति को

तितर-बितर करनेवाले हैं। क्षोभ, आंदोलन आदि के मार्ग से संकट का मुकाबला किया और मानो संकट तात्कालिक रूप से रुक भी गया, तो भी उस कारण जीवनपरंपरा विश्रृंखल हो जाएगी, राष्ट्रजीवन का कुछ स्मरण नहीं रहेगा और वैसी छिन्न-विच्छिन्न अवस्था में नए आक्रमणों की आशंका बनी रहेगी। अतएव यह स्पष्ट है कि अपना जो मार्ग है, उसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग वास्तव में है ही नहीं।

यह विश्वास लेकर चलें कि नियति के कारण आक्रमण आया तो अपनी नियति के ही कारण उसको भंग करके जगत्, जो महान भौतिक, याने दानवी आक्रमण के नीचे दबा पड़ा है, को मुक्त करने का ईश्वरीय आदेश हमको है। यह कार्य हम नित्य करते आए हैं और जिस-जिस समय अधर्म का प्राबल्य हुआ, तब-तब हमने ही उसका नाश कर धर्म का अभ्युत्थान किया। अब भी जगत् का अस्तित्व जब तक विद्यमान है, तब-तक यह कार्य करते रहेंगे। उसमें कष्ट सहना पड़े, मानो सर्वस्व नष्ट हो गया है- ऐसे प्रसंग का अनुभव करना पड़े, तो भी उसमें से उठकर ज्वाला के बीच से एक बार फिर खड़े होकर जगत् में अपना निर्धारित श्रेष्ठ कर्तव्य पूरा करके ही रहेंगे।

शाखा विस्तार का प्रयोजन

इसलिए प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष में क्या करें? मैं कहूँगा कि शाखाओं को चलाओ, जरा अच्छी चलाओ, उनका विस्तार करो और दृढ़तापूर्वक यह काम करो, हड़बड़ाहट मत करो। अपनी भावना, मन और बुद्धि अस्थिर होते हुए दौड़धूप करने से लाभ नहीं होता। आप निश्चित रूप से समझें कि आनेवाली सब प्रकार की परिस्थिति में शाखा ही संभाव्य संकटों का सबसे बड़ा उत्तर है। शाखा में उत्पन्न संस्कार और अभिव्यक्त संगठित शक्ति ही सब प्रकार के संकट झेलने की क्षमता निर्माण करेगी। अतः हम इस काम को करें। जितना शीघ्र हो सकता है, उतना शीघ्र करें। आज की परिस्थिति में हम शाखा अच्छी प्रकार चला सकते हैं, उसको दृढ़ करने के संस्कार भी कर सकते हैं, परंतु परिस्थिति तो कहकर बदलती नहीं। जैसे जगत् में बीस साल के पहले जो युद्ध हुआ, उससे हमारे कार्यक्रम में बाधा निर्माण हो गई। लोग बोलते हैं कि और दो साल बाद दूसरा युद्ध होनेवाला है। युद्ध हो गया तो फिर से विपरीत परिस्थिति निर्माण होने की संभावना है। उसके पूर्व हमको अपने कार्य का देशव्यापी

ढाँचा बनाकर रखना चाहिए कि केवल एक जगह सोकर, एक-दूसरे को देखकर संगठन करने की पात्रता हमें आ सके। डाक्टर जी कहते थे कि यदि हम अन्य कोई कार्यक्रम नहीं कर सकते तो केवल एक जगह सोकर भी हमारा कार्य चल सकता है। विपरीत परिस्थिति में भी कार्य करना, संगठित शक्ति कायम रखना, लोगों को संघ में प्रविष्ट कर उनको संस्कारित करना– यह काम चलता ही रहेगा, ऐसी अवस्था निर्माण करनी है। अपने सब व्यवहारों में से संघ प्रकट होता है। इसके कारण सब काम करते हुए भी संघ ही चलाएँगे– ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है। शाखा के द्वारा द्रुतगति से अपने कार्य का प्रसार कर, गुणसंपन्न व्यक्तियों का निर्माण करते हुए एक संगठित शक्ति को अति शीघ्र बना लेना चाहिए। आनेवाले दिनों में हमारी परीक्षा हो ही जाएगी। इस परीक्षा में हमें सफल होना है।

इसलिए दौर्बल्य न आने देते हुए हड़बड़ाए बिना, हो-हल्ला न मचाते हुए तथा अपनी पद्धति का पालन करते हुए अति शीघ्र, दृढ़ एवं विस्तृत कार्य हमें खड़ा करना चाहिए। शाखाओं में दृढ़शक्ति भरते हुए हमें ऐसी अवस्था निर्माण करनी है कि यदि किसी परिस्थितिवशात् हम अपने कार्यक्रमों का कम-अधिक मात्रा में उपयोग न कर सके, तो भी संगठन बढ़ता ही रहेगा और हमारे सब व्यवहारों में से हम समाज में शक्ति भरने और संस्कारों को जागृत करने का कार्य करते ही रहेंगे। इस प्रकार के संभाव्य संकट का निरसन करने की सफल योजना बनाते रहेंगे। यह सारी अवस्था तब आ सकती है, जब हम अनुशासन के पवित्र संस्कार करनेवाली और संगठित शक्ति जगानेवाली अपनी शाखा का कार्य अडिग विश्वास के साथ करते रहेंगे। इस विश्वास से काम करनेवाले असंख्य लोग कंधे से कंधा मिलाकर और सूत्रबद्ध अनुशासन के साथ खड़े करने के लिए हमें अपनी सारी शक्ति लगानी पड़ेगी।

क्रोध से शक्ति-क्षय

आज की परिस्थिति से उत्तेजित तथा क्षुब्ध होते हुए उद्दंडता करने की और राज्यकर्ताओं को भयभीत करने के लिए बल का प्रयोग कर उथल-पुथल मचाने की इच्छा मन में होना अस्वाभाविक नहीं है। विद्यमान परिस्थिति व खासकर अपने शासनकर्ताओं का व्यवहार व नीति लोगों में एक प्रकार का संताप उत्पन्न करनेवाली ही है। चीन और पाकिस्तान के आक्रमणों के विषय में भी राज्यकर्ताओं की वही दुर्बल नीति दिखाई देती

है। दबाव में आकर अपनी भूमि का दान करते हुए वे देश की सीमाएँ संकुचित करते जा रहे हैं। चीन का दबाव आया तो पाकिस्तान को खुश करने के लिए उसको कुछ दे दिया और पाकिस्तान का दबाव आया तो चीन को कुछ दे दिया। दोनों ओर दो शत्रु खाने को बैठे हैं। वे सोचते हैं कि अच्छा है कि एक के भोंकने से दूसरे का लाभ हो जाता है और दूसरे के भोंकने से पहले को कुछ मिल जाता है। इस प्रकार से शत्रु को खुश करने के लिए देश को नष्ट करते जा रहे हैं। यह देखकर लोगों के मन में विचार आता है कि अब क्या होगा। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने कहा है कि आज की सरकार जब तक है, तब तक चीन जितना-जितना हिस्सा लेकर आगे बढ़ता जाएगा, उतना-उतना उसे दान करके, शांतिदूत कहलानेवाले हमारे नेता कन्याकुमारी तक पीछे हटते जाएँगे। मुझे लगता है कि शायद समुद्र में कूदकर मछली के पेट में से भी ये घोषणा करेंगे कि हम युद्ध नहीं करेंगे, हम शांतिदूत ही बने रहेंगे। ऐसी अवस्था में लोगों को क्षोभ होना स्वाभाविक ही है, होना ही चाहिए। यदि नहीं होगा तो वे मुर्दा हैं। परंतु क्षोभ होना अलग बात है और उससे वशीभूत होकर विचलित और असंतुलित होते हुए कार्य करना अलग बात है। यदि क्रोधवश काम करते हैं तो हमारी आधी से ज्यादा शक्ति क्रोध ही खा जाता है। दो प्रतिपक्षियों में से एक क्रुद्ध और क्षुब्ध है तथा दूसरा शांतचित्त से सामना करने के लिए खड़ा होता है तो जय किसको मिलेगी, यह बताने के लिए बड़ी बुद्धिमत्ता की आवश्यकता नहीं है। जो शांत रहता है, उसकी ही जय होगी।

जैन ग्रंथों में एक बड़ा रोचक तथा उद्‌बोधक किस्सा आता है। एक बार श्रीकृष्ण, बलराम और सात्यकी घूमने के लिए गए हुए थे। घूमते-घूमते रात हो जाने के कारण जंगल में एक पेड़ के नीचे आराम करने के लिए रुक गए। उन्होंने आपस में तय किया कि प्रत्येक दो घंटे तक पहरा दे। सबसे पहले सात्यकी पहरा देते हुए जागता रहा। उस समय एक ब्रह्मराक्षस पेड़ पर से नीचे उतरा और कहने लगा– 'मैं तुझे खा जाऊँगा'। सात्यकी को बड़ा क्रोध आया और वह उस ब्रह्मराक्षस के साथ लड़ने लगा। लड़ते समय जैसे-जैसे सात्यकी का क्रोध बढ़ता गया वैसे-वैसे वह ब्रह्मराक्षस अधिक विशालकाय बनता गया। सात्यकी ने लड़ते-लड़ते जैसे-तैसे दो घंटे काटकर संकेत के अनुसार बलराम को जगा दिया। बलराम के उठते ही ब्रह्मराक्षस गायब हो गया। सात्यकी के सोते ही वह फिर प्रकट होकर बलराम से उसी प्रकार कहने लगा। बलराम को अपनी शक्ति पर बड़ा गर्व

था। उसने विक्षुब्ध होकर राक्षस का मुकाबला किया। परंतु सात्यकी जैसा ही अनुभव उसको भी आया। अंत में श्रीकृष्ण की बारी आई। वह ब्रह्मराक्षस जब श्रीकृष्ण के सामने खड़ा होकर उनको ललकारने लगा, तब श्रीकृष्ण दूर ले जाकर बड़ी शांति और प्रेम के साथ उससे बात करने लगे। दो घंटे तक इसी प्रकार वे उस राक्षस के साथ बड़ी शांति से गप्पें मारते, खेलते, मजाक करते रहे। परिणामस्वरूप वह राक्षस छोटा-छोटा बनता गया और आखिर श्रीकृष्ण ने उसको अपने उत्तरीय में एक कीड़े के समान बाँधकर रख लिया।

इस किस्से का बोध यही है कि जिसके मन में शांति होती है, वह अपने संपूर्ण सामर्थ्य का उपयोग कर शत्रु का क्षय करता है। हमको भी अपने मन की शांति निश्चल रखकर दृढ़ता से कार्य करना चाहिए। इस व्यवहार से प्रतिपक्षी को आधा आहत करने की आवश्यकता है। हमने अपनी बुद्धि का संतुलन रखा, हृदय शांत रखा और अपनी कार्यपद्धति में दृढ़ श्रद्धा रखते हुए शाखाओं की प्रस्थापना का कार्य तन, मन, धन लगाकर करने का प्रयत्न किया तो सब परिस्थिति में समाज का संगठित बल खड़ाकर, आनेवाले संकटों को परास्त करने का विश्वास हम समाज को दे सकते हैं।

केवल दूसरों के दोष बताने से या उनको गाली देने से काम नहीं बनेगा। स्वराष्ट्रभक्ति के जागरण तथा सामर्थ्य की योग्य उपासना के द्वारा ही संकटों का निराकरण होगा। आक्रमणकारी, तत्त्वज्ञान या उसकी शास्त्रशुद्धता के भरोसे पर नहीं चलते। कम्युनिस्टों के विचारों में जो 'विसंगति' और 'अंतर्विरोध' है, वह हमारी समझ में आते हैं और उनकी समझ में नहीं आते– ऐसा तो नहीं मान सकते। परंतु उनका विश्वास शक्ति पर है। अपनी शक्ति से ही वे जगत् को आहत करना चाहते हैं। आज ख्रुश्चेव सारे जगत् में घूमता है और जगत् की उन्नति की तथा पिछड़े देशों के विकास के लिए मदद देने की बड़ी-बड़ी बातें करता है, परंतु साथ-साथ अपनी शक्ति का प्रदर्शन भी करता है और अपनी बातें यदि कोई न मानता हो, तो उसका विध्वंस करने की धमकी भी देता है। इन धमकियों से उसका यथार्थ रूप प्रकट हो जाता है। जगत् में प्रभाव निर्माण करने का यह जो प्रयत्न है, उसके पहले रूस ने परिश्रमपूर्वक सामर्थ्य को एकत्रित कर रखा है। स्टैलिन कहीं गया नहीं था। उसने शक्ति और संगठन की ही सामग्री जुटाने का प्रयत्न किया। उसके बल पर ही ख्रुश्चेव सब दूर डींगें मार रहा

है और जगत् को धमका रहा है। सामर्थ्य तो शांति और धीरज से ही जुटाना पड़ता है। व्यथित और विचलित होकर काम बनता नहीं।

धैर्यपूर्वक चलें

यहाँ एक बात मुझे याद आती है। पिछले महायुद्ध के समय जर्मनी की बम-वर्षा से हाउस ऑफ कॉमन्स का भवन उध्वस्त हो गया था। विध्वंस के ढेर पर खड़े होकर चर्चिल बात कर रहा है, ऐसा एक चित्र छपा था। उस भाषण में चर्चिल ने बताया– 'मैं रोना रोने के लिए यहाँ नहीं आया। मुझे और परिश्रम चाहिए, रक्त चाहिए, बलिदान चाहिए। उसकी माँग करने के लिए यहाँ आया हूँ, आखिर विजय तो अपनी ही होनेवाली है।' विध्वंस के उस खंडहर पर खड़े होकर वृद्धावस्था में भी उसने यह बात कही। हम तरुण होते हुए भी हड़बड़ाकर इधर-उधर दौड़-धूप करते हैं, तो हम बूढ़े से भी बूढ़े हो गए क्या? हमें चाहिए कि हम अपने कर्मपथ को ठीक प्रकार से समझकर उसका अवलंबन करते हुए राष्ट्र की सुप्त चैतन्य शक्ति को जागृत करें। आज, असंगठितता दूर कर अतिशीघ्र एक अतिप्रबल राष्ट्र के नाते हम लोग खड़े हो सकें, ऐसा प्रयत्न करने की आवश्यकता है। केवल बातों से, गाली देने से या अन्य लोगों के वैचारिक भ्रम व विसंगति के दिग्दर्शन से काम बनेगा नहीं। लोगों को वह समझेगा भी नहीं। वे कहेंगे कि कम्युनिष्ट 'तत्त्वज्ञान' गलत रहे या कैसा भी रहे, लेकिन आज उसका साम्राज्य तो जगत् में है ना? शक्ति, वैभव आदि को देखते हुए त्रुटियाँ लोगों की दृष्टि से ओझल हो जाती हैं। सारांश यह है कि संकटों का वास्तविक निराकरण समाज में अपने सामर्थ्य का आत्मविश्वास जागृत करने से ही होगा, अन्य किसी बात से नहीं। यदि हम चारों ओर एक सुसंगठित, हृष्ट-पुष्ट सामर्थ्य खड़ा करेंगे, तो व्यक्ति-व्यक्ति को अनुभव होगा कि हमारा परिपुष्ट राष्ट्र खड़ा हो रहा है, जिसमें शक्ति और चैतन्य है। इस अनुभव में से अपनी ओर आने की स्वाभाविक प्रेरणा उनमें जागृत होगी। आज की परिस्थिति का यही एकमात्र उत्तर है, दूसरा नहीं। इसको ध्यान में रखते हुए यदि हम अपना संपूर्ण चित्त अपने लक्ष्य, विचारधारा, पद्धति, संस्कार आदि पर केंद्रित करते हुए प्रांत-प्रांत में, जिले-जिले में कार्य का विस्तार कर सकेंगे तथा पर्याप्त मात्रा में कार्यकर्ता कार्य-क्षेत्र में खड़े कर पाएँगे तो थोड़े ही समय में चारों ओर दिख रही संकट की छाया के निराकरण के लिए पर्याप्त मात्रा में प्रदीप्त शक्ति निर्माण करने में हम सफल

होंगे। हमारे राष्ट्र का और संसार का चिरकालिक भला करने का श्रेय हमको प्राप्त होगा। वह श्रेय हमको ही प्राप्त होनेवाला है, और किसी को नहीं, इसके बारे में मुझे कोई संदेह नहीं है।

ॐ ॐ ॐ

८. आह्वान

(१३ मार्च १९६०)

पिछले नौ दिनों से यहाँ पर बैठक का कार्यक्रम चल रहा है, जो अब पूर्ण हो जाएगा। इस बैठक के साथ आज और कल– दो दिन प्रतिनिधि सभा की वार्षिक बैठक होगी। गत दिनों में विभिन्न प्रकार से संघकार्य के स्वरूप का विवरण करने का मैंने प्रयास किया है। इस सबसे यदि हम सब लोगों को साकल्य से संघकार्य का विचार करने के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणा मिली हो तथा उसके फलस्वरूप यदि हम अपने-अपने अनुभवसिद्ध ज्ञान के कारण संघ का समग्र आविष्कार अपने हृदय में और अपने संपर्क में आनेवाले बंधुओं के हृदय में उत्पन्न करने हेतु प्रस्तुत हो गए हों, तो मैं समझूँगा कि, यह कार्यक्रम सफल रहा।

सभी क्षेत्रों के कार्य संघ के लिए पोषक हों

यहाँ अपने प्रमुख कार्यकर्ता उपस्थित हैं। इनमें अनेक ऐसे स्वयंसेवक हैं, जो दैनंदिन शाखा के अपने कार्य में महत्त्वपूर्ण एवं अधिकारी के नाते काम करते रहे हैं, किंतु आज अन्यान्य क्षेत्रों में काम कर रहे हैं। उनके इन क्षेत्रों में काम करने के कारण हमें अपने दिन-प्रतिदिन के कार्य में कुछ न्यूनता का अनुभव अवश्य होता है। वे संघ के कार्य में सफल रहे और इसी कारण आज उन-उन क्षेत्रों में हैं, यदि मैं ऐसा कहूँ तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि संघ के कार्य का इन विविध कार्यों से ऐसा ही संबंध है, जैसा श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान ने अपना संबंध चराचर सृष्टि से बताया है। उन्होंने कहा है कि सब भूतों में मैं हूँ और मुझमें वे हैं, किंतु मैं उनमें नहीं और वे मुझमें नहीं, ऐसा यह मेरा योग का ऐश्वर्य है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।
(गीता : अध्याय ९)

समझने के लिए यह जरा जटिल बात है। इसी प्रकार अपना भी संबंध इन कार्यों से है कि इनमें से हम किसी में नहीं और वे हमारे में नहीं।

इस आधार पर हमारी उनसे क्या अपेक्षा है? संघ के कार्य, सिद्धांत, अनुशासन, सुव्यवस्था, ध्येयवाद आदि श्रेष्ठ भावों की इन विभिन्न क्षेत्रों में अभिव्यक्ति होती रहे, ऐसी अपनी अपेक्षा है। हम स्वयंसेवकों से यही कहते रहते हैं कि वे जिस किसी भी कार्य में रहे, वहाँ जीवन में संघ का आदर्श प्रस्थापित कर, क्षेत्र को संघ के कार्य के लिए भर्ती का क्षेत्र 'रिक्रुटिंग ग्राउंड' बनाएँ। कुछ अंशों में कहा जा सकता है कि अपने ये कार्यकर्ता इस दृष्टि से प्रयत्नशील हैं। विचार एवं चारित्र्य के वायुमंडल को अच्छा बनाने का संकल्प लेकर हम चलते हैं। हमारे ये कार्यकर्ता इसी प्रकार प्रयोग कर रहे हैं। उन्हें कुछ सफलता मिली है और मैं समझता हूँ कि जिस प्रकार प्रयोग कर रहे हैं, उसी प्रकार चलते रहें तो आज चाहे गति मंद दिखती हो, पर वह दिन दूर नहीं, जब देश के वायुमंडल में एक वैचारिक आघात कर उसको अपने राष्ट्र के अनुकूल बनाने के प्रयत्न में वे सफल होंगे।

किंतु हमें यह विचार करना होगा कि जीवन के सर्व अंगों पर अपने सिद्धांत का प्रभाव प्रस्थापित करने की अपने अंतःकरण की इच्छा को पूर्ण करने के लिए, हमें प्रत्यक्ष दिन-प्रतिदिन चलनेवाले कार्य को बलसंपन्न करना चाहिए। जो-जो कार्य अपने को दिया है, उसे अपनी शक्ति-बुद्धि को अधिकाधिक मात्रा में उपयोग में लाकर कर सकते हैं। वह अपने दिन-प्रतिदिन चलनेवाले कार्य की दृष्टि से, जो स्वरूप अपने सामने है, उस स्वरूप को विस्तृत और परिपुष्ट करने के लिए हमें कार्य करना चाहिए।

संघकार्य ही जीवन का प्रथम दायित्व

कितनी मात्रा में मनुष्य ने अपना शक्तिसर्वस्व लगाना आवश्यक है, यह तो यहाँ पर कहना कठिन है। आप लोग यह कह सकते हैं कि हमारे परिवार हैं, बाल-बच्चे हैं या हो सकते हैं। हमारे सामने और भी काम हैं, अतः हम शक्तिसर्वस्व कैसे लगाएँ? मैं इतना ही कहूँगा कि हमारे सम्मुख जो कार्य की योजना सरकार्यवाहजी ने रखी है, उसकी दृष्टि से हम अपने

जीवन की योजना बनाएँ। इसमें हम संघकार्य को कितना समय और शक्ति दें, इसका विचार करना चाहिए। सर्वसाधारण नियम है कि जो अत्यंत प्रिय और आवश्यक मूल्यवान वस्तु हमको लेनी होती है, उसके लिए जो कुछ मूल्य देना होता है, उसको हम प्राथमिकता देते हैं। फिर बचे हुए धन में से अपनी बाकी आवश्यकता की वस्तुओं का क्रय करते हैं। अपने सामने जीवन की सर्वशक्ति लगाकर, अपना तन-मन-धन सब कुछ लगाकर जिस लक्ष्य को प्राप्त करने का संकल्प हमने किया है, वह संघ का कार्य है। उसके लिए अपनी शक्ति, बुद्धि, अपना समय और अपने पास भगवान ने जो-जो दिया है, वह लगाने की अपनी सिद्धता होनी चाहिए।

नौजवान चाहिए

हरियाणा में एक संघगीत गाया जाता था, जिसमें कहा गया था- 'आजादी के जंग में बड़े-बड़े सामान चाहिए। तन भी, मन भी, धन भी और नौजवान चाहिए।' बड़े सीधे शब्दों में यह भाव व्यक्त किया गया है कि हमें तन, मन, धन के साथ-साथ यौवन से भरा हुआ, अर्थात् यौवन की उमंग और सामर्थ्य से भरा हुआ जीवन इस कार्य के लिए चाहिए। चूसा हुआ जीवन इसके लिए काम नहीं आएगा। निराश व नीरस जीवन इसके काम नहीं आएगा। कोई कहेगा कि सब कुछ कर लेने के बाद, जीवन की सब उमंग और उत्साह समाप्त होने के बाद निर्वीर्य, निस्तेज और नीरस बचा जीवन संघ को समर्पण कर दूँगा, तो यह बात जँचती नहीं। यह सिद्धांत-प्रतिकूल है। हमें तो यही समझकर चलना होगा कि हमारे जीवन पर सर्वप्रथम अधिकार संघ का है। यह विचार कर ही हम जीवन की रचना करें।

असामान्य परिस्थिति में साधारण जीवन नहीं चलेगा

ऐसा भी समय आता है, जब समाज का संपूर्ण जीवनक्रम साधारण रीति से चलता है और उसपर कोई आपत्ति नहीं दिखती। उस समय यह इच्छा हो सकती है कि हम भी साधारण, व्यावहारिक जीवन में अधिक रुचि लें। कुछ ऐहिक सुख का अनुभव करें, इसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। क्योंकि सामान्य रूप से ऐहिक जीवन को भोगते हुए समाज को सुस्थिति में रखने का प्रयत्न करते हुए मनुष्य चल सकता है, किंतु कभी समय आ जाता है और उसकी माँग होती है कि इस प्रकार नहीं चलेगा। अपनी ओर देखें तो ऐसा लगेगा कि मानो संकटों और संकटों का निवारण

करनेवाली शक्ति में होड़ लगी है कि कौन आगे बढ़ता है। ऐसे समय हमें जीवन की शक्ति कार्य के लिए विशेष रूप से लगानी पड़ेगी। परिवार में भी देखने को मिलता है कि यदि विवाह आदि आ गया या कोई बीमार पड़ गया तो घर की व्यवस्था और बहुत दिनों से बनाई हुई जीवन-रचना में भी परिवर्तन करना पड़ता है। जीवन का क्रम बदल जाता है। आराम के घंटे कम हो जाते हैं। खाने-पीने की भी सुध नहीं रहती। निद्रा, विश्रांति, उद्योग-धंधे आदि सबका विचार छोड़कर जो प्रसंग उपस्थित है, उसी का विचार होता है।

हमारी आज की स्थिति सामान्य नहीं है, बल्कि असामान्य रूप से खतरनाक है, ऐसा सबको ही दिखता होगा। कुछ लोगों के मन में इस स्थिति में उत्तेजना के कारण ऐसा भी लगने लगा है कि क्या अपने स्थायी कार्य में परिवर्तन करने की आवश्यकता है? हमें संकटों का ध्यान है, उसका ज्ञान भी है, परंतु यह समझते हैं या नहीं कि यह जो संकट है, वह सर्वभक्षक स्वरूप का है। प्राचीनकाल में जैसे मामूली राजनीतिक उथलपुथल हो जाती थी और शेष धर्म, संस्कृति तथा समाज का जीवन वैसा का वैसा ही चलता रहता था, वैसा अभी का संकट नहीं है। राजा बदलने से धर्म के अंदर कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। संस्कृति और परंपरा में अपने जीवन को चरितार्थ करने के जो साधन हैं, उनमें भी अपनी इच्छा के प्रतिकूल कोई परिवर्तन नहीं होता था। पर अब वैसी बात नहीं रही।

नए संकट का सर्वभक्षी स्वरूप

अब इतने सब अनुभवों से परिपक्व होकर, सब प्रकार की उद्दंडता और दुष्टता का साररूप एक नवीन आक्रमण आया है। उसने धर्म के सिद्धांत छोड़ दिए हैं। अतएव जो थोड़ा-बहुत संकोच हो सकता था, वह भी चला गया है। केवल भौतिकता के आधार पर जगत् का नवनिर्माण करके उसके समग्र जीवन को तहस-नहस करके अखिल मानव को एक विशिष्ट विचार को लेकर चलनेवाले गुट के अधीन, दास के रूप में रखने की अत्यंत कठोर ऐसी प्रवृत्ति लेकर चलनेवाला, एक वाद प्रसृत होकर, अपनी छाया जगत् के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों पर फैलाते-फैलाते अब अपने देश की सीमा में आ गया है। पहले देश के अंदर इधर-उधर उड़ते उसके कुछ थोड़े बादल दिखते थे। अब प्रभंजन की शक्ति से चारों ओर की काली घटाएँ अपनी सीमा में प्रवेश कर इन उड़ते बादलों को अपने अंदर

समाविष्ट कर, समस्त देश को तमाच्छादित करने के प्रयास में हैं, ऐसा अपने को दिखता है।

संपूर्ण जीवनादर्श संकट में......

मैं समझता हूँ कि यदि यह शक्ति आई तो अपने जीवन का आमूलाग्र विनाश हो जाएगा। अपने जितने जीवनादर्श है, वे नष्ट होकर जीवन एक अत्यंत भीषण और कभी न समाप्त होनेवाली दासता में बँध जाएगा। यह शक्ति अपनी सीमा में घुसी हुई दिखाई दे रही है। अब हम क्या करें, यह प्रश्न सबके सामने आता है। इसका विचार करते समय मन में अनेक प्रकार की भावनाओं का तुमुल युद्ध शुरू हो जाता है। किसी को लगता है कि यहाँ पर चलनेवाले शासन को ही उलट-पुलट कर दें। कोई सोचता है कि शासन में विशेष अच्छे व्यक्ति दिखते नहीं इसलिए उन्हें हटा दिया जाए। ये सब विकृत विचार हैं, अतीव हानिकारक हैं; अतएव त्याज्य हैं। विचारी पुरुषों को यह कभी शोभा नहीं देता। यह उत्तेजना का परिणाम है। उसके पीछे यही भावना होगी, शायद सद्भावना भी होगी, परंतु उत्तेजना से शांतिपूर्वक विचार करने की शक्ति नष्ट हो गई है, यह स्पष्ट है। आज की इस स्थिति में हम अपने दिन-प्रतिदिन के कार्य को छोड़ दें, दक्ष-आरम् से क्या होनेवाला है आदि विचार भी अपने मन में आते हैं, किंतु हमें सोचना होगा कि घर में असाधारण स्थिति आने पर खाना-पीना, निद्रा और चिंता चाहे छूट जाए, परंतु जो दृढ़ और निश्चयी व्यक्ति होते हैं, वे अपनी पूजा और उपासना किसी भी परिस्थिति में नहीं छोड़ते। लोकमान्य तिलक के जीवन का एक उदाहरण है। एक बार उनका पुत्र बीमार पड़ गया। वे उसकी देखभाल करते हुए भी अपने पत्र का संपादन करते रहे। एक दिन, जब वे अपना संपादकीय लिख रहे थे, उसी समय उनके पास बीमार पुत्र की स्थिति बिगड़ने का समाचार आया। उन्होंने यही उत्तर दिया, 'मैं काम पूरा करके आता हूँ, तब तक डाक्टर को बुलाओ, दवाई तो वही देगा।' अपना काम करके जब वह गए, तब तक पुत्र अपनी देह छोड़ चुका था। उन्होंने अत्यंत शांत चित्त से उसका दाह-संस्कार किया। यह थी उनके चित्त की स्थिति और ध्येय की दृढ़ता।

संघकार्य में जुट जाएँ

हम भी विचार करें कि सब परिस्थितियों में अत्यंत दृढ़तापूर्वक निभानेवाली कोई बात हमारे सम्मुख है या नहीं। संघकार्य का यही उत्तर

मिलेगा कि अनुशासन के साथ चलनेवाला दैनंदिन शाखा का जो कार्य है, उसको पूर्ण निश्चय से करना चाहिए। संपूर्ण अंतःकरण की शक्ति उसमें डालकर उसे निभाना चाहिए। यदि कोई उथल-पुथल होती है तो उसका परिणाम अपने व्यक्तिगत जीवन पर न हो। हम निर्णय करें कि अब उद्योग-धंधे इत्यादि करने के लिए अधिक अवकाश नहीं, अब जीवन के आनंद और शौक के लिए गुंजाइश नहीं। वैभव का विचार हम फिर कभी करेंगे। ऐसा न समझें कि हमारी संस्कृति में वैभव और ऐशो-आराम को कोई स्थान नहीं है। हमारे सभी देवता वैभवयुक्त हैं। यहाँ तक कि दिगंबर धारण करनेवाले शंकर भी सभी रत्नों के भंडार हिमनग के ऊपर आसीन हैं। परंतु समय को देखकर अपने को इन बातों से मुँह मोड़ना पड़ता है। जब चारों ओर से संकटों के बादल घिर रहे हों, उस समय लक्ष्मी-सेवित शेषशायी भगवान विष्णु का जीवन सम्मुख रखकर चलना उचित नहीं। उस समय तो सब कुछ पैरों तले दबाकर अपनी संपूर्ण शक्ति का आवाहन करते हुए, समग्र विषमताओं को भस्म करने के लिए खड़े दिगंबर शिव का ही चित्र अपने सामने रखना उचित होगा। अब ऐशो-आराम नगण्य हो गए हैं, ऐसा सोचकर जीवन की जो न्यूनतम आवश्यताएँ हैं, उनका विचार कर, शेष संपूर्ण शक्ति और समय संघ के कार्य में लगेगा– यही निश्चय करें। वैयक्तिक जीवन की कुछ अव्यवस्था करके भी, संघकार्य की सुव्यवस्था को दृढ़ करने का ही अपना संकल्प होना चाहिए।

सिंह-पराक्रम की परंपरा निभाएँ

विचारकर यह सोचें कि इस प्रकार अपनी शक्ति लगाकर कुछ गति बढ़ाने की आवश्यकता है। यहाँ पर प्रांत-प्रांत के कार्य का वृत्त-निवेदन हमने सुना है। कार्यवृद्धि का थोड़ा-बहुत संकल्प भी सुना है। यह संकल्प आज उनके पास जो शक्ति है, कार्यकर्ता हैं, कार्यकर्ताओं की धारणाएँ और प्रवृत्तियाँ हैं, उनके आधार पर ही किए गए हैं। यदि हम लोगों ने अपना अधिक समय, सब प्रकार की शक्ति एवं योजनाबद्ध रूप से चलने की तत्परता रखी तो यह संकल्प काफी बढ़ सकता है, बढ़ना भी चाहिए। परंतु थोड़े में संतुष्ट न होते हुए, न होने का संकल्प करते हुए, वृद्धि का प्रयत्न अपने को करना आवश्यक है। इसमें अनेक लोगों को काम करना पड़ेगा। हो सकता है कि अनेक लोगों को उनका घर-बार बंद करने को भी कहना पड़े। अभी जिन्होंने घर-बार के दायित्व को स्वीकार नहीं किया है, उनको कहना पड़ेगा कि हिम्मत करो। हम लोग बड़े तपस्वियों की परंपरा में

उत्पन्न हुए हैं। संघकार्य का निर्माण भी एक तपस्वी ने किया है। उसकी कुछ तपस्या अपने जीवन में नहीं आएगी क्या? क्या हम बिल्कुल ही व्यर्थ हो गए हैं? हम उस तपस्या का आह्वान करें। बाहर के मोह और आकर्षणों के कारण अपनी छिपी शक्ति का आविष्कार नहीं कर पाते, परंतु वह शक्ति अपने अंदर है। उसका आह्वान क्यों न किया जाए? जब विशेष परिस्थिति अपने संपूर्ण सामर्थ्य की माँग करती है, उस समय हम अपने उस तपस्वी जीवन को, अपने अंदर छिपे हुए सामर्थ्य को क्यों न व्यक्त करें? क्यों न तदनुसार जीवन की रचना करें? क्यों न उसके लिए अटल बनें, दृढ़ बनें? हमें अनेकों को आह्वान करना पड़ेगा कि तुम तरुण हो, सुविद्य हो, बहुत अच्छे हो। यह अपना हिंदू-कुल त्याग के लिए प्रसिद्ध है। हम त्याग कर सकते हैं। हम यह भी नहीं कह सकते कि जिस कुल में हम उत्पन्न हुए हैं, वहाँ हाथी नहीं मारे जाते– 'गजस्तत्र न हन्यते।' अतः हम लोगों ने अज्ञान का, अंधकार का, व्यामोह का जो गज है उसके गंडस्थल को विदीर्ण करके चलने का सिंह-पराक्रम यहाँ पर किया है। अपने यहाँ कहा गया है कि जब तक वेदांत-केसरी गर्जना नहीं करता तभी तक शेष वादों के वन्य पशु इधर-उधर विचरण करते रहते हैं–

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बूका विपिने यथा।
न गर्जति महातेजा यावद् वेदांत-केसरी।।

एक बड़ा सिंह-पराक्रम अपने अंदर है। उसको जगाकर मन में सोचें कि हमें समय पुकार रहा है। हम उसके अनुसार कर्तव्य करेंगे।

यह भी कोई जीवन है!

मानो किसी ने समय की माँग पहचान कर यावज्जीव अपने संघकार्य के अतिरिक्त और किसी बात का विचार नहीं करूगा, ऐसा संकल्प कर लिया तो क्या सारा आसमान टूट जाएगा? प्रलय तो होगा नहीं, अपितु प्रलय से बचेंगे। ऐसा निश्चय अपने मन में आना चाहिए। अपना तथाकथित सुव्यवस्थित जीवन भी क्या कोई जीवन है कि जन्म हुआ, बड़े हुए, कुछ पढ़ लिया, उद्योग-धंधा किया, विवाह कर लिया, बच्चे हुए, बूढ़े हुए और मर गए? यह तो सभी करते हैं, वृक्ष भी करते हैं। इसमें कौन-सी विशेषता है? कौन-सी मानवता है इसमें? विशेषकर अपने जैसी दिव्य परंपरा में उत्पन्न होनेवालों का क्या इतना ही जीवन है? ऐसा तो जीवन नहीं। हममें से कुछ लोगों को विचार करना पड़ेगा कि अब उस कुल में

अपना नंबर लगता है या नहीं। ऐसा लगने की आकांक्षा अपने हृदय में धारण करना, उस आकांक्षा को लेकर, उससे समरस होकर, उसके तत्त्व को, पद्धति को, व्यवहार को अपने जीवन में उतारकर, उनको कार्य में जुटाने की आवश्यकता है।

योजकता की परीक्षा न लें

केवल अपना संपूर्ण जीवन संघकार्य के लिए लगा दिया– ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा। हमारे अंदर वे सब गुण आने चाहिए, जिनके द्वारा हम इस कार्य के लिए उपयोगी हो सकें। यदि हम न किसी से बोल सकते हैं, न शाखा में कुछ कर सकते हैं, न करवा सकते हैं, न किसी के पास जाकर उसके साथ संपर्क कर सकते हैं, न दूसरे से करवा सकते हैं, अर्थात् संघकार्य करने की कोई गुणसंपदा नहीं, तो फिर इस प्रकार के सर्वसंग परित्यागी, संघैकनिष्ठ व्यक्ति का क्या उपयोग? यह तो ठीक है कि 'योजकस्तत्र दुर्लभः' परंतु हम लोगों की योजकता की परीक्षा लेने क्यों बैठें? क्यों नहीं हम अपने जीवन में, आज की इस उथल-पुथल की परिस्थिति में ऐसी उथल-पुथल करें कि हमारे अंदर उत्तमोत्तम गुण विकसित हो सकें तथा हम अन्य लोगों को साथ लेकर अपने इस संगठनकार्य को आगे बढ़ा सकें।

संघकार्य के उपकरण

अपने यहाँ अनेक प्रकार के इधर-उधर के काम चलते हैं। मैं कभी-कभी कहता हूँ कि मुझे उनमें कोई रुचि नहीं। इस भाव को ठीक प्रकार से समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, हमने नागपुर में संघ का बड़ा भारी भवन बना लिया है। मैंने एक बार कहा कि मुझे वह दिल में बहुत चुभता है। इसका तात्पर्य यही है कि हमारा काम भवन आदि बनाने के लिए नहीं है। भवन आदि तो मामूली उपकरण हैं। संघ का कार्य चलता रहा तो हम अनेक भवन बना लेंगे और यदि कार्य नहीं चला तो इन भवनों का क्या उपयोग? हम लोगों को दिखाने के लिए तो भवन बनाते नहीं।

डाक्टर साहब का स्मारक भी हम नागपुर में बना रहे हैं। मैंने कहा कि मुझे उसमें कोई रुचि नहीं है, तो कुछ लोगों की धारणा हो गई कि वह कार्य मेरे ऊपर थोपा गया है। यह सत्य नहीं, मैं 'डाक्टर हेडगेवार स्मारक समिति' का अध्यक्ष हूँ तथा उसके लिए निधि एकत्र करने का

वक्तव्य मैंने ही दिया था। वह स्मारक बने– ऐसी इच्छा भी है। वह स्मारक तो अपने पत्थर-पत्थर से प्रेरणा देगा। वहाँ की मिट्टी का एक-एक कण, वायु का एक-एक झकोरा, हमारे लिए स्फूर्तिदायक है, किंतु यह स्मारक हम संघकार्य के लिए बनाते हैं। संघ का कार्य स्मारक बनाना नहीं है।

सामान्य मनुष्य को स्फुरण के लिए स्थूल दृश्य चाहिए, जिससे वह समग्र देश में फैले हुए अमूर्त संघकार्य को अपने संघनिर्माता के मूर्त स्वरूप में देख सके, इसके लिए स्मारक का विचार हुआ। यदि मनुष्य अपने ज्ञान से सीधे परब्रह्म का साक्षात्कार कर ले, फिर उसने मंदिर में जाकर घंटा न बजाए तो भी चलेगा, किंतु जो सामान्य व्यक्ति हैं, अज्ञानी हैं, उन्हें तो मूर्ति के दर्शन से ही कुछ मार्गदर्शन मिलता है। वैसे, शंकराचार्य जैसे महान तत्त्वदर्शी, जिन्होंने कहा कि सब जगत् ब्रह्ममय है, यहाँ माँ, बाप, गुरु, मित्र आदि नाते कुछ नहीं, ने भी प्रत्यक्ष जीवन में गुरु किया और उनके शिष्य भी बने। इस दृष्टि से हमें कोई तो स्थूल आँखों से दिखेगा, उस जीवन का स्मरण करवा देगा, उसकी गुणसंपदा का स्मरण करवा देगा, अपने अंदर उन गुणों को लेकर चलने की प्रेरणा देगा, ऐसा स्वरूप चाहिए। इसलिए स्मारक बनाना है, किंतु यदि उसमें कोई धन्यता माने और समझे कि अब और कुछ नहीं करना है तो कहना पड़ेगा कि हम अपना ही स्मारक बना रहे हैं, जिससे आगे आनेवाली संतति कह सके कि उन्होंने और तो कुछ किया नहीं; हाँ, अपने जीवन में डाक्टर साहब जैसे महान व्यक्ति का स्मारक अवश्य बनवा गए। यदि ऐसा है, तो इसमें मुझे कोई रुचि नहीं। यह तो मुझे अखरता है। अगर हम लोगों के मन में यह भाव आ जाए कि चलो, इधर-उधर स्मारक-मंदिर ही खड़े कर दें, तो मैं कहूँगा कि इतने वर्षों में हमने न तो संघकार्य समझा और न संघ के निर्माता को ही समझा। उन्होंने तो यही कहा था कि हम किसी व्यक्ति को नहीं मानते।

इसलिए अपने अंतःकरण की समग्र भावनाएँ कार्य पर केंद्रित हों। उसके उपकरण के रूप में, उसके लिए सहायता होने की दृष्टि से, उस कार्य को प्रोत्साहन देने में अगर किसी स्थूल वस्तु की उपयुक्तता अपने को दिखाई देती है, तो उस दृष्टि से उसका उपयोग करें। जैसे उपकरण का उपयोग कोई वीर पुरुष, अपने पास की तलवार को नित्य ठीक रखकर, उसपर तेल वगैरह लगाकर, उसका पालिश खराब न हो– इसका प्रयत्न करता है, उतनी मात्रा में ही उसमें रुचि रखें। अन्य किसी बात के संबंध में अपने को वास्तविक आकर्षण नहीं है। एक ही बात जीवन का स्वामित्व

लेकर बैठी हुई है। विचार का, भावनाओं का स्वामित्व एक ही बात के पास है, अर्थात् वह है– राष्ट्रसामर्थ्य निर्माण का यह कार्य। ऐसा विचार लेकर यदि हम लोग चलेंगे और अपनी शक्ति-बुद्धि को, समय को, जीवन की चेतना को अपने प्रत्यक्ष चलनवाले कार्य में खूब अच्छी प्रकार से समर्पित करेंगे तथा उसके बल के ऊपर व्यक्ति-व्यक्ति के पास जाकर, उसको जोड़ने का प्रयत्न करेंगे, तो कार्य की वृद्धि, उसके कारण शक्ति का प्रत्यक्ष स्वरूप सबके सम्मुख उपस्थित होना, उसके कारण जनसाधारण के आत्मविश्वास में अत्यंत उत्कृष्ट उफान आना और उसके आधार पर सब संकटों का निरसन होना अत्यंत सुगम होगा।

अवतार-कार्य

हमें देश पर संकट लानेवाली विपरीत शक्तियों से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। मैंने तो कई बार कहा है कि विश्व में ऐसे जितने विपरीत विचार हैं, उनकी कब्र भारत में ही खुदी है। अधर्म का उच्छेद करने के लिए ही यह संघरूप भगवदवतार फिर से एक बार इस जगत् में हुआ है। यह मेरा विश्वास है, श्रद्धा है। भगवान कभी व्यक्ति के रूप में तो कभी संघ-रूप में प्रकट होते हैं। यह कलियुग है, इसमें संघ ही शक्ति है। अतः शक्तिस्वरूप भगवान संघरूप में ही प्रकट होंगे। वह स्वरूप हमारे सामने विद्यमान है। जैसे बाल्यकाल में श्रीकृष्ण को अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा, किंतु उन सबका सांमना करते हुए वे बड़े हो गए और अंत में उनके द्वारा वह शक्ति प्रकट हुई, जिसने बड़े-बड़े दुष्ट सत्ताधारियों को भी केश पकड़कर सिंहासन के नीचे उतार दिया; उसी प्रकार अवतारी कार्यों में दुष्टता का विनाश करने की शक्ति प्रादुर्भूत होती है। इस महान शक्ति के अवयवरूप हम लोग अपने स्थान पर अपने कार्य को पूर्ण रूप से करने का दृढ़संकल्प कर उसकी पवित्रता, शुचिता, दृढ़ता, सामर्थ्य, तपस्विता आदि सब गुणों को अपने में लाकर, अपने-अपने स्थान के कार्य को पूर्ण रूप से करते हुए यही सोचें कि समक्ष आनेवाले अधर्मरूपी संकट का ध्वंस करना अपने ही भाग्य में लिखा हुआ है। अखिल जगत् को मानव बनाने का महत्कार्य अपने को ही करना है। ईश्वर का यह संदेश है, उसका हमारे लिए यही आदेश है।

इसे पूर्ण करने के लिए हम अपने-अपने व्यक्तिगत जीवन में उचित परिवर्तन कर महान संघकार्य करने के लिए कटिबद्ध होकर चलें। इसमें

उथल-पुथल न होने पाए। संघबद्ध जीवन बराबर चलता रहे तथा मन की किसी भी व्यथा का उसपर अन्यथा परिणाम न होने देते हुए हम चलें तो बेड़ा पार हो जाएगा।

इससे अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। संकेत के रूप में जो कुछ कहा है, उसको यथार्थ रूप से लेकर चलेंगे तो आगे आनेवाले वर्ग या प्रवास के समय हम लोगों को दिखेगा कि अपने ८-९ दिन के एकत्र निवास के कारण जो एक प्रदीप्त चेतना उत्पन्न हुई है, उसमें चारों ओर के वैचारिक कल्मष को जलाकर, हृदय में विशुद्ध भावों को भरकर, हमारे द्वारा शाखा-उपशाखाओं में वह कार्यक्षमता और तेजस्विता प्रकट होगी, जिससे वे बहुत बड़ी मात्रा में समाज के अंग को अपने साथ में लेकर उसमें अनुशासित, सुव्यवस्थित जीवन के संस्कार से उत्पन्न सामर्थ्य के आधार पर आत्मविश्वास जगाकर प्रतिदिन चल सकें।

यह अनिवार्य है कि मानव जाति को अपना अद्वितीय ज्ञान प्रदान करने की योग्यता के संपादन के लिए तथा संसार की एकता और कल्याण के हेतु जीवित रहने एवं उद्योग करने के लिए हमें संसार के समक्ष आत्मविश्वासी, पुनरुत्थानशील और सामर्थ्यशाली राष्ट्र के रूप में खड़ा होना पड़ेगा।

— श्री गुरुजी

समावर्तन

विचार मंथन के क्रम में २८ अक्तूबर से ३ नवंबर १९७२ तक सात दिवसीय चिंतन बैठक ठाणे(महाराष्ट्र) में श्रद्धेय श्री पांडुरंग शास्त्री आठवले के आश्रम में संपन्न हुई। कर्करोग पर शल्यक्रिया करवाने के पश्चात् और अत्यधिक अस्वस्थ होते हुए भी श्री गुरुजी पूर्ण समय बैठक में उपस्थित रहे और उन्होंने यथापूर्व कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन किया।

---

१. हम हिंदू हैं

(२९ अक्तूबर १९७२)

यह हमारा हिंदू-राष्ट्र है। इसकी श्रेष्ठता और इसका सार्वभौम सत्तासंपन्न जीवन हम यहाँ पुनः निर्माण करना चाहते हैं। हम इसी के लिए प्रयत्न करते हैं और जब तक उसमें सफल नहीं होंगे, तब तक हमारा प्रयत्न चलता ही रहेगा। थोड़े से अहिंदू विचार करनेवाले लोग संसार में हैं, अपने देश और समाज में भी हैं। वे लोग इस सिद्धांत के संबंध में उल्टी-सीधी आलोचना करेंगे तो करने दो। उनके बोलने से कुछ बिगड़ता नहीं। इस सत्य-सिद्धांत पर हमारी अचल निष्ठा हो, अपने आत्मविश्वास के निश्चय से बहुत बड़ा हिंदू समाज प्रेरित हो सकता है।

यह सत्य है कि 'हिंदू' के संबंध में अनेक प्रकार के भ्रम निर्माण करने के यत्न किए जाते हैं। कई क्षेत्रों में विभिन्न स्वार्थों से प्रेरित होकर

'हिंदू' को मुस्लिम-विरोधी, ईसाई-विरोधी और अब तो सिख-विरोधी, जैन-विरोधी, हरिजन-विरोधी तक बताया जाता है। इस प्रकार प्रचार करनेवाले, किसी जानकारी के आधार पर ऐसी बात नहीं कहते। इसमें उनके कुछ राजनीतिक स्वार्थ निहित हैं। यह बात नहीं है कि उन्होंने धर्म, संस्कृति, इतिहास का अध्ययन कर ऐसी बात कही हो। हिंदू विचारधारा और जीवन-पद्धति इस देश में उस समय से विद्यमान है, जब इस्लाम और ईसाई संप्रदाय दुनिया में थे ही नहीं। तब कोई उनसे पूछे कि हिंदू का अर्थ मुसलमान-विरोधी कैसे हो गया? उसी प्रकार सिख और जैन आदि मत तो हिंदू के अंतर्गत ही आते हैं। 'हिंदू' कहने से इनका विरोध करने की भावना का अर्थ तो अपने ही हाथ-पैर काट लेने जैसी बात है। तब हिंदू का अर्थ इनके विरोध का कैसे हो गया? निस्संदेह ये सब आक्षेप क्षुद्र मनोवृत्ति से उत्पन्न होनेवाले भ्रमों के परिणाम हैं। इनमें सत्यता कदापि नहीं। ये सब गलत बातें हैं। 'हिंदू' किसी का विरोधी नहीं। यह पूर्ण रीति से भावात्मक विचारधारा है, निषेधात्मक कदापि नहीं।

'हिंदू' के संबंध में कुछ लोग ऐसे ही घिसे-पिटे पुराने आरोप दोहराते रहते हैं। आरोपों को सुनकर अपने समाज के लोग घबराते भी हैं। इस राष्ट्रजीवन को किसी अन्य पर्यायी शब्द से बोलने के लिए लोग सलाह भी देते हैं, परंतु क्या पर्याय लेने से मूल अर्थ बदलेगा? जैसे हमारे आर्यसमाजी बंधु कहते हैं कि 'आर्य' कहो। 'आर्य' का भी मतलब वही निकलेगा। कुछ लोग 'भारतीय' शब्द का प्रयोग करने की बात कहते हैं। 'भारत' को कितना ही तोड़-मरोड़कर कहा जाए तो भी उसमें अन्य कोई अर्थ नहीं निकल सकता। अर्थ केवल एक ही निकलेगा 'हिंदू'। तब क्यों न 'हिंदू' शब्द का ही असंदिग्ध प्रयोग करें। सीधा-सादा प्रचलित शब्द 'हिंदू' है।

अपने राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति का जब हम विचार करते हैं, तो हिंदू धर्म, संस्कृति, समाज का संरक्षण करते हुए ही वह हो सकता है। इसका आग्रह यदि छोड़ दिया, तो अपने पास 'राष्ट्र' के नाते कुछ भी नहीं बचता। दो पैरोंवाले प्राणियों का समूह मात्र बचता है। राष्ट्र नाम से अपनी विशिष्ट प्रकृति का जो एक समष्टि रूप प्रकट होता है, उसका आधार हिंदू ही है। मैं समझता हूँ कि हमें इस आग्रह को तीव्र बनाकर रखना चाहिए। अपने मन में इसके संबंध में जो व्यक्ति शंका धारण करेगा, उसकी वाणी में शक्ति नहीं रहेगी और उसके कहने का आकर्षण भी लोगों के मन में

उत्पन्न नहीं होगा। इसलिए हमें पूर्ण निश्चय के साथ कहना है कि हाँ, हम हिंदू हैं। यही हमारा धर्म, संस्कृति, हमारा समाज है और इनसे बना हुआ हमारा राष्ट्र है। बस, इसी के भव्य, दिव्य, स्वतंत्र और समर्थ जीवन को खड़ा करने के लिए हमारा जन्म हुआ है। अपने हृदय में ऐसी पक्की धारणा होना आवश्यक है। इसलिए अनेक लोगों को प्रेरित करना चाहिए। इसके प्रसार में कोई भय-संकोच करने की आवश्यकता नहीं है।

सर्वव्यापी कार्य

इसी सिद्धांत के आधार पर हम संघ का कार्य करते हैं। हम यह भी चाहते हैं कि इस सत्य-सिद्धांत से जीवन के सभी क्षेत्र अनुप्रेरित हों, परंतु क्या इसका यह अर्थ है कि संघ के नाते हम हर बात में हस्तक्षेप करते रहें? प्रत्येक क्षेत्र में हम लोग किसी न किसी प्रकार उथल-पुथल करते रहें? याने क्या जीवन के सब प्रकार के कार्यों को करनेवाला संघ ही हो? अभी तक तो हमारा ऐसा सोचना नहीं रहा। राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्र हैं। हम कहते हैं कि प्रत्येक क्षेत्र में कार्य की आवश्यकता है, इसलिए जो भी लोग कार्य करते हैं, वे उन क्षेत्रों में काम करें। हमारा आग्रह केवल इतना है कि सिद्धांत ठीक समझ लो और उसके आधार पर करो। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में लोग आगे बढ़ें। राष्ट्र की प्रगति का विंचार करें। राष्ट्र की बहुविध समृद्धि के लिए कार्य करें।

संघ का कार्य सर्वव्यापी कार्य हैं, परंतु सर्वव्यापी किस प्रकार से है? एक उदाहरण है। प्रकाश सर्वव्यापी है, परंतु वही सब कार्य नहीं करता। अंधकार को दूर हटाकर सबको मार्ग दिखाता है। इस तथ्य को भली-भाँति समझना होगा। फिर कोई गड़बड़ी नहीं होगी।

ऐसा नहीं किया तो गड़बड़ी होगी। यदि प्रत्येक कार्य में हस्तक्षेप करने का विचार किया, तो जीवन के प्रत्येक पहलू पर बड़े-बड़े 'शोधग्रंथ' तैयार करने होंगे। इस स्थिति में समाज-संगठन का जो मूलगामी कार्य चल रहा है, वह बंद हो जाएगा। 'शोधग्रंथ' मात्र अपने हाथ लगेंगे। इसलिए हमने कहा है कि राष्ट्रजीवन का यह सिद्धांत व्यापक और आधारभूत है। इसके आधार पर प्रत्येक कार्य की रचना करनी चाहिए। यदि कहीं इस सिद्धांत का उल्लंघन होता दिखाई दे तो संघ के कार्यकर्ताओं का कर्तव्य है कि चेतावनी दें, आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करे, ताकि इसका उल्लंघन न हो। इसके विपरीत राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने के लिए जुटे हुए

लोगों को पका-पकाया अथवा सधा-सधाया मसाला देते रहने का काम अपना नहीं है। सिद्धांत पर अटल रहते हुए, उसे व्यवहार में उतारने का मार्ग विभिन्न क्षेत्रों में लगे हुए लोगों को ही सोचना होगा।

सिद्धांत और व्यवहार का अंतर

अन्यथा, पका-पकाया मसाला क्या अपने समाज में कम है? बहुत है। कहने के लिए अपने यहाँ कुछ भी कम नहीं है। कुछ वर्ष पहले की एक बात मुझे स्मरण आती है। एक नगर के प्रतिष्ठित सज्जनों की बैठक में एक अच्छे बड़े नेता उपस्थित हुए थे। उनका अब स्वर्गवास हो चुका है। उस समय उन्होंने कहा था कि हिंदू-दर्शन के सिद्धांत तो अच्छे हैं, परंतु व्यवहार में आजकल उतरते नहीं। सब सुखी हों, सब निरामय हों- 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः' सभी ऐसी प्रार्थना करते हैं, परंतु इसके लिए प्रयत्न नहीं करते। इस बात का भी प्रतिपादन किया जाता है कि ईश्वर ने जितना जो कुछ हमें दिया है, उसे अपने चारों ओर रहनेवाले मनुष्य और प्राणियों में बाँटकर ग्रहण करना चाहिए। जो ऐसा न कर स्वयं उपभोग करता है, वह पापभक्षी है। ऐसा कहते हुए भी लोग वैसा करते नहीं। उन्होंने कहा- ऐसी उदात्त घोषणाएँ होते हुए भी जरा अपने समाज की ओर देखिए, एक हिस्सा अछूत मान रखा है। हम हिंदू एक ओर तो कहेंगे कि परमेश्वर का स्वरूप एक ही है, परंतु व्यवहार में वैसा उतरता नहीं। उनका यह कहना बिल्कुल ठीक था। उसे मानते हुए मैंने कहा- हाँ। सिद्धांतों में अपने ऋषियों ने यहाँ तक कहा है कि अपना पेट भरने के लिए जितना आवश्यक है, वही अपना है। शेष अपना नहीं है। उसे अपना मानना चोरी का लक्षण है। जो वस्तु अपनी नहीं, उसे अपनी मानकर ले जाना चोरी है। इसलिए उसे चोर कहा है। उसे दंड देना चाहिए। लेकिन ऐसा आज व्यवहार में नहीं उतरता। यद्यपि सिद्धांत में कहा गया है कि संग्रह मत करो, यह धनसंपदा शाश्वत नहीं है, तुम्हारे साथ जानेवाली नहीं। साथ केवल धर्म जाएगा, तब भी मोहासक्त मनुष्य सब वस्तुओं का संग्रह करता है। अपने लिए ही नहीं तो पुत्र-पौत्र सबके लिए संग्रह करने की चिंता करता है।

विराट समाज पुरुष की अनुभूति

उनसे ऐसी बातचीत जब चल रही थी तब समाज-जीवन से संबधित, अपने यहाँ किया गया आमूलाग्र विचार भी मन में आया। मुझे

लगा कि चिंतन और व्यवहार में जो अंतर आज दिखाई देता है, उसे दूर करने के लिए अपने सच्चे अस्तित्व की अनुभूति होना जरूरी है। यह विचार ऐसा है कि अपने यहाँ संपूर्ण समाज को एक शरीर के रूप में स्वीकार किया गया है। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' (ऋग्वेद १०-९०-१)– इस प्रकार वर्णन किया गया है। वहाँ यह भगवान का वर्णन है, परंतु हमारे लिए यह समाज ही भगवान है। यह विराट समाजपुरुष है। इसके अनेक मुख, अनेक हाथ, नाक, आँखें, पैर आदि हैं। इस विराटस्वरूप की आराधना करने के लिए हमें कहा गया है। इसके साथ ही दूसरी बात भी कही गई है कि जितना अपना समाज है, उसके सभी मानव एक शरीर की एक चेतना से ओतप्रोत हैं। सबकी एक देह और उसमें विद्यमान एक चेतना– यह विचार थोड़ा गहराई से सोचने पर समझ में आ सकता है। हम सबके अंदर की चेतना एक ही है, याने हमारा जो चिरंतन अस्तित्व है, वह सब एक ही है। इस अस्तित्व को क्या नाम दिया जाए? नाम के लिए लोग झगड़ा करते हैं, इसलिए मैं नाम नहीं देता। उसको कोई भी नाम दें, कुछ अंतर नहीं पड़ता। अनुभूति होनी चाहिए। यही व्यावहारिक बात है। यह अनुभूति होने पर व्यवहार ठीक होगा। आर्थिक दृष्टि से उपयोग की सामग्री इस विराटपुरुष के लिए है। इस दृष्टि से विचार करें, तब व्यवहार समझ में आएगा। समाजरूपी विराटपुरुष की कल्पना और उसमें व्याप्त चिरंतन अस्तित्व की अनुभूति– यही हमारे भारतीय चिंतन की विशेषता है। समाजरूपी विराट पुरुष का यह चिंतन अपने भारतवर्ष को छोड़कर विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। वे इस सीमा तक पहुँच ही नहीं पाए।

चिंतन की इस दिशा को छोड़कर विचार किया, तो समग्र मानव के सुख की समस्या हल नहीं होती। उस स्थिति में यह सीधा-सा प्रश्न उपस्थित होता है कि जितना कुछ उपलब्ध है, वह सबको प्राप्त हो, ऐसा विचार ही क्यों रखें? केवल अपना निजी विचार करना क्या पर्याप्त नहीं? अन्य लोगों को सुख मिले या दुःख, यह सोचने की आवश्यकता ही कहाँ है? आखिर उनका अपना संबंध ही क्या है? भारतेतर अन्य चिंतनधाराओं के अनुसार यदि यह मान लिया जाए कि हम अलग-अलग पंचमहाभूतों से बने गोलपिंड मात्र हैं, हमारे और अन्यों के बीच कोई आंतरिक संबंध नहीं, तब तो अन्यों के सुख-दुःख की अनुभूति हमारे अंतःकरण में उठने का सवाल ही पैदा नहीं होता। अपने आसपास अन्य लोगों के दुःख दूर करने

के लिए तथा उनके सुख को बढ़ाने के लिए, इसमें से प्रेरणा नहीं मिल सकती।

परंतु फिर भी, आधुनिक काल में प्रचलित विचारधाराओं में आग्रह यही किया जाता है कि समाज की संपूर्ण भलाई का विचार लेकर चला जाए। उनसे पूछा जाए कि समाज के एक प्रतीक रूप की कल्पना का आधार क्या है? व्यक्तियों के बीच आपसी संबंधों का नाता क्या है? वे आपस में कैसे और क्यों जुड़े हैं? दूसरों के सुख-दुःख की समान अनुभूति का आधार क्या है? इस एकत्व का अनुभव करानेवाला संचार-सूत्र क्या है? कहना होगा कि भारतेतर इन विचारप्रणालियों में इस संबंध में सिद्धांत-रूप कुछ भी नहीं है। वहाँ यही मान्यता है कि सब अलग-अलग उत्पन्न हो गए। एक-दूसरे का आंतरिक कोई संबंध नहीं। इस स्थिति में भला एक-दूसरे की चिंता क्यों हो? एक-दूसरे की भलाई की कामना या सबका पेट भरना चाहिए, इसकी चिंता की भी तब कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए इन विचारप्रणालियों में 'समाज' नाम का उल्लेख भले ही होता हो, परंतु उनकी दृष्टि यहीं तक सीमित है कि अनेक लोगों के स्वार्थों का जमघट ही 'समाज' है। वे इसे एक 'कॉन्ट्रैक्ट', याने समझौता मानते हैं। स्वार्थों की पूर्ति के लिए आपस में समझौता हो गया, लोग मिल गए— बस, इतना ही समाज का रूप उनके सामने है। आंतरिक ढंग से सब मिलकर एक चेतना का अनुभव करने का कोई मार्ग उनके सामने नहीं है।

मूलगामी एकता का प्रमुख कारण

वह सूत्र तो इस एक तथ्य में निहित है कि हमारा सबका एक अस्तित्व है। शरीर चाहे जितने भिन्न हों, संख्या चाहे जितनी हो, ऊपर से दिखनेवाली रुचियों में कितनी ही विचित्रताएँ हों, परंतु सबके अंदर एक ही चिरंतन अस्तित्व है। यही मूलगामी एकता का प्रमुख कारण है। इसी के कारण हमारे मन में आपसी संबंधों के भाव उत्पन्न होते हैं। यहाँ तक कि हम आपस में द्वेष करते हैं, तो वह भी इसी एकत्व के आधार पर होता है। जिससे अपना नाता नहीं, उससे भला द्वेष भी कैसे हो सकता है? यह कड़ी विद्यमान न हो, तो हम न तो किसी से प्रेम कर सकते हैं और न द्वेष कर सकते हैं। आपसी संबंधों के विषय में जितने भाव हमारे मन में उठते हैं, सबकी एक ही कड़ी है, सबका मिलकर एक अस्तित्व है। एक चिरंतन अस्तित्व ही वह कड़ी है, जो सबके बीच अनुस्यूत है। वास्तव में

इसी तथ्य को भली-भाँति हृदयंगम करना और कराना व्यवहार की सीढ़ियों पर चढ़ना है।

यह एकता की अनुभूति हृदय में विराजमान होते ही विचार आता है कि जिन सबका मिलकर हमारा एक अस्तित्व है, उन समान अस्तित्ववाले समाज में सब सुखी हों। इस विचार में से ही यह निश्चय भी प्रकट होता है कि ऐसी व्यवस्था का निर्माण करें कि जिसमें सबका समान स्वार्थ हो, याने केवल निजी स्वार्थ-संग्रह का विचार छोड़ना चाहिए। अपने संपूर्ण अस्तित्व के विरुद्ध और स्वत्व के विपरीत होने के कारण स्वार्थ-संग्रह आत्मघात करने के समान ही पापी विचार है। इसलिए इसे छोड़ देना ही हितकर है।

ये सब विचार जिस एक जीवन-सिद्धांत में हैं, उस जीवन-प्रणाली का नाम 'हिंदू' जीवन-प्रणाली है। दुनिया में अन्य कहीं भी इतनी गहराई से विचार कर इस चिरंतन अस्तित्व का आधार नहीं खोजा गया। हिंदुत्व की विश्व मानवता को यही देन है। हिंदु के नाते जो जीवन-सिद्धांत हैं, उन्हीं में से ये सब बातें निकलती हैं। इसी आधार पर संपूर्ण समाज की धारणा होती है। एकात्मता के इस सूत्र को व्यक्ति-व्यक्ति में जागृत करना अपना पहला कार्य है।

एकात्मता के अधिष्ठान पर, स्वार्थरहित, संग्रहविरत, समाज-समर्पित व्यक्तियों का विकास करते हुए, उन सभी व्यक्तियों में जागृत इस भावना से कि मनुष्य-समुदाय का जीवन एक ही अस्तित्व से अनुप्राणित है। समाज की सुखी उत्कर्षमय अवस्था निर्माण करने के लिए प्रयत्नरत होना हम सबका कर्तव्य है। यह कर्तव्य भली-भाँति निभाना अत्यंत स्वाभाविक है। मैं समझता हूँ कि यह प्रणाली ही अपनी विशेषता है। विश्व के अन्य मानव-समुदाय इससे भिन्न जो भी कुछ अच्छा विचार करते हैं, वे अवश्य करें, परंतु अपनी हिंदू-जीवन-प्रणाली की यही विशेषता है। शताब्दियों के अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि इसी प्रणाली में स्थायी भाव भी है। दुनिया में मानव-कल्याण के लिए अन्य जो भी विचार चलते हैं, वे अधिक समय तक टिक नहीं पाते। विश्व की परिस्थितियाँ बदलते ही काल-थपेड़ों से परिवर्तित होकर वे समाप्त हो जाते हैं। हिंदू-जीवन का यह सत्य-सिद्ध विचार ही स्थायी है कि एक ही सत् तत्त्व सबमें विराजमान है। वही एक-दूसरे को जोड़नेवाली कड़ी है। आपस में सुख-दुःख की अनुभूति और तदनुसार एकात्मता अनुभव करानेवाला यही बंधन है। एक ही अस्तित्व की

भिन्न-भिन्न रूप-अभिव्यक्ति होने के कारण सबकी अपनी-अपनी रुचि-प्रवृत्ति के अनुसार उत्तम जीवनयापन करने की सुविधाएँ सबको प्राप्त करा देना अपना स्वाभाविक कार्य है। इस कर्तव्य का पालन करने के लिए व्यावहारिक जीवन में अपने निजी जीवन को तदनुसार ढालने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इस आधार पर व्यक्ति विचार करता है कि संग्रह नहीं करना चाहिए, पेट भरने के अतिरिक्त अधिक कोई भी साधन अपने पास जमा करने के विचार से दूर रहना चाहिए। पेट भरने का अर्थ भी वैसे व्यापक है, याने जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करना। उससे अधिक पर अपना अधिकार नहीं, शेष सब समाज का है। उससे अधिक अपनी बुद्धि और सामर्थ्य द्वारा यदि अर्जन किया, तो वह भी अपने जो भिन्न-भिन्न रूप हैं, उनके हितार्थ ही है। इस धारणा को दृढ़ करना, हिंदू विचार जागरण का दूसरा नाम है।

शेष सब जितनी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ दिखाई देती है, उनका विचार भी इस मूल सिद्धांत की कसौटी पर किया जा सकता है। कोई भी राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था हो, समाज जीवन की मूल रचना का यही एकमेव सशक्त आधार है। हम इस मूल सिद्धांत को छोड़ बैठे। इसे भुलाकर इधर-उधर हाथ मारने का उद्योग किया। परिणाम हमारे सामने है। प्रतिदिन देखने को मिलता है कि कितनी दरिद्रता चारों ओर फैली है। कुछ लोग भ्रमवश इस दीनता और दरिद्रता का कारण हिंदू-जीवन पर आरोपित करते हैं, परंतु सच्चाई यह नहीं है। सच्चाई यह है कि इसका कारण हिंदू-जीवन-सिद्धांत को भुला देना है। उस सिद्धांत को प्रत्यक्ष आचरण में न उतारने से ही यह दुःस्थिति बनी है। छुआछूत आदि जितनी बुराइयाँ दिखाई देती हैं, वे हिंदू-जीवन-प्रणाली के परिणामस्वरूप हैं, ऐसा बताना, नितांत गलत बात है। हिंदू-जीवन-प्रणाली के सिद्धांत को विस्तृत रूप से समझकर, उसपर आचरण करना छोड़ देने का ही यह परिणाम है।

चतुर्विध पुरुषार्थ

इसलिए हमें सोचना होगा कि विश्व के सामने हमारा राष्ट्रजीवन चतुर्विध पुरुषार्थ-स्थापना के एक महान आदर्श के रूप में उपस्थित हुआ है। सर्वप्रथम धर्म-पुरुषार्थ के अंतर्गत एकात्मता की अनुभूति इस आधार पर करना, कि हम सबमें एक ही तत्त्व विद्यमान है। इसमें अलग-अलग अस्तित्व मानकर, फिर भाई-चारे का घोष करनेवाली बात भी नहीं है।

इसमें तो यह दृढ़ अनुभूति है कि हमारे समग्र जीवन में एकात्मता है। अनेक लोग मिलकर एक समाज बनाने की बात नहीं, वरन् वह 'एक' ही सबमें समाया होने के कारण समाज से भिन्न हमारा और कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस तत्त्व की अनुभूति होने से सहज भातृभाव और इसी के कारण प्रत्येक का यह दायित्व भी उभरकर सामने आता है कि अपनी शक्ति-बुद्धि का पूर्ण उपयोग करते हुए जो प्राप्त हो, उसका ऐसा वितरण करना है कि सबको अधिकाधिक सुख मिले। इस वितरण के लिए वस्तुओं और साधनों का अधिकाधिक निर्माण करना भी आवश्यक होता है। इस स्थिति में एक अन्य समस्या सामने आती है कि अधिकाधिक सुखोपयोगी वस्तुओं तथा साधनों का निर्माण और उसका पूर्ण वितरण करने से उपभोग की प्रवृत्ति यदि अनियंत्रित बढ़ती गई, तो वह विनाश का कारण बनती है। इसलिए हमारे यहाँ कहा गया है कि धर्म के साथ चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष, याने जीवन के लक्ष्य का स्मरण भी बनाए रखना चाहिए। मनुष्य-जीवन का अंतिम लक्ष्य भोग नहीं है। इसलिए वह इन उपभोगों का दास नहीं बन सकता। मनुष्य ने इन उपभोगों का निर्माण किया है, इसलिए वह इनका स्वामी है। इसीलिए वह इनका उपयोग अपने जीवन के अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु करेगा और तब सर्वसुखसंपन्न जीवन, मोक्ष-पुरुषार्थ से प्रेरणा ग्रहण करते हुए त्यागमय हो सकेगा। इस प्रकार धर्म और मोक्ष से नियंत्रित संपूर्ण प्रगतिशील जीवन की कल्पना हमारे यहाँ की गई है, जो पूर्णरूपेण व्यावहारिक है।

इसलिए स्वयं पूरा परिश्रम करते हुए अधिकाधिक वस्तुओं की प्राप्ति और वितरण करना तथा व्यक्तिगत सुखोपभोग के लिए उसका संग्रह करना अपना कर्तव्य हो जाता है। यह लक्ष्य हमारे सामने है। इस सिद्धांत के आधार पर जो भी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक कार्यक्रम तैयार हों, उचित ही कहे जाएँगे।

विदेशों से प्राप्त पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराओं का अध्ययन भी इसी आधार पर करना चाहिए। केवल उनकी नकल करते रहने से काम नहीं बनेगा। अपनी हिंदू जीवन-प्रणाली के सार-तत्त्व को समझते हुए अध्ययन करेंगे तो हमें पता चलेगा कि इन सब विदेशी विचारधाराओं में समाज की एकं चेतना का तत्त्व ही पूरी तरह दृष्टि से ओझल है। इस तत्त्व के अभाव में इन विचारधाराओं ने एक-दूसरे के विरोध को ही जन्म दिया है। केवल राजसत्ता के क्षेत्र में ही देखें तो दिखाई पड़ेगा कि वहाँ प्रत्येक व्यवस्था ने विद्रोह का सृजन किया। फ्रांस की राज्यक्रांति

के पूर्व यूरोप के इन देशों में राजनीतिक और आर्थिक शक्तियाँ राजा में समाहित हुआ करती थीं। अनियंत्रित शासन के अंतर्गत जनता कराहती रहती थी। इस जुल्म के विरुद्ध विद्रोह हुआ। इसी समय हुए औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप धन-संपत्ति का एकत्रीकरण हो गया और सामंत-सत्ता को उखाड़कर धन-सत्ता की प्रस्थापना हो गई। इस धन-सत्ता में व्याप्त एकाधिकार की प्रवृत्ति के प्रति विद्रोह के बीज तैयार हो रहे हैं। अब पता नहीं, इस रास्ते से मानव आगे कहाँ ढकेला जाएगा? विदेशों की इन विचारधाराओं में यही क्रम चला है कि सब मानव एक-दूसरे के विरोध में खड़े हैं, आपस में ईर्ष्या करते हुए स्पर्धा करना और स्वयं आगे नहीं बढ़ सकें तो दूसरे को पीछे खींचकर अपना वर्चस्व सिद्ध करते जाना, इस ईर्ष्यायुक्त खींच-तान को ही प्रगतिशीलता का नाम दिया जा रहा है। यह दावा किया जाता है कि इसमें प्रगति हुई है, तो विनाश भी कुछ कम नहीं हो रहा। सत्य तो यह है कि अंततोगत्वा इनके द्वारा विनाश ही अधिक होगा।

इन सब दोषों से बचकर एक सत्-तत्त्व की अनुभूति के आधार पर समष्टिजीवन का आदर्श हमने विश्व के सामने रखा है, परंतु इस संबंध में एक बड़ी कठिनाई है। वह यह, कि हमने सिद्धांत के अनुसार अपना आचरण करना बंद कर दिया है। यह दोष अन्य देशों के सभी दोषों से बड़ा है। जो व्यक्ति कुछ न जानते हुए गलती करे, उसे अधिक दोषी नहीं माना जाता; परंतु जो जानता है, फिर भी आचरण नहीं करता, वह बड़ा दोषी है। इस दोष के निराकरण का प्रयत्न भी करना होगा। सिद्धांत को ध्यान में रखकर उसे व्यावहारिक जीवन में उतारने का स्मरण रखना होगा।

अभिमान और निश्चय

समाज को इस आचरण-दोष से मुक्त करने का प्रचंड कार्य हमें करना है, और हिंदू जीवन के महान कल्याणकारी सिद्धांत को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की प्रगति में सत्य सिद्ध कर दिखाना है। इसलिए मैं एक छोटी-सी बात कहता हूँ कि देखो, ये सब बातें हमें करनी हैं तो अपने मन में यह अभिमान रखो कि मैं हिंदू हूँ। यह मेरा समाज है, राष्ट्र है, इसका अभिमान धारण करो। इतना निश्चय भी मन में धारण करो कि मुझे इस राष्ट्र को अपने वैशिष्ट्य के साथ संपूर्ण जगत् में महान बनाकर खड़ा करना है। बिना इस अभिमान और निश्चय के, प्रगतिसूचक कोई भी सामाजिक

परिवर्तन असंभव है। इसलिए इस अभिमान को पक्का करो। दुनिया चाहे कुछ कहे, कहती रहे, हम तो अपना संपूर्ण समाज एकात्म भावना से युक्त कर, अपना राष्ट्रजीवन यहाँ प्रस्थापित करेंगे। हमारे इस निश्चय से दुनिया टकराना चाहे तो टक्कर देंगे और जीतेंगे। ऐसा निश्चय और स्वाभिमान रहा, तो बाकी सब बातें अनायास आएँगी। यदि इसमें दुर्बलता रही, तो केवल हिंदू धर्म के ही नहीं, अन्य चाहे जितने सिद्धांत एकत्र किए, साक्षात् भगवान के पास से लाए हुए बताए तो भी उनका कोई उपयोग नहीं– यह मेरा स्पष्ट विचार है। आप भी इस गहराई से विचार करें।

अपने प्राचीन चिरंतन हिंदूराष्ट्र को विश्व में पुनः श्रेठ स्थान प्राप्त कराने का, इस राष्ट्र को बलसंपन्न, विजयशाली, सुखी और विश्व के सभी मानवों का कल्याण करने में समर्थ बनाने का जो उदात्त लक्ष्य हमने सामने रखा है, उसकी पूर्ति के लिए ही विभिन्न कार्य और कार्यक्रमों की रचना करने का ध्यान हम सबको रखना चाहिए। यही लाभदायक होगा। प्रयत्नपूर्वक यह ध्यान नहीं रखा, तो दिशाभूल होने का अंदेशा है। यदि ऐसा नहीं किया तो लक्ष्य की ओर आगे बढ़नेवाले हमारे पाँव किसी अन्य दिशा की ओर जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम आज की कॉंग्रेस संस्था को ही लें। कॉंग्रेस के प्रारंभ के नेतागण अपने राष्ट्र के इस हिंदू-जीवन का आग्रह बड़ी प्रखरता से रखते थे। वे हिंदूराष्ट्र भी बोलते थे। लोकमान्य तिलक जी के भाषणों में यह शब्द आया है। महायोगी अरविंद ने मातृभूमि की साक्षात् जगन्माता, आदिशक्ति, महामाया, महादुर्गा के नाते वंदना कर हिंदूराष्ट्र का बोध कराया है। विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने 'देवीभुवन मन-मोहिनी नीलसिन्धुजल, धौत चरणतल' कहकर इसी भाव को गुँजाया है और कवि बंकिमचंद्र के अमर गीत वंदेमातरम् में 'त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणी' आदि पंक्तियों में राष्ट्रजीवन की सच्ची भावना प्रकट हुई है। अपने राष्ट्रजीवन की पुरातन संस्कृति, सभ्यता, इतिहास और परंपरा का गौरवपूर्ण उल्लेख कांग्रेस के मंच से हुआ है। परंतु फिर, जिसे आजकल 'राजनीति के खेल' कहा जाता है, उसके दबाव आने लगे। भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों को प्रसन्न करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, जो हिंदूराष्ट्र शब्द से चिढ़ते थे। राजनीति की फिसलन में शब्दों की कसरत को बहुत बुद्धिमानी माना जाता है। इसलिए धीर-धीरे शब्द-प्रयोग बदल गए। हिंदी कहा, हिंदुस्तानी प्रयोग किया, इंडियन और उसके अनुवाद के नाते भारतीय शब्द-प्रयोग हुआ। राजनीति की इस दुर्बलता को छिपाने के लिए तर्क भी दिए गए कि नाम

में क्या रखा है? कुछ लोगों को हिंदू से आपत्ति है, तो भारतीय कहो!

यह सत्य भी है कि भारतीय शब्द बहुत प्राचीन है। अपनी इस मातृभूमि का जो प्राचीन वर्णन उपलब्ध है, उसमें 'भारत' शब्द का प्रयोग मिलता है–

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

(विष्णुपुराण २-३-१)

इसलिए भारत अथवा भारतीय शब्द का प्रयोग होना आनंद की बात ही है। परंतु 'इंडियन' कहकर हिंदू शब्द को भुलाने का यत्न करना और फिर 'इंडियन' के अनुवाद के नाते 'भारतीय' शब्द का प्रयोग करना कुछ बेसिरपैर की बात है। अपने राष्ट्रजीवन के संबंध में विचार करने का तरीका बदल गया। धीरे-धीरे यह बात बढ़ती गई और अब इस सीमा तक आ पहुँचे हैं कि हिंदू शब्द से भी उन्हें अरुचि उत्पन्न हो गई। 'घृणा होना' शब्द कुछ अधिक कठोर है, इसलिए 'अरुचि होना' कहना ही ठीक है। धीरे-धीरे कितना अंतर आता है उसका यह उदाहरण हैं।

इसलिए इस सत्य के असंदिग्ध प्रतिपादन की आवश्यकता है कि वेदकाल से 'पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्' के रूप में जिस मातृभूमि की वंदना की गई है, और आज भी 'गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति, नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन सन्निधिं कुरु'– मंत्रोच्चारण करके जिसका स्मरण किया जाता है, वह हिंदुभूमि ही है। अखंड, अविभाज्य हमारी मातृभूमि, यह भारत माता है। आजकल प्रचलित वायुमंडल में तो हिंदूराष्ट्र के इस आग्रह को अत्यधिक तीव्र बनाए रखना आवश्यक है। हिंदू को संकीर्ण और सांप्रदायिक निरूपित करने का प्रचार इतने जोर से है, कि कई लोगों को हिंदू कहने का साहस तक नहीं होता। उल्टे इस बात का दबाव डाला जाता है कि 'हिंदू' शब्द को ही निकाल दो। उदाहरणार्थ– महायोगी अरविंद शताब्दी समारोह के समय भारत सरकार से साहित्य प्रकाशनार्थ कुछ सहयोग लेने की बात हुई, तो ऐसा सुना जाता है कि भारत सरकार ने आर्थिक सहयोग देने के लिए श्री अरविंद आश्रम के सामने दो शर्तें रखीं। पहली शर्त यह कि श्री अरविंद आश्रम से अखंड भारत का मानचित्र हटाकर वर्तमान राजनैतिक भारत का मानचित्र वहाँ लगाया जाए। दूसरी शर्त यह थी कि श्री अरविंद के साहित्य में हिंदू, सनातन धर्म, हिंदू-राष्ट्र आदि शब्दों का जो उल्लेख है, वह प्रकाशित साहित्य में न करें। श्री अरविंद आश्रम के

लोगों ने इन शर्तों को स्वीकार नहीं किया। सब जानते हैं कि उस महायोगी की कृपा और आश्रम की चेतनास्वरूप माताजी के अंतःकरण की दृढ़ता से ऐसा हुआ। आश्रम की ओर से साफ कह दिया गया कि धन नहीं देना तो न दो, परंतु– 'सोल ऑफ हिज टीचिंग्स् केन नॉट बी चेन्ज्ड' (योगी अरविंद की शिक्षा की आत्मा को बदला नहीं जा सकता।) योगिराज अरविंद की आस्था और उनकी शिक्षा के मौलिक सिद्धांतों के साथ कोई समझौता नहीं हो सकता। इस उदाहरण में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस प्रकार का दबाव आता है कि 'हिंदू' को छोड़ दो। इस स्थिति में ऐसे लोग हो सकते हैं, जो सोचें कि 'हिंदू' का प्रयोग करने में लाभ नहीं है। इसलिए इससे दूर-दूर रहने का यत्न करें। किसी प्रकार समझौता करने का विचार करें। आजकल के राजनीतिक वायुमंडल में शीघ्र लोकप्रियता पाने की लालसा से, हिंदुत्व को छोड़ना भी बुद्धिमानी माना जाता है!

परंतु क्या यह हितावह होगा? यह अपना हिंदूराष्ट्र है– इस ऐतिहासिक अनुभूत सत्य को यदि त्याग दिया तो क्या राष्ट्र के लिए त्याग, बलिदान, परिश्रम और विजय की आकांक्षाएँ शेष रह सकेंगी? मुझे ऐसा लगता है कि आज भी अपने व्यक्तिगत जीवन की सुख-सुविधा और आशाओं को लात मारकर राष्ट्रसेवा में निश्चयपूर्वक जो लोग लगे हैं, उसका कारण उनके अंतःकरण में विराजमान प्रेरणा है कि यह हमारा सनातन हिंदू-राष्ट्र है और इसे विश्व में सार्वभौम सत्तासंपन्न, सुखी बनाकर हम दिखाएँगे। इस लक्ष्य की प्रेरणा से एकाग्रचित्त लोग खड़े हैं। यह प्रेरणा यदि छोड़ दी, तो समर्पित जीवन की परंपरा समाप्त हो जाएगी। वेतनभोगी लोग भले ही मिलें, परंतु सर्वस्वार्पण करने की उदात्त भावना लुप्त हो जाएगी।

शब्द-प्रयोग और भावशुद्धता

इसलिए अपने राष्ट्रजीवन के संबंध में जो भी पर्यायवाची शब्द-प्रयोग करें, उसमें असंदिग्ध रूप से हिंदूराष्ट्र की तेजस्विता प्रकट होनी चाहिए। जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में काम करनेवाले कार्यकर्ताओं को अपने चारों ओर स्पष्ट रीति से इस सिद्धांत की तर्कशुद्धता, इतिहासशुद्धता और भावशुद्धता को प्रकट करते चलना चाहिए। मेरा अनुभव है कि लोग इस सत्य सिद्धांत को आदरपूर्वक सुनते और मानते हैं।

इस प्रकार कार्य करने से दूसरा एक लाभ यह भी है कि विभिन्न क्षेत्रों में सहज सामंजस्य स्थापित होता है। आज विभिन्न क्षेत्रों में अपने

कार्यकर्ता बंधु लगे हैं। कई बार कहा जाता है कि इन सबके बीच परस्पर सामंजस्य होना चाहिए। इसके लिए क्या इतना पर्याप्त है कि किसी प्रश्न के उपस्थित होने पर ही मिलें और विचार करें। प्रश्न उपस्थित होने पर आपस में विचार-विनिमय तो करना ही होता है। परंतु यदि सबका एक लक्ष्य – 'हिंदूराष्ट्र की स्थापना'– रहा, तो परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुए प्रश्नों पर सामंजस्य खोजने में देरी नहीं होगी।

इसलिए हम अपनी दैनंदिन शाखा में मातृभूमि का वंदन कर असंदिग्ध रूप से 'वयं हिंदुराष्ट्रांगभूताः' कहते हैं। इस सिद्धांत से प्रेरित होकर हम लोग कार्य कर रहे हैं। चारित्र्यसंपन्न, याने धर्मनिष्ठ, स्वार्थशून्य और सत्ता, प्रतिष्ठा, मान सम्मान आदि सभी प्रकार की अभिलाषाओं से परे, केवल अपने समाज की प्रतिष्ठा में ही परिपूर्ण संतोष माननेवाले लोगों की काफी अच्छी-बड़ी संख्या निर्माण करने का अपना कार्य है, जिन्हें देखकर शेष समाज भी यह आत्मविश्वास प्राप्त कर सके कि ध्येयनिष्ठ जीवन द्वारा हम भी अच्छे हो सकते हैं। जिन्हें समाज में सहज विश्वास और प्रेम प्राप्त होता हो और जिनकी ओर समाज मार्गदर्शन पाने की इच्छा से देखता हो, ऐसे लोगों की सूत्रबद्ध अनुशासित शक्ति खड़ी करने की आवश्यकता है, जिसके कारण इस विशाल समाज को प्रेम और विश्वास के आलिंगन में समाविष्ट कर सबके कल्याण के लिए प्रयास हो सकता है। यही शक्ति खड़ी करने का कार्य है। इस कार्य को हमें करना है। यह अपना काम है। हम अपने से ही उसे प्रारंभ करें। परोपदेश नहीं करना। परोपदेश से यह काम नहीं होगा। अपने अंदर ही उस प्रकार के शील, संपूर्ण समाज के साथ तादात्म्य की भावना, प्रत्येक के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होने की क्षमता, दुःख को दूर हटाने के लिए व्यक्तिशः और सामूहिक योजनाबद्ध होकर कार्य करने की तैयारी को विकसित करें; फिर संघ के बारे में और कुछ बोलने की जरूरत नहीं। राष्ट्र के सब प्रकार के दुःखों का निवारण करनेवाली और संकटों के सामने अभेद्य दीवार के रूप में खड़ी होकर सुरक्षितता प्रदान करनेवाली राष्ट्रीय शक्ति और चेतना का हमें निर्माण करना है। इसलिए अपना काम है कि अपने जीवन में आनेवाली सभी दुर्बलताओं को, विकृतियों को उखाड़ फेंकने के लिए चाहे जितना कठोर कदम उठाना पड़े, उठाने की तैयारी रखना और सूत्रबद्धता से कार्य करने का गुण अपने अंदर लाने का प्रयत्न करना आवश्यक है। बस, इतना ही काम अपना रहता है। यही संघ है।

ॐ ॐ ॐ

२. समाज-व्यवस्था का विचार

(३० अक्तूबर १९७२)

जिसे 'आधुनिक जीवन' कहा जाता है, वह विश्व के कुछ देशों में दिखाई देता है। इन देशों की इस आधुनिक सुखपूर्ण जीवन की प्रक्रिया का विचार जब हम अपने देश के जीवन-सिद्धांतों के आधार पर करते हैं, तो हमें कुछ बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं। पहली बात यह सामने आती है कि इस सुखपूर्णता के पीछे एक सतत स्पर्धा है। सुखोपभोग के साधन जुटाने के लिए लोग एक-दूसरे से स्पर्धा करते हैं। इसके साथ दूसरा विचार भी वहाँ दिखाई देता है, जिसे आजकल की प्रचलित भाषा में 'परमिसिव सोसाइटी' का विचार कहा जा रहा हैं। 'परमिसिव सोसाइटी', अर्थात् जहाँ मनुष्य को सब बातों की छूट है। किसी पर कोई बंधन नहीं। 'परमिसिव' का सीधा मतलब है मनमानी करना। सब कुछ चलेगा– ऐसा बोला और सोचा जाता है। लेखन, भाषण, चिंतन– सभी क्षेत्रों में इसका अनुगमन होता है।

अपने देश में भी यह परमिसिव याने मनमानी करने का विचार-प्रवाह थोड़ा-थोड़ा आने लगा है। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इस विचार-प्रवाह को रोकना चाहिए? क्या इसकी गति रोकी जा सकती है? यदि ऐसा मत हो कि उसे रोकना चाहिए तो क्या उसके लिए कोई उपाय-योजना सोची जा सकती है?

किंतु यदि लोग ऐसा सोचते हों, इसे रोकना नहीं चाहिए, वह अच्छा है और समाज की उन्नत अवस्था का लक्षण है, तब तो उन्हें यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिए कि इस परमिसिव विचारधारा में 'समाज' नाम की वस्तु समाप्त हो जाती है। जो कुछ बचता है वह केवल 'कॉन्ट्रेक्ट-थ्योरी' (संविदा-उपपत्ति) है। व्यक्ति को अपने जीवन में जो परमिसिवनेस, याने मनमानी की छूट चाहिए उसमें कहीं कोई बाधा न पहुँचे, इसलिए व्यक्ति आपस में करार या समझौते कर लें। इन करार या समझौतों के कारण मनुष्य का समूहीकरण होता हैं। पश्चिम के देशों में इसी प्रकार की संविदा-उपपत्ति चलती है। इसमें व्यक्ति मनमानी करने की छूट लेता रहता है और बोलता है कि समाज तो केवल व्यक्तियों द्वारा किए गए करारों का ही परिणाम है। इस स्थिति में समाज नाम की सत्ता ओझल हो जाती है। भारत में समाज नाम से विशेष जीवमान समष्टि की जो कल्पना हम करते हैं, वह समाप्त हो जाती है।

स्पर्धा

इसके साथ ही वहाँ जो दूसरी बात चलती है, वह है स्पर्धा। लोगों का ऐसा कथन है, कि स्वस्थ स्पर्धा से प्रगति होती है, परंतु मुझे ऐसा लगता है कि यह स्पर्धा नाम की जो बात हैं, वह कभी स्वस्थ नहीं रहती। स्वस्थ रह ही नहीं सकती। स्पर्धा कहते ही उसमें पहले भले ही कुछ अच्छा दिखाई दे, परंतु अति शीघ्र उसमें बिगाड़ उत्पन्न हो जाता है। स्वस्थ स्पर्धा के संबंध में कहा जाता है कि यह दूसरे से अधिक अच्छा बनने की प्रेरणा देती है, परंतु स्पर्धा होते ही अनुभव में आता है कि स्वयं अच्छा बनने के विचार को छोड़कर स्पर्धा करनेवाले दूसरे का अपने से अधिक बुरा करने की चिंता में लग जाते हैं। स्वयं ऊँचा उठने के स्थान पर दूसरे को नीचे खींचने में स्पर्धा होने लगती है। खेलकूद के क्षेत्र में भी आजकल यही हो रहा है। सचमुच देखा जाए, तो ये केवल खेल हैं। कोई हारे, कोई जीते, आनंदपूर्वक इसे स्वीकार कर प्रत्येक को अपने गुण, अपनी कुशलता, अपनी तेजी बढ़ाने का यत्न करना चाहिए, परंतु आजकल दिखाई देता है कि खेलकूद भी स्पर्धा में स्वस्थ नहीं रहे। कोई जब हारने लगता है, तो मारपीट पर उतर आता है। तरह-तरह की चालाकियाँ खोजकर आगे निकलनेवाले के पैर खींचने की कोशिश होती है। इसलिए स्पर्धा में पहले भले ही कुछ अच्छा दिखाई दे, परंतु बाद में यह स्वस्थ नहीं रह सकती। मनुष्य-स्वभाव को देखकर यही कहना पड़ता है कि स्पर्धा में स्वस्थता नहीं रह सकती। संसार में भिन्न-भिन्न झगड़े चल रहे हैं। जहाँ तक बोलने का प्रश्न है, सभी बोलते हैं कि शांति चाहिए, परंतु आपसी संघर्ष बढ़ते जा रहे हैं। एक राष्ट्र की प्रगति दूसरे को खतरे की सूचना देती है। कभी गुट बनाकर तो कभी अकेले ही अन्य राष्ट्रों की प्रगति को कुंठित करने के लिए जागतिक शक्तियाँ कार्य करती हैं। संघर्ष होते हैं। दूसरों का सुख नष्ट करने की इच्छा होना, यही इन संघर्षों के मूल में विद्यमान कारण है। इस प्रकार हम पाते हैं कि स्पर्धा अंततोगत्वा आपसी संघर्ष में परिणत हो रही है। पश्चिमी देशों में प्रचलित इस 'परमिसिवनेस' और 'कॉम्पीटीशन' में से मनुष्य का सुखी होना असंभव है।

मनुष्य-जीवन का लक्ष्य

इस संदर्भ में एक और विचार भी महत्त्वपूर्ण है कि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य क्या है? मनुष्य अपने सामने जीवन का लक्ष्य कौन-सा रखे?

चैनबाजी, ऐशो-आराम करना क्या मनुष्य का उद्देश्य हो सकता है? वैसे, मोटे तौर पर सभी लोगों का एकमत है कि सुख ही मनुष्य का लक्ष्य है। सुख क्षीण हो, तो वह दुःख का कारण बनता है। इसलिए स्वाभाविक ही मनुष्य चाह करता है कि सुख चिरंतन चाहिए। ऐसा सुखी जीवन, जो अमर हो, कभी समाप्त न हो। मनुष्य-जीवन की यह चाह उसे खींचती है, याने अपना मूल स्वरूप पहचानकर उत्तम आनंदपूर्ण चिरंतन जीवन प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्नशील होता है। यही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य माना गया है।

शरीर धारण कर मनुष्य विचरण करता है। इसलिए शरीर की कई आवश्यकताओं की पूर्ति भी मनुष्य को करनी पड़ती है। उन आवश्यकताओं में अनेक प्रकार के उपभोग भी आते हैं। इन उपभोगों को अमान्य कर देने से संसार में काम नहीं चलेगा। इन्हें अमान्य किया, तो उपभोग की इच्छा रखनेवाले इस विचार के प्रति विद्रोह करने खड़े हो जाएँगे। यह व्यावहारिक बात नहीं कि उपभोगों को अमान्य कर दिया जाए। इसलिए श्रेष्ठ पुरुषों ने इस विषय पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करते हुए कहा है कि शरीर और मन की इन उपभोग-प्रवृत्तियों की पूर्ति में ही मनुष्य डूबा न रहे, अपने-आपको नष्ट न करते हुए मनुष्य को जीवन के श्रेष्ठतम लक्ष्य का विचार करना चाहिए।

लक्ष्य है सुखी होना। इस लक्ष्य की अनुभूति भी कहीं बाहर से करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह अनुभूति सहज सभी को प्राप्त है। संसार का कोई भी जीव ऐसा नहीं, जो सुख न चाहता हो। यह सुख भी दिन-दो दिन का नहीं, वरन् स्थायी सुख की कामना प्रत्येक जीव करता है। ऐसे सुख की इच्छा, जो कभी क्षीण न हो, याने दूसरे शब्दों में- सुख के अमरत्व की चाह जीव में विद्यमान है। 'यावच्चंद्र-दिवाकरौ' ही नहीं तो त्रिकाल को पारकर भी मैं सुखमय बना रहूँ- ऐसी इच्छा प्राणी मात्र की रहती है। सब प्राणियों में तो इस चिरंतन सुख को समझने की बुद्धि रहती नहीं, इसलिए सर्वसामान्य इंद्रियों की जो उमंगें रहती हैं, उन्हीं की पूर्ति के पीछे भागने में प्राणिमात्र लगा रहता है, परंतु मनुष्य तो विचारवान प्राणी है। इसलिए उन सब उमंगो को संतुष्ट करने के लिए वह विभिन्न प्रयत्न करता है। इन प्रयत्नों में सर्वसामान्य प्रयत्न अन्य प्राणियों जैसा ही होता है। सृष्टिकर्ता ने इंद्रियों की रचना इस प्रकार की है। वे बाहर दौड़नेवाली हैं। इसलिए ये इंद्रियाँ अंदर की ओर मुड़कर वास्तविक सुख को देखने के

लिए भी तैयार नहीं है। इस संबंध में विद्वानों के बहुत स्पष्ट कथन हैं। एक मंत्र मैंने विद्वानों से सुना है, जिसमें कहा गया है कि इंद्रियाँ तो बाहर देखनेवाली हैं और बाहर की वस्तुओं से सुख प्राप्त करने के लिए दौड़ती हैं। इंद्रियों का यही स्वभाव है, परंतु इसी मंत्र में आगे कहा गया है कि इंद्रियजन्य कोई भी सुख ऐसा नहीं, जो दुःख का कारण न बना हो। विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि इंद्रियजन्य सभी सुख दुःखांत ही हैं। विचारवान पुरुष यह समझ लेते हैं कि इससे वास्तविक सुख नहीं मिलता। तब मनुष्य सोचता है कि मेरे अंदर चिरकालीन शाश्वत सुख की चाह है, इसीलिए यह कहीं न कहीं होना जरूर चाहिए। वह बाहर नहीं मिलता, तो क्या अंदर विराजमान है? सुख के अमरत्व की चाह है, तो कभी क्षय न होनेवाला सुख भी कहीं है अवश्य। यह सुख कैसे मिले? चैन की जो वस्तुएँ हैं, उनसे थोड़ा-बहुत सुख मिलने की बात लोग करते हैं। अच्छे कपड़े चाहिए, अच्छी भोज्य-वस्तुएँ चाहिए। इन आवश्यकताओं की पूर्ति से आराम मिलता है और उपभोग की इच्छा कुछ तृप्त होती है। इसके लिए लोग प्रयत्न भी करते हैं, परंतु अनुभव में आता है कि इनकी तृप्ति नहीं होती। जितना उपभोग करते जाओ, उतनी उसकी अभिलाषा बढ़ती जाती है। जहाँ अभिलाषा और कामना है, वहाँ सुख कहाँ? इस स्थिति में मनुष्य सोचता है कि अभिलाषाओं को तृप्त करते बैठने से यदि सुख नहीं मिलता, तो कहाँ मिलेगा? सुख तो मिलना ही चाहिए, यही लक्ष्य है। सुखी जीवन प्राप्त किए बिना वह रह नहीं सकता।

स्वस्थ स्थिर शांत मन से सुखानुभूति

इस संबंध में अपने भारतीय विचारकों का मत है कि सुख तो अपने अंदर ही है। उसी को किसी न किसी प्रकार का बाह्य निमित्त बनाकर हम अनुभव करते हैं। सुख बाहर की वस्तु नहीं, अपने अंदर ही है। बाहर की वस्तु में सुख नहीं, वह निमित्त मात्र है। इस संबंध में अधिक विस्तार से नहीं कहूँगा। पुरानी बात है। मेरे पहचान के एक योगी थे। उन्होंने कहा कि बाहर की वस्तुओं को निमित्त बनाकर मनुष्य जो सुख प्राप्त करता है, उसमें भी उसे जिस क्षण सुख होता है, उस क्षण वह निमित्त को भी भूल जाता है, याने हम अपने ही सुख का अनुभव करते हैं। अपना जीवन सुख से भरा हुआ है। सुख ही उसका स्वरूप है। तब सिद्ध हुआ कि चिरंतन सुख वही है, जो बिना किसी निमित्त के हो। इसकी प्राप्ति के

लिए क्या करना चाहिए? अपने पूर्वजों ने बहुत अनुभव और गहन चिंतन के आधार पर इस संबंध में कुछ मार्गदर्शक बातें बताई हैं। उन्होंने बताया कि एक बात पक्की है कि जो अस्वस्थ और अस्थिर मन है, वह कभी सुख का अनुभव नहीं कर सकता। इसीलिए मन शांत चाहिए। पर जो भिन्न-भिन्न उमंगें उठती रहती हैं, उन्हें उठने नहीं देना चाहिए। जिस प्रकार जल पर तरंगें उठती हैं तो उसमें कुछ नहीं दिखाई पड़ता। अपना चेहरा भी उसमें दिखाई नहीं पड़ता। तरंगें बंद होने पर जल स्थिर होता है, तो सब-कुछ दिखाई पड़ता है; ठीक वैसे ही मन स्थिर रहा, तो मूल स्वरूप समझा जा सकता है। अस्थिर मन से सुखानुभूति तो क्या, उसका भास भी होना भी संभव नहीं। मन की सब तरंगों को शांत करना जरूरी है। इसी में से बिना किसी बाहरी निमित्त के सुख की अनुभूति होकर कृतार्थता प्राप्त होगी।

ये निष्कर्ष हमारे पूर्वजों ने अपने अनुभवों के आधार पर, मनुष्य के सुख की खोज के संबंध में दिए हैं।

इस आधार पर हम सोचें कि विश्व में प्रगतिशील कहलानेवाले जो देश हैं, वहाँ स्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष, कटुता और दूसरे का सुख देखकर उत्पन्न होनेवाली शत्रुता आदि बातें हैं। क्या उनमें मनुष्य के मन को शांत और स्थिर करने की कोई संभावना है? कहना होगा कि वहाँ मन को इस प्रकार शांत करने पर ही प्रतिबंध है। ऐसी स्थिति में मन शांत हो ही नहीं सकता। कामनाओं के ज्वार-भाटे रुक नहीं सकते। फिर सुख कैसा? इसलिए भारत में हमें शिक्षा दी जाती है कि दूसरे का ऐश्वर्य दिखाई दे तो ईर्ष्या मत करो, उसका अभिनंदन करो। तुम स्वतंत्र रूप से अपनी प्रगति का प्रयत्न करो, परंतु उसके साथ स्पर्धा, ईर्ष्या करने की बात मन में मत लाओ, अन्यथा दूसरों को सुखी देखकर दुःखी होने की बात आएगी। इससे मन की शांतता प्राप्त नहीं होगी। मन को यदि शांत और प्रसन्न रखना है, तो स्पर्धा से भरे हुए आजकल के इस तथाकथित प्रगतिशील जीवन के संबंध में गंभीरतापूर्वक यह विचार करना होगा कि इसमें से सुखोपभोग का विचार कितना और कैसे ग्रहण करना, ताकि अपने मूल जीवन-लक्ष्य में कोई विघ्न उपस्थित न हो। कारण, इसमें तो कोई संदेह नहीं कि मनुष्य शरीरधारी है। शरीर को ऐहिक सुखोपभोग कितना और किन तरीकों से चाहिए– इसका विचार यदि करना है, तो आँख मूँदकर विदेशी लोगों का अनुकरण करने

से बात नहीं बनेगी। इस संबंध में अपने पूर्वजों ने कहा है कि दूसरे के पीड़ित होने पर मन में कारुण्य-भाव और उस करुणा के कारण उसे दुःख से मुक्त करने की चेष्टा अपने अंदर रहनी चाहिए। इससे एक प्रकार का संतोष और सुख देनेवाली निःस्तब्ध अवस्था प्राप्त हो जाएगी। यह स्पर्धा से नहीं होगा। स्पर्धा से तो दूर रहना ही ठीक है।

जहाँ तक 'परमिसिव सोसाइटी' की बात है, वह तो सब प्रकार से हानिकर ही है। नियम-विहीन अवस्था का वर्णन अपने पुराणों में भी आता है। बहुत प्राचीन काल में कोई नियम नहीं थे, परंतु लोगों ने अनुभव किया कि उससे अनाचार बढ़ रहे हैं। तब ऐसा निश्चय किया गया कि नियम बनाकर उनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य को चलना चाहिए। इस प्रकार अति प्राचीनकाल से यह अनुभव की बात है कि 'परमिसिव सोसाइटी' की बात अनाचार बढ़ानेवाली है और आगे चलकर तो यह मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बनाकर जीवन उध्वस्त कर देनेवाली होगी। आज भले ही लोग उसके संबंध में कुछ कहें, परंतु मानव-जीवन को केवल सौ-पचास वर्षों के अनुभवों के आधार पर घसीटना योग्य नहीं होगा। मानव के लिए क्या हितकर है और क्या अहितकर, इसका विचार गहन अनुभवों के आधार पर ही करना चाहिए।

संयमपूर्ण उपभोग

इस संबंध में अपने देश में यह विचार किया गया कि अमर्यादित उपभोगलालसा और उसकी तृप्ति के लिए स्पर्धापूर्ण दौड़ से सुख नहीं प्राप्त हो सकता। इसीलिए आवश्यक माना गया कि अपने जीवन में संयमशीलता लानी चाहिए। व्यक्ति के नाते और समाज के नाते भी यह संयमशीलता जरूरी है। समाज के नाते संयमशीलता लाने में कठिनाई स्पष्ट है। इसलिए अपने यहाँ चार पुरुषार्थों की कल्पना की गई है। ये चारों पुरुषार्थ इसी संयम से भरे हुए जीवन के निर्माण के लिए हैं। व्यक्ति और समाज, दोनों प्रकार से कर्तव्यों का विचार हो। धर्म के आधार पर दोनों नियंत्रित हों और फिर इस प्रकार धर्म-नियंत्रित जीवन से अर्थ और काम-पुरुषार्थ की आराधना करें। याने उपभोग, सत्ता धन, संपत्ति, ऐशो-आराम के साधन आदि ये सब धर्म से नियंत्रित हों और नियंत्रण को पूर्ण करने के लिए सदैव मोक्षरूपी यह चाह बनी रहे कि अपने मूल सुखमय स्वरूप की

अनुभूति हो। यही चाह, याने चौथा पुरुषार्थ 'मोक्ष' हमारे सामने रखा गया है। इस चौथे पुरुषार्थ को कोई भी नाम दो, इससे अंतर कुछ नहीं पड़ता। परंतु यह चौथा पुरुषार्थ इसीलिए अपने सामने रखा कि अपने मूल स्वरूप को पाने की चाह बनी रहे। पहले और चौथे पुरुषार्थों के नियंत्रण में संपूर्ण जीवन चले। उपभोग प्राप्त करना, उपभोग के साधन प्राप्त करना, ऐशो-आराम करना आदि बातें इन दो पुरुषार्थों के नियंत्रण में रखनी चाहिए। ठीक वैसे ही, जैसे नदी का पानी यदि दो पाटों के बीच बहता है तो उसका उपयोग सब कर सकते हैं, अन्यथा यदि वह पाट तोड़कर बहने लगे तो विध्वंस भी मचाता है और इधर-उधर बहकर नष्ट होने से उसका उपयोग भी नहीं होता। इसलिए इस उपभोग की नदी का दो तीरों के बीच बहना ही सुखकारक है। प्रथम पुरुषार्थ और चतुर्थ पुरुषार्थ के बीच जीवनधारा निश्चित कर मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक, सब प्रकार के इहलोक संबंधी जितने उपभोगों की गुंजाइश होगी, उन सबका विचार होना चाहिए। इतनी मात्रा में ये उपभोग रहने ही चाहिए– ऐसी हमारी सामाजिक व्यवस्था के गठन की कल्पना की गई है।

मुझे ऐसा लगता है कि उपरोक्त कल्पना मनुष्यमात्र को सुख देनेवाली है। स्पर्धा आदि में संघर्ष होते रहते हैं। इस स्पर्धा और उसके कारण समाज की होनेवाली खराबी को रोककर, सब प्रकार के ऐहिक सुखोपभोग प्राप्त होकर भी उन्हें संयमित रखते हुए और जीवन में अंतिम लक्ष्य का ध्यान पक्का बनाए रखकर चलने से मनुष्य वास्तविक रूप से सुखी होगा। व्यक्ति के नाते और समाज के नाते भी, दोनों प्रकार से जीवन में संतोष और सुख मिलेगा।

संघकार्य की उपयुक्तता

समाज-व्यवस्था का शुद्ध, अनुभवपूर्ण, चरितार्थ हुआ और सदियों तक पालन किया गया यह विचार हमारे पास है। हमें सोचना चाहिए कि हमारे पास जो विचार है, उसमें संसार के समक्ष श्रेष्ठत्व प्रकट करने योग्य कुछ है या नहीं? अगर है, तो हमें उसे अपने अंदर भली-भाँति अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील होकर चलना चाहिए या नहीं?

यदि उत्तर यह आता है कि हाँ, अपने यहाँ का विचार अच्छा है, श्रेष्ठ मानव कल्याण का है, इसकी व्याप्ति जागतिक है, यह संपूर्ण मानव

जाति को सच्चे सुख का दर्शन कराने की क्षमता रखता है और इसीलिए हमें अपनी समाज-व्यवस्था में इसे बहुत अच्छी तरह अभिव्यक्त करने हेतु प्रयत्नशील भी होना है, तब तो समाज की वर्तमान परिस्थिति में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य की उपयुक्तता हम लोग रख सकेंगे। उसका विचार विश्व के सामने रखेंगे।

यदि अपने मन में ऐसा विचार आता हो कि यह सब पुरानी बातें हैं। आजकल पोथीनिष्ठ, पोथीपंथी आदि 'शब्द' शुद्ध हिंदू के लिए प्रचलित हैं– वैसा यह विचार है। इन बातों को अमान्य कर आधुनिक काल में जिस प्रकार ऐश्वर्य की स्पर्धा, सत्तास्पर्धा चलती है, उन्हीं स्पर्धाओं में हम लोग भी दौड़ चलें तो संघ का विचार करना कठिन हो जाएगा। नए ढंग से 'पोलिटिकल इन्स्ट्रूमेंट' (राजनैतिक उपकरण) के नाते विचार भले हो सकता है, जिसका आजकल कई लोगों को अभ्यास भी हो गया है। 'पोलिटिकल इन्स्ट्रूमेंट' कहने के बाद तो रोज बदलनेवाली बात है ही। तब तो संघ का भी संपूर्ण स्वरूप, सिद्धांत-विचार सब कुछ परिवर्तित करना अपने लिए आवश्यक मानना होगा और अनिवार्य भी हो जाएगा। ये पुरानी बातें हैं– ऐसा कहकर यदि छोड़ देना हो, तो फिर हम लोग जिसे 'चारित्र्य' कहते हैं, वह सब बेकार है। फिर उसका कोई उपयोग नहीं। जिसके द्वारा ऐशो-आराम, ऐश्वर्य-सत्ता प्राप्त होती हो, उसी का विचार करना होगा। इतना ही नहीं, हम जिसे हिंदू-संगठन कहते हैं, वह भी छोड़ देना होगा, क्योंकि 'हिंदू शब्द में जिस जीवन-रचना का भाव छिपा है, मानव को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए अनुभवपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं, उस आधार पर जो मान्यताएँ, व्यवस्थाएँ, स्थापित हुई हैं, जो शताब्दियों के झंझावातों में अविचल रहकर सार्थकता प्रकट करती रही हैं और आज भी जो विश्व की मानवता को परिपूर्ण सुख के एकमेव मार्ग का दिग्दर्शन करा रही हैं, उस जीवन-रचना की चैतन्यता का विचार किए बिना समाज-संगठन का कोई अर्थ ही नहीं रहता। समाज-संगठन करना है तो मानव-जीवन का परिपूर्ण विचार रखना ही होगा और वह केवल अपने देश की अति प्राचीनकाल से चली आई विचारधारा में ही निहित है; अन्यत्र कहीं नहीं।

३. प्रजातंत्र का स्वरूप

(३१ अक्तूबर ७२, प्रातः ८ बजे)

प्रचलित राजनीति

प्रचलित राजनीति में मेरी रुचि कभी उत्पन्न नहीं हुई और विशेषकर आजकल राजनीति के नाम पर देश में जो कुछ चलता हुआ दिखाई दे रहा है, उसे तो मेरी जैसी बुद्धिवाले व्यक्ति को कुछ सोच-समझ पाना ही कठिन है। वोटों की राजनीति में क्या कुछ नहीं किया जाता। देशहित की घोषणाएँ जरूर की जाती हैं, परंतु काम देशहित को ताक पर रखकर विभिन्न प्रकार के स्वार्थों को उभारने का ही होता है। आजकल भाषावाद का चारों ओर बोलबाला है और यह भाषावाद कभी-कभी अनिष्ट रूप भी धारण कर लेता है। यहाँ तक कि भाषा के आधार पर अलग-अलग राष्ट्र, ध्वज और सेनाएँ बनाने के प्रयत्नों तक भी लोग जा पहुँचे हैं। इन सबका समर्थन करने के लिए युक्तियाँ भी खोज निकाली जाती हैं। कहा जाता है कि यह अलगाव और बिखराव आज ही आया है, सो बात नहीं। पहले भी भारतवर्ष में राजनीतिक एकता नहीं थी। अनेक राज्य थे। यदि कभी एक साम्राज्य बना भी था तो वह मात्र ढीला-ढाला रहता था। अलग-अलग, छोटे-छोटे राज्य यहाँ थे। छोटे-छोटे राज्य स्वतंत्र रहते थे। इसलिए आज भी यदि अलग-अलग राज्यों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व हो तो इसमें बुरा क्या है? इस प्रकार युक्तियाँ खोजकर लोगों को बताई जाती हैं। जनभावनाओं को उछाला जाता है। राजनीतिक क्षेत्र का व्यक्ति शीघ्र सफलता पाने की लालसा रखता है। इसलिए इस बात का विचार नहीं करता कि आगे परिणाम क्या निकलेगा। केवल यही सोचता है कि इन बातों का उपयोग किस प्रकार वह अपने लिए कर ले। इन सब तरीकों से देश में विच्छिन्नता बढ़ रही है। विशेषतः आजकल, जबकि धर्म और संस्कृति की पकड़ ढीली पड़ गई है, विच्छिन्नता बढ़ते जाने का ही भय अधिक है।

हम लोगों ने तो पहले ही कहा था कि भाषा के आधार पर इतने राज्य बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। संपूर्ण देश की सुस्थिर और अच्छी राज्यव्यवस्था बनाने के लिए जो भी छोटे-बड़े राज्य बनें, फिर उनमें एक भाषा के लोग रहें, दो के रहें अथवा तीन भाषाओं के रहें, भाषाओं के झगड़े का विचार छोड़कर राज्य-रचना करनी चाहिए। सब भाषाओं का

पोषण भी उसी में हो सकता है। जिस प्रकार व्यवस्था और सुयोग्य शासन का विचार कर जिले बनाए जाते हैं, उसी प्रकार राज्य बनें।

प्रजातांत्रिक व्यवस्था

उसी प्रकार संपूर्ण देश की रचना में हमने जो दूसरा निर्णय किया है, वह है प्रजातांत्रिक व्यवस्था का। विश्व में जितने प्रकार की राज्य-व्यवस्थाएँ हैं, उनमें सबसे कम खराब इस व्यवस्था को माना गया है। संपूर्ण प्रजा को इस व्यवस्था में प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। परंतु इस व्यवस्था की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि सर्वसामान्य समाज भली प्रकार से सुशिक्षित हो। केवल सुशिक्षित ही नहीं, उसे अर्थनीति, राजनीति, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की जानकारी आदि बातें भी अच्छी प्रकार से विदित होनी चाहिए। इस प्रकार शिक्षित और जानकार समाज ही अपने योग्य प्रतिनिधि चुनने में समर्थ हो सकता है। यदि ऐसा नहीं हुआ और सर्वसामान्य समाज अशिक्षित तथा जानकारीविहीन रहा तो वह किसी स्वार्थ और प्रलोभन के प्रभाव में आकर अयोग्य व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुन सकता है। फिर पाँच साल तक पछताता रहता है कि हमने आखिर यह क्या किया। प्रशिक्षित और जागरूक मतदाता न होने के कारण प्रजातंत्र की यह दुरवस्था उपस्थित होती है कि योग्य प्रतिनिधियों का चुनाव नहीं हो पाता। इस जैसे अन्य भी दुष्परिणाम निकलते हैं और तब प्रजातंत्र का मूल विचार ही ओझल हो जाता है। बड़े अजीब-अजीब उदाहरण सामने आते हैं। खेती करनेवालों का प्रतिनिधि ऐसा डाक्टर या वकील बनता है, जिसे खेती का कुछ भी ज्ञान नहीं। एक वर्ग तैयार होता है, जो चुनाव जीतने की कला जानने के अतिरिक्त कुछ नहीं करता। एक उदाहरण बताता हूँ। कुछ वर्ष पहले पाकिस्तान के साथ युद्ध का काल था। गत वर्ष नहीं, यह सन् १९६५ की बात है। उस समय सीमा के पास की नहरें सूखी थीं, उनमें पानी नहीं छोड़ा गया था। उधर सीमा के पार, याने पाकिस्तान में नहरें लबालब भरी थीं। इधर नहरों में पानी न होने के कारण खेती पर उसका असर होना ही था। उस समय रक्षा मंत्रालय के एक उपमंत्री से मेरी भेंट हुई। उनसे कहा कि लड़ाई पता नहीं, कितने दिन चलेगी? इतने दिनों तक नहरों में पानी न जाने से खेती सूख गई तो क्या होगा? अनाज कम हो जाएगा। अनेक लोग निराश्रित होकर इधर-उधर भटकेंगे और हम अपने देश के आंतरिक मोर्चे पर ही उलझन में पड़ जाएँगे। तो वे सज्जन गंभीर

होकर बोले कि यदि पानी नहरों में भरा रहे तो उसकी सतह चमकती है और शत्रु के हवाई जहाजों को दिखाई देता है। इसलिए हमने जानबूझकर पानी रोक दिया है। मैंने उनसे पूछा कि लेकिन उधर शत्रु-देश में नहरें पानी से भरी हैं तो क्या उन्हें यह खतरा नहीं है? उन्होंने कुछ जवाब नहीं दिया, परंतु कुछ दिनों के बाद एक अन्य उपमंत्री से भेंट हुई और मैंने जब उनसे पूछा कि मुझे बताई गई यह दलील क्या सही है तो वे बोले– बिल्कुल गलत। ऐसी दलील देनेवाले को इस संबंध में कुछ भी ज्ञान नहीं है। उदाहरण देने का उद्देश्य केवल इतना ही है कि जो जिस विषय का जानकार नहीं, वह उस विषय का अगुआ बन बैठता है। खेती न जाननेवाला खेती-किसानों का प्रतिनिधि, कारखाने-उद्योग न जाननेवाला उन कार्यों का प्रतिनिधि आदि। कहने का मतलब है कि ऐसे प्रतिनिधि एकत्रित होते हैं, जो दुर्भाग्य से उन विषयों की समस्याओं से परिचित नहीं रहते।

जो लोग विषयों के जानकार रहते हैं, वे कहते हैं कि हम क्या करें, ऊपर से जैसा आदेश आता है, वैसा पालन करना पड़ता है। इस संबंध में एक उदाहरण मेरे सामने है। रेलवे के एक इंजीनियर मुझे मिले। वे पुल बनाने के विशेषज्ञ थे। बिहार में प्रतिवर्ष बाढ़ से विनाश होता है। इसलिए मैंने उनसे पूछा कि आपको मालूम है कि उत्तर में बहुत नदियाँ निकलती हैं। अनेक जलप्रवाह हैं। उन जलप्रवाहों का पानी ठीक प्रकार से निकल जाने के लिए जितनी संख्या में बड़े पुल बनाने चाहिए, उसका विचार कर क्या आप लोगों ने पुल बनाए हैं। उन्होंने स्वीकार किया कि बात सच है। ऐसा विचार करके पुल नहीं बनाए, इससे पानी रुकता है। मैंने उनसे कहा कि तब तो बाढ़ के कारण खेती का जो विनाश प्रति वर्ष होता है, उसके लिए आप जिम्मेवार हैं। तब उन्होंने अत्यंत निराशा भरे स्वर में कहा कि क्या बताएँ, हमारे जो मंत्री हैं, उन्हें कुछ मालूम नहीं रहता। जैसी योजना वे बनाते हैं और आदेश देते हैं, वैसा हमें करना पड़ता है।

प्रजातंत्र के ढाँचे में इस प्रकार कठिनाइयाँ आती हैं। इनमें से किस प्रकार रास्ता निकल सकता है? इस संबंध में यह विचार सामने आता है कि आजकल सर्वसामान्य और जनगणना के अनुसार जनसंख्या को आधार मानकर क्षेत्रीय प्रतिनिधि चुनने की जो प्रणाली है, उसे वैसा ही बनाए रखकर उसके साथ उद्योग-धंधों के प्रतिनिधित्व की प्रणाली भी चलाएँ। राष्ट्रजीवन के जितने महत्त्व के कार्य हैं, उन कार्यों को करनेवाले समूहों से अलग-अलग प्रतिनिधि चुन लिए जाएँ। इस प्रकार अन्य सब काम-धंधों का

वर्गीकरण कर प्रतिनिधित्व कराया जाए। अंग्रेजी में इसे 'फंक्शनल रिप्रेजेन्टेशन' (व्यावसायिक प्रतिनिधित्व) कहा है। विश्व के कुछ देशों में यह लागू भी है। आजकल की चुनाव-पद्धति के साथ ही यदि इसे जोड़ दिया जाए तो आज जिस प्रकार गैरजानकार लोगों की सभा बनती है और राज्य-संचालन का दायित्व ग्रहण करती है, उसमें कुछ जानकार लोग भी रहेंगे। वे आवश्यकता पड़ने पर उस विषय से संबंधित मौलिक विचार दे सकेंगे।

पंचायत व्यवस्था

यह प्रणाली अपने देश के लोगों को भली-भाँति ज्ञात भी है। पुराने समय से हमारी रचना ग्राम-पंचायतों पर निर्भर रही है। ये पंचायतें ही आगे बढ़कर राजा की अष्टप्रधान-समिति के रूप में योग्य सलाह देने का कार्य करती रही हैं। ये पंचायतें भी उद्योग-धंधों पर ही आधारित थीं। पुराने जमाने में आज जैसा बहुत उलझा हुआ जीवन नहीं रहता था। सादा जीवन था। उनमें चार प्रमुख उद्योग स्वीकार कर लिए गए थे। एक कार्य माना गया उनका, जो विचार करने, पढ़ने-पढ़ाने और धर्म-प्रचार वगैरह करनेवाले थे। दूसरे, राज्य की रक्षा करने का दायित्व पूर्ण करनेवाले थे। तीसरे, व्यापारी और चौथे में खेती-बाड़ी जैसे अन्य कार्य करनेवाले लोग आते थे। पाँचवाँ कार्य उनका माना गया, जो वनों और पहाड़ों पर निर्भर तथा शिकार आदि पर जीवनयापन करते हैं। इस प्रकार इन चार वर्णों के चार प्रतिनिधि और पाँचवाँ, जिसे हमारे यहाँ 'निषाद' कहा गया है– ऐसे पाँचों मिलकर समाज का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते थे।

कहने को तो आज भी पंचायती राज्य की बातें की जाती हैं, परंतु लक्ष्य ठीक न होने के कारण उसकी रचना में गड़बड़ी हो गई है। यहाँ तक कि अपने देश के एक बड़े पुराने नेता ने मुझे एक बार कहा था कि पंचायती राज्य बनाने की जो बातें चल रही हैं, वे तो बड़ी उलझन पैदा करनेवाली हैं। वे बोले कि देखो, पुरानी बातें छोड़ दो। आजकल गुटबाजी, जातिवाद और उनके आधार पर झगड़े चारों ओर चल रहे हैं। गाँवों में भी यह जोरों पर हैं। इस स्थिति में गाँव में जो नामी गुंडे हैं, वे पंच बनकर चुने जाएँगे। सबको मारपीटकर, डरा-धमकाकर वे पंचायत में आ धमकेंगे। गाँव-गाँव में यह हमारे लिए बड़ी कठिनाई खड़ी हो जाएगी। उनके इस कथन में कितनी सच्चाई है, यह अनुभव करने की बात है। फिर भी इस

दोष को निकालकर प्रयोग करने की आवश्यकता है। जो अच्छे और सद्‍भावनासंपन्न व्यक्ति हैं, जिन्हें सबके प्रति प्रेम है, ऐसे व्यक्तियों को अपने-अपने काम-धंधों के प्रतिनिधि बनकर एकत्रित होना और उनके अनुभवों के आधार पर प्राप्त निर्णयों से शासन चलाना योग्य होगा। गाँव का नियंत्रण और रक्षा हो सकेगी। इस प्रयोग को सफल कर इसकी क्षेत्र-मर्यादा बढ़ाई जा सकती है। संपूर्ण देश की व्यवस्था के लिए इस प्रकार की नींव लाभदायी सिद्ध होगी। इस नींव को मजबूत बनाने के अनुरूप ही चुनाव-तंत्र स्वीकार किया जाए, संविधान भी इसी आधार पर बने। पूरी तरह प्रयत्न हो तो हो सकता है कि राज्य-व्यवस्था में कुछ अधिक सुसूत्रता, सभी लोगों की आवश्यकताओं को पहचानकर आपस का अधिकाधिक सामंजस्य स्थापित करने का विचार प्रबल हो। एक बात पक्की है कि ऐसा प्रयोग करने लायक अवश्य है। यद्यपि प्रयोग कोई भी हो, पूर्ण कदापि नहीं होता। इसलिए विचार ऐसा ही करना पड़ता है कि जो अधिकाधिक लाभदायी और कम से कम हानिकारक हो, वही किया जाए।

अर्थव्यवस्था

दूसरा भी एक विचार अर्थनीति के संबंध में आजकल बहुत प्रचलित है। अपनी भारतीय-प्रणाली में जिसे 'अर्थशास्त्र' कहते हैं उसमें आज जैसा केवल आर्थिक पहलू मात्र नहीं था। हमारे यहाँ अर्थशास्त्र का ही दूसरा नाम 'नीतिशास्त्र' था। नीति, जिसे आजकल 'राजनीति' तक ही सीमित मानते हैं, हमारे यहाँ अर्थशास्त्र को भी अपने अंदर समाविष्ट करती थी, परंतु आजकल आर्थिक पहलू पर अधिक जोर दिया जा रहा है। उसमें समाजवाद का उल्लेख किया जाता है। इस समाजवाद के कई पहलू बताये जाते हैं। ये पहलू इतने हैं कि इसकी मूल व्याख्या ही समझ पाना कठिन है। गिल्ड सोशलिज्म, अनार्किज्म, सिंडीकेलिज्म, कम्युनिज्म आदि कितने ही इसके पहलू गिनाए जाते है। जो हो, 'समाजवाद' शब्द की गुलामी स्वीकार न करते हुए अपने मौलिक चिंतनपूर्ण भारतीय सिद्धांत के आधार पर इस आर्थिक रचना का विचार भी हम कर सकते हैं। इसमें यदि कोई विचारणीय पहलू है, और उसे यदि हम अपने सिद्धांतों का आधार देकर चला सकते हैं, तो हम अवश्य चलाएँ। उसमें कोई आपत्ति नहीं।

विचार किया तो हमें पता चलेगा कि जिसे सोशलिज्म का सिद्धांत कहा जाता है, उसमें मूल विचारणीय बात केवल इतनी है कि 'संपत्ति का

विकेंद्रीकरण' होना चाहिए। साथ ही उसमें यह भी कहा जाता है कि यह विकेंद्रीकरण न्यायपूर्ण होना चाहिए। इस विचार में जो मतभेद और झगड़े दिखाई पड़ते हैं, वे सब इस बात में से उत्पन्न हैं कि इस विकेंद्रीकरण को न्याय्य बनाने का अधिकार किसे सौंपा जाए? आजकल इसपर बड़ा जोर है कि इस विकेंद्रीकरण के लिए केंद्रीकरण की जरूरत है। अनेक केंद्रों के स्थान पर, सत्ता-केंद्र के ही हाथों में सब सौंप दिया जाए। राजसत्ता को ही एकमेव प्रभावी केंद्र मान लिया जाए। यह विचार अपने देश में आजकल बहुत प्रचारित किया जा रहा है कि सत्ता के हाथों में सब कुछ सौंप दो। यह मान्यता फैलाई जा रही है कि सत्ता द्वारा सब संपत्ति अपने हाथ में ले ली जानी चाहिए। संपत्ति निर्माण होने के जितने साधन हैं, उनपर भी राज्यसत्ता का एकाधिकार कायम होना चाहिए। इस प्रकार यदि हुआ, तो सत्ता प्रभावी होगी और शेष समाज उस राज्यसत्ता के आश्रय में नौकर बना काम करता रहेगा। सत्ता जितना, जैसा, जब जहाँ वितरण करेगी, उसे लोगों को स्वीकार करना होगा। जो भी न्यूनतम वेतन सत्ता द्वारा निर्धारित होगा, उसपर शेष समाज के लोगों को चलना होगा।

परंतु इस संबंध में एक बात नहीं भूलनी चाहिए कि इस पद्धति के संबंध में विदेशों में जितने भी प्रयोग हुए, वे असफल हुए हैं। हाँ, उनकी एक बात अवश्य प्रशंसनीय है कि उन्होंने साहसपूर्वक प्रयोग किए और जब उन्हें विपरीत परिणाम मिले तो उन्होंने अपने प्रयोगों में बदल भी किया। उनका यह कठोर साहसी प्रयोगशील स्वभाव अभिनंदनीय है, परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हम उनके प्रयोगों की नकल करें। उन्होंने इन प्रयोगों के अंतर्गत यहाँ तक घोषणा की कि घरों में भोजन भी नहीं बनेगा। सब सार्वजनिक तौर पर तैयार होगा। प्रत्येक आदमी अपना काम पूरा कर उन सार्वजनिक भोजनालयों में जाएगा और जितना उसे चाहिए उसे खाने को मिलेगा। पेट भरने के लिए आवश्यक भोजन उसे वहाँ मिल जाएगा। यह भी प्रयोग कर देखा गया कि बच्चे भी माँ-बाप के पास नहीं रहेंगे। उनका पालन-पोषण एक साथ होगा। माँ नियत समय पर जाकर बच्चे को दूध पिला दे। बस, इतना ही। परंतु क्या उस समय उस माँ को अपना ही बच्चा मिलेगा? इसकी भी कोई जरूरत नहीं। जो बच्चा मिले, उसे ही वह दूध पिला दे। परंतु उन्हें जल्दी ही इस बात का अनुभव हुआ कि व्यक्ति केवल मशीन नहीं है। प्रत्येक की अपनी विशेष प्रकृति रहती है। उसकी रुचियाँ भिन्न-भिन्न हैं। इस कारण वहाँ असंतोष बढ़ा। तब उन्हें बदल

करना पड़ा। इस प्रकार के कितने ही प्रयोग उन देशों में किए गए और गलत पाकर उन्हें बदल भी दिया गया। इसलिए जहाँ तक उनके साहसी प्रयोग करनेवाली बात है, उसकी तारीफ कर सकते हैं। परंतु इन प्रयोगों की यहाँ केवल नकल करते जाना हमारे लिए कदापि हितावह नहीं।

स्वतंत्र मौलिक चिंतन की आवश्यकता

तब सोशलिज्म की इस विचारधारा में जो मूल विचारणीय बात शेष रह जाती है, वह यह है कि संपत्ति का विकेंद्रीकरण होना चाहिए। इसपर हमें अपने ढंग से विचार करना होगा।

अब यह बात आजकल जरूर बड़ी विचित्र है कि हम लोग अपने ढंग से विचार करने के लिए कम तैयार हैं। बाहर से जो और जैसा पका-पकाया मिले, उसे ही चबाने और तारीफ करने की प्रवृत्ति अधिक है। ऐसा साहस और स्वाभिमान रहना जरूरी है कि हम दुनियाभर के विचार-प्रवाहों को परखेंगे तथा अपनी स्वतंत्र मौलिक राष्ट्रीय चिंतनधारा के अनुरूप अपना रास्ता अपनाएँगे। ऐसी बात भी नहीं है कि हमारे यहाँ जीवन के इन पहलुओं की ओर अपनी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप कोई विचार ही नहीं किया गया हो। उदाहरणार्थ– महात्मा गाँधी जी ने अपने जीवन काल में संपत्ति के विकेंद्रीकरण के लिय ट्रस्टीशिप का मार्ग प्रतिपादित किया। उन्हें भारत की परंपरा और जीवनदर्शन का अनुभव, ज्ञान, अनुभूति हुई, उसी के आधार पर उन्होंने यह मार्ग बनाया। परंतु हमारे समाजवादी भाई उन्हें 'बुर्जुआ' करार देते हैं। बुर्जुआ का क्या अर्थ है? पता नहीं। आजकल तो इस शब्द का प्रयोग एक गाली के रूप में ही किया जाता है। परंतु क्या भारतीय दृष्टि को ध्यान में रखकर मार्ग बताने मात्र से ही महात्मा गाँधी बुर्जुआ हो गए? उनके इस ट्रस्टीशिप के विचार में माना गया है कि मनुष्य के उत्पादन-सामर्थ्य में कोई कमी करने की जरूरत नहीं। जीविका के साधनों द्वारा जितना चाहे, उसे उत्पादन करने दो, परंतु संग्रह का वह अधिकारी नहीं है। जीविका के साधनों का प्रयोग करने पर जो संपत्ति एकत्रित होती है, वह समाज की है, अपने उपभोग बढ़ाने के लिए नहीं। वह संपत्ति उसने समाज को दे देनी चाहिए।

भारतीय परंपरा के अपने ज्ञान से महात्मा गाँधी ने यह रास्ता देश के सामने रखा। परंतु इस रास्ते में एक अड़चन है। मनुष्य का स्वभाव आजकल इतना गड़बड़ा गया है कि जब तक उसे अपना प्रत्यक्ष लाभ

दिखाई न दे, तब तक मन लगाकर काम करने की उसकी इच्छा ही नहीं होती। सामाजिक या कुसंस्कारों के कारण ऐसा हुआ हो, परंतु मनुष्य की स्थिति आज यही है। इसे स्वीकार करना होगा। मनुष्य कहता है कि मुझे प्रत्यक्ष लाभ नहीं हो रहा है तो फिर मैं इस काम को क्यों करूँ? इन्कम टैक्स का ही उदाहरण लीजिए। कई व्यक्ति ऐसा कहते हुए मिलेंगे कि सरकार इतना अधिक टैक्स वसूल करती है कि खूब मेहनत कर १०० रुपए कमाओ तो ढाई रुपए हाथ में रहते हैं। बाकी सब टैक्सवाला ले लेता है। टैक्स के एक विशेष स्तर पर यह स्थिति उत्पन्न हुई बताई जाती है। फिर मनुष्य सोचता है कि यदि ढाई रुपया ही अपने हाथ लगनेवाला है तो उतने मात्र के लिए ही मेहनत की जाए। थोड़ी मेहनत से, जिसके ऊपर कोई टैक्स नहीं ऐसी ढाई रुपए की राशि मिल ही जाएगी। इस प्रकार वह अधिक मेहनत से छुट्टी ले लेता है। इस पद्धति का जो भी गुण-दोष हो, परंतु इतनी बात साफ है कि मनुष्य अपना लाभ अवश्य देखता है। केवल भारत में ही नहीं, विदेशों में भी लोगों को यही अनुभव आया। रूस में एक ऐसा प्रयोग हुआ, जिसमें समस्त भूमि का एकत्रीकरण कर दिया गया और वहाँ खेती किसान की नहीं रही। किसान का अधिकार खेती पर से उठ गया। कुछ ही दिनों में रूस के अधिकारियों को यह अनुभव आया कि इस कारण किसान का भूमि के प्रति ममत्व समाप्त हो गया है। याने यह खेत मेरा है, मैं इसमें से अच्छा उत्पादन निकालूँगा, इस कारण मुझे अधिक सुख मिलेगा– इस प्रकार की आंतरिक प्रेरणा समाप्त हो गई वहाँ इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन घट गया। तब इस स्थिति से उबरने के लिए एक रास्ता खोजा गया। छोटे-छोटे प्लॉट लोगों को दिए गए और कहा गया कि इनमें जितना भी उत्पादन करो, सब तुम्हारा रहेगा। यह छूट देने पर उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि इन छोटे-छोटे प्लाटों से जिस अनुपात में उत्पादन होता है, वह सामूहिक खेती के प्रयासों से बहुत अधिक है।

इसी प्रकार पश्चिमी जर्मनी का भी उदाहरण बताया जाता है कि आर्थिक स्थिति जब बहुत खराब हो गई तो वहाँ के अर्थनीति-प्रमुख ने घोषित किया कि संपत्ति के प्रवाह को मुक्त कर दो। सब कन्ट्रोल वगैरह उठा दिए गए। लोग ऐसा कहते हैं कि इस कारण वहाँ बहुत प्रगति हुई। साथ ही वे संपत्ति के विकेंद्रीकरण की व्यवस्था भी वहाँ करते हैं। ऐसा सुना गया है कि वहाँ की आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई है।

बड़े-बड़े कारखानेवाले भी यह कहते हैं कि जब तक मजदूर को

अपना हित दिखाई नहीं देता, तब तक उसे कार्य करने की प्रेरणा नहीं मिलती। इसलिए विचारणीय बात मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह प्रत्यक्ष लाभ दिखाई देने पर ही अधिक मेहनत करता है।

इन अनुभवों के अनुसार हम एक संतुलित विचार कर सकते हैं। हम पाते हैं कि ऐसी आर्थिक रचना, जिसमें व्यक्ति की प्रेरणा भी बनी रहे और साथ ही संपत्ति का विकेंद्रीकरण भी पर्याप्त मात्रा में होता रहे, वही प्रगति की ओर अग्रसर करने में सहायक हो सकती है। हमें अपने देश की परंपरा से प्राप्त विचारधारा के आधार पर ही इस प्रकार का कोई मार्ग निकालना होगा।

प्रेरणा का ध्यान, उपभोग की सीमा

एक बात तो साफ है कि उत्पादन के साधनों के क्षेत्र में मनमानी नहीं चल सकती। तथाकथित व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर चाहे जो जिस प्रकार से कमाए और चाहे जिस प्रकार से उपभोग करे– ऐसी छूट नहीं दी जा सकती। व्यक्ति-स्वातंत्र्य को इतने संकुचित अर्थ में समझने-समझाने के दिन अब नहीं रहे। इनके फिर से आने की संभावना भी नहीं है, और आने भी नहीं चाहिए, क्योंकि व्यक्ति-स्वातंत्र्य के विचार में ही यह बात निहित है कि अपनी स्वतंत्रता अपने साथ रहनेवाले समाज-बंधुओं द्वारा मर्यादित है। इसलिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अर्थ मनमौजी होना कदापि नहीं है। जो सबको मान्य हो और हितकारी हो, उसी मर्यादा के अंदर अपनी स्वतंत्रता का उपभोग प्रत्येक को करना होगा। स्वेच्छाचारिता के ढंग से चाहे जैसा उपभोग करते रहने की अनुमति उसे नहीं दी जा सकती।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इसके लिए व्यक्ति पर नियंत्रण किस प्रकार के हों? जो लोग उत्पादन और वितरण-शास्त्र के जानकार हैं, वे इस संबंध में विचार करें। अपने इस हिंदू-अधिष्ठान को न छोड़ते हुए कि संपूर्ण समष्टि की एक चेतना है और मनुष्य केवल ऐसा दो हाथ-पैरवाला ऐसा सामान्य पशु नहीं है, जिसका मूल्यांकन केवल इतना ही हो कि उसे जीने के लिए खाना, वस्त्र, मकान चाहिए और कुछ उपभोग चाहिए। वस्तुतः मानव-विकास की दिशा सांसारिकता से ऊपर उठकर आध्यात्मिकता है। उसके अंदर चिरंतन चेतना है, उसे केवल कुछ ऐशो-आराम करने तक ही सीमित नहीं माना जा सकता। मनुष्य का जीवन-लक्ष्य तथा सुख, सबमें व्याप्त उस चिरंतन अस्तित्व के साथ समरस होने में निहित है, जिसकी

ओर बढ़ने में किसी प्रकार के बंधन और कोई अड़चन आड़े नहीं आनी चाहिए। यह बात ध्यान में रखकर यदि हम मनुष्य की स्वभावगत प्रेरणा का समुचित ध्यान रखें, संपत्ति के विकेंद्रीकरण और उपभोग की सीमा पर कोई व्यवस्था निर्धारित करें, तो वह लाभदायक होगी।

यह व्यवस्था क्या हो और उसका स्वरूप क्या रहे? इस संबंध में जब हम विचार करते हैं तो हमें दो बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं। पहली तो यह कि कोई व्यक्ति अपने-आप अकेले ही इस व्यवस्था संबंधी कोई कार्यवाही करना चाहे तो वह चलेगी नहीं, क्योंकि समाज के नाते कार्यवाही होने का यह क्षेत्र है। दूसरी बात यह है कि हमारे पास अपने हिंदू-जीवन-सिद्धांत तो हैं, परंतु उन्हें व्यवहार में उतारने का माध्यम आज ओझल है। संपत्ति के विकेंद्रीकरण, अर्थात् न्यायपूर्ण ढंग से वितरण के लिए प्राचीन काल में हमारे यहाँ जो व्यवस्था थी, वह आज टूट चुकी है। उसके पुनः विद्यमान होने की संभावना भी अब नहीं है। इस स्थिति में कम्युनिष्ट विचारधारा में मनुष्य को राजसत्ता की मशीन का निर्जीव पुर्जा मानकर व्यवस्था का जो स्वरूप निर्धारित किया गया है, वह एक जागतिक विचार बनकर सामने आता है। लोग कहते हैं कि इसे अपनाने के लिए अपने राष्ट्रीय सिद्धांतों को छोड़ दो। हम पहले यह विचार कर चुके हैं कि मानव-मूल्यांकन के समष्टि- चेतनागत परस्पर सामंजस्य के जो सिद्धांत हिंदू-समाज की विशेषता हैं, उन्हें त्याग देने से न तो हमारा राष्ट्रीय अस्तित्व सुरक्षित रहता है और न ही विश्व की मानवता को भारत की अनुपम देन का ही पालन होता है। इसलिए हमें किसी भी स्थिति में अपने राष्ट्रीय जीवन-सिद्धांतों से डिगना नहीं है। यह तय कर लेने पर आज जो प्रचलित पद्धतियाँ हैं, उन्हीं के गुण-दोषों का अध्ययन कर हमें रास्ता खोज निकालना चाहिए।

पद्धति की सफलता व्यक्ति पर निर्भर

इस प्रकार यदि हम कोई रास्ता निकालने के लिए प्रयत्नशील हुए तो यह बात हमारे ध्यान में आए बिना नहीं रहेगी कि हम चाहे जो पद्धति स्वीकार करें, सबकी सफलता इसपर निर्भर करती है कि उसे कार्यान्वित करनेवाले लोग कैसे हैं? समाजसेवी, उत्साही और चरित्रवान लोग हों, तो किसी भी पद्धति से हितकारी परिणाम निकल सकते हैं। इसके विपरीत यदि व्यक्ति ठीक नहीं, तो अच्छी से अच्छी व्यवस्था भी असफल हो जाती है।

इसलिए मनुष्य-निर्माण का कार्य, पद्धतियों के इन सब वादविवादों के बीच अकाट्य आवश्यकता के नाते उभरकर सामने आ खड़ा होता है।

उदाहरण के लिए मान लो कि सब संपत्ति पर हम राज्य के स्वामित्व की पद्धति को ही स्वीकार कर लें। व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूहों का समस्त धन राज्य द्वारा अधिग्रहीत कर लिया जाए और राज्य का प्रशासन-तंत्र उसके ठीक-ठीक वितरण की जिम्मेदारी को वहन करे। मान लें कि यही एकमेव रास्ता है, तो भी अपने सामने यह प्रश्न आएगा कि वह राज्यतंत्र किन हाथों में रहे? राज्य की बागडोर सँभालनेवाले व्यक्ति कैसे हैं? आखिर कोई न कोई व्यक्ति बागडोर सँभालेंगे। ये व्यक्ति यदि चरित्रहीन और स्वार्थी हों; यदि ऐसे व्यक्ति राजसत्ता का संचालन करनेवाले हों, जो राष्ट्र और समाज के नुकसान की व्यक्ति अथवा पार्टी के स्वार्थों के सामने चिंता न करें, तो क्या काम बन सकेगा? इससे नुकसान होने की संभावना ही अधिक है। इसलिए सहज ही निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्तियों को शिक्षित करने का कार्य हुए बिना कोई भी पद्धति काम नहीं कर सकेगी।

जनसाधारण को शिक्षित करना और उनके द्वारा चुने गए योग्य व्यक्तियों को राष्ट्रहितकारी कार्यों में संलग्न बनाए रखने के लिए सामाजिक स्थिति तैयार करना, प्रत्येक परिस्थिति और पद्धति में आवश्यक महत्त्व रखता है। इतना महत्त्व का यह कार्य, क्या अपने देश में कहीं किया जा रहा है? यदि नहीं तो, इसे कौन करेगा? कहना होगा कि इसे अपने संघ के अतिरिक्त इतनी व्यापक दृढ़ता के साथ अन्य कोई नहीं कर रहा है। देश में जो कुछ अल्प प्रयत्न हो रहे हैं, वे अपने कार्य के माध्यम से ही हो रहे हैं। इस कार्य को अधिकाधिक फैलाने के लिए हम प्रयत्नशील हैं।

मनुष्य-निर्माण का कार्य

जनसाधारण को शिक्षित करना तथा उनके द्वारा चुने गए योग्य व्यक्तियों को राष्ट्रहितकारी कार्यों में संलग्न बनाए रखने का अपना कार्य तभी संभव है और हम तब ही उसके पात्र बन सकते हैं, जब हमारा समाज के साथ आत्मीयतापूर्ण निकट का संबंध हो। विभिन्न छोटे-बड़े क्षेत्रों में चलनेवाली अपनी संघ शाखाएँ ऐसी होनी चाहिए कि जिनसे उन क्षेत्रों के सब लोगों का संबंध स्थापित होता हो। उस क्षेत्र में यदि स्फोटक परिस्थिति का खतरा हो तो सब लोगों के सामंजस्य से उसका निराकरण करने लायक हमारे संबंध समाज के साथ चाहिए। प्रारंभ से ही शाखा-संबंधी हमारी

कल्पना यही है। शाखाओं में ऐसे कार्यकर्ता तैयार होने चाहिए, जो अपने चारों ओर के समाज में व्याप्त अवस्था को समझते हों।

ऐसे कार्यकर्ता तैयार करना ही सब समस्याओं का एकमात्र उत्तर हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। अच्छे व्यक्ति तैयार करने हैं। चारों ओर देखनेवाले आदमी तैयार करने हैं। सबको साथ में लेकर चलनेवाले लोग होने चाहिए और यह सब प्रत्येक शाखा-क्षेत्र में होना आवश्यक है।

यह कार्य बातें करने से नहीं होगा। धीरे-धीरे विस्तार करते हुए शीघ्रातिशीघ्र नगर के प्रत्येक छोटे क्षेत्र तक और जिले के प्रत्येक छोटे कस्बे में ऐसे लोग खड़े होने चाहिए, जो अपने संपूर्ण जीवन की शक्ति लगाकर अपने क्षेत्र की समस्याओं को सुलझाने में यशस्वी होंगे। यह अपनी ओर से सदा दोहराया जाता रहा है कि मनुष्य तैयार करना सर्वाधिक महत्त्व की बात है और जितने प्रमाण में यह कार्य होगा उतने प्रमाण में बाकी सब समस्याएँ सुलझती जाएँगी।

इस मनुष्य-निर्माण के शाखा-कार्य की गति तीव्र करें तो हम पाएँगे कि सिद्धांतों का बोलना और उनका व्यवहार में न उतरने जैसी आज की दुःस्थिति का अंत आ सकेगा। हम व्यावहारिक स्तर पर आकर लोगों को कुछ बता सकेंगे। सिद्धांत की अवमानना न हो और व्यवहार में कठिनाई न हो– ऐसा सामंजस्य उत्पन्न कर दिखाने की हमारी प्राचीन कार्यप्रणाली रही है। आर्थिक रचना के क्षेत्र में उसी मार्ग का अवलंबन करते हुए दोनों प्रकार के अतिरिक्त छोरों को छोड़कर सामंजस्य का मार्ग ग्रहण करना समाज के लिए हितकर होगा। राज्यसत्ता के एकाधिकार का विचार और उसे लागू करने से उत्पन्न दुष्परिणाम हमारे सामने हैं। इस छोर से यदि प्रारंभ किया, तो जो आज धनी है, वह कल गरीब बन जाएगा और गरीब धनी हो जाएगा, याने व्यक्तियों में थोड़ा-सा परिवर्तन होगा। मूल समस्या वैसी ही बनी रहेगी। कारण, जगत् के विद्वानों का अनुभव है कि यदि सब संपत्ति और साधनों पर राज्यसत्ता का स्वामित्व हो गया तो व्यक्ति की कार्य-प्रेरणा समाप्त होती है और पर्याप्त मात्रा में उत्पादन ही नहीं हो पाता। धन का वितरण करनेवाली बात लेकर चलें और धन ही नहीं तो वितरण किसका करें– इस अवस्था पर आ पहुँचे। ऐसी विचित्र स्थिति में आ फँसनेवाली यह बात है।

यह केवल कल्पना की बात नहीं है। रूस का उदाहरण हमारे सामने है। वह एक बड़ा विशाल देश है। विशालता के अनुपात में जनसंख्या

भी कम है। खेती के आधुनिकतम साधन हैं। नदियाँ भी हैं। इतना सब होते हुए भी वहाँ खाद्यान्न की कमी है। उन्हें अनाज विदेशों से मँगाना पड़ रहा है। इसलिए राज्यसत्ता के संपूर्ण एकाधिकारवाला छोर हितकर नहीं है। केवल व्यक्तिगत संपत्ति को समाप्त करने के विचार से काम नहीं चलेगा। उसी प्रकार दूसरा छोर भी, जिसमें व्यक्ति केवल अपना और अपने परिवार-रिश्तेदारों का विचार करता है, उपयुक्त नहीं है। सब केवल अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति और उपभोग-लालसा से प्रेरित होकर कार्य करें, यह भी नहीं चल सकता। आज विश्व में प्रचलित इन पद्धतियों के दोनों छोरों को त्यागकर हमें बीच का एक नया और मौलिक रास्ता खोजना होगा। इन दोनों अतिरेकों के बीच संतुलन स्थापित करना होगा। इस बात का विचार करते हुए कि व्यक्ति पर उसकी अपनी और अपने परिवार से संबंधित जिम्मेवारियों के निर्वाह की समस्या है, उसे मर्यादित रूप से संपत्ति का अधिकार प्राप्त रहना जरूरी है। साथ ही दायित्व को निभा सकने योग्य व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा का अतिक्रमण न हो, इसलिए उसपर कुछ नियंत्रण भी रखना होगा, जिसमें मर्यादित रूप से व्यक्तिगत संपत्ति, मर्यादित व्यक्तिगत आय और साथ ही मनुष्य स्वभाव को देखते हुए मर्यादित रूप से उपभोग के अवसर भी प्राप्त हों– ऐसी व्यवस्था देकर समाज के सर्वसामान्य लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति में उसका योगदान भी निश्चित करनेवाला रास्ता अपनाना होगा।

अब, जैसा कि पहले कहा है कि पद्धति कोई भी हो, उसकी सफलता के लिए अच्छे लोग चाहिए। ऐसे लोग समाज में खड़े करने होंगे, जिनके हृदय में समाज के लिए आत्मीयता है, कल्याण है। जो समाज के दुःख से व्यथित होते हैं, जिनके अंदर अपने स्वार्थ को नियंत्रित करने की शक्ति है और उस कारण जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट उठाकर भी समाज के लिए हितकर कार्यो में संलग्न हैं। ऐसे सब लोगों की शक्ति समाज की आवश्यकतानुसार सूत्रबद्ध ढंग से संपूर्ण राष्ट्र में प्रयुक्त हो सके, ऐसी अनुशासन-शिक्षा देने की व्यवस्था भी करना जरूरी है। समाज में ऐसे कार्यकर्ताओं के निर्माण का मूलगामी कार्य हम अपनी शाखाओं द्वारा कर रहे हैं। व्यक्तियों में जितना सामंजस्य उत्पन्न होगा, उतना ही प्रगति की ओर अग्रसर होना संभव होगा। माना कि इस कार्य में समय लगेगा परंतु तत्काल कठोर कार्यवाही से कोई लाभ नहीं निकलनेवाला है। मनुष्य को उसकी अंतःप्रेरणा से ही ऐसे कार्यों के लिए प्रेरित करने का यह कार्य है।

इस प्रकार के योग्य व्यक्ति समाज में स्थान-स्थान पर खड़े करने का कार्य हम अपनी दैनिक शाखा-कार्य पद्धति से कर रहे हैं। विचार कोई भी हों और कितने ही व्यापक हों, आचार करनेवाले लोग जब तक पास न हों, व्यर्थ हैं। इस निष्कर्ष के अनुसार राष्ट्र की प्रगति की नींव में अच्छे और सुदृढ़ कार्यकर्ता खड़े करना ही समाज-संगठन का कार्य है।

ट ट ट

४. कार्योपयोगी व्यक्ति की खोज

(१ नवंबर १९७२)

राष्ट्र को संगठित करने का पवित्र लक्ष्य, अर्थात् अपने सभी देशवासियों में समान चिरकालिक मातृभक्ति की भावना भरकर उन्हें राष्ट्र-सूत्र में गूँथने का कार्य अत्यंत जटिल है, क्योंकि जिन्हें हम संगठित करना चाहते हैं, वे हमारे बंधु विविध कारणों से एक-दूसरे से पृथक तथा बिखरे हुए हैं। उनमें से प्रत्येक कार्योपयोगी व्यक्ति को खोजना, प्रेम और आदरयुक्त व्यवहार द्वारा उन्हें सामाजिक दायित्व की ओर उन्मुख करना और प्रत्येक को संगठन में अनुकूल कार्य देते हुए सूत्रबद्ध अनुशासित आचरण के लिए सतत जागरूक रखना कोई सरल कार्य नहीं है।

परंतु जिसके अंदर कार्य का आत्मविश्वास है, वह सारी दुनिया के विरोध को ठोकर मारकर यश प्राप्त कर लेता है। वह कहता है कि कार्य कैसे नहीं होता, मैं करूँगा और यशस्वी होऊँगा। इस स्थिति में उसके अंतःकरण का भगवान बोलता है कि उसे सफलता ही मिलेगी। ऐसी हिम्मत से काम में लगना चाहिए, ऐसा मैं मानता हूँ।

हम लोग मानते हैं कि हमारे समाज के कल्याण में, उसे सुसंस्कारित करने में व धर्म के रक्षण में समग्र मानव का कल्याण है। ये सब बातें सिद्ध करने की दृष्टि से, कार्य का बहिरंग, याने शाखा को परिपुष्ट करने के लिए हमें प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता है।

दैनिक शाखा का स्वरूप

कार्य के दो स्वरूप हैं। एक, दैनंदिन शाखा का है। चौबीस घंटों में हम जो कुछ संघकार्य करते हैं, उसका हिसाब-किताब करने का स्थान, संघस्थान है। कुछ अनुशासन आदि सीखने और एक-दूसरे के साथ कंधे

से कंधा भिड़ाकर खेलने-कूदने, व्यायाम करने से समग्र समाज के संबंध में अंतःकरण में जो अभेद वृत्ति निर्माण होती है, उसे प्राप्त करने का वह स्थान है। यहाँ प्रतिदिन प्रार्थना और ध्वज-दर्शन के रूप में अपने ध्येय का स्मरण करने का अवसर प्राप्त होता है।

हम प्रतिदिन की अपनी शाखा में इस निश्चय को अधिकाधिक प्रखर बनाते हैं कि राष्ट्र को श्रेष्ठ बनाएँगे। 'परं वैभवं नेतुमेतत् स्वराष्ट्रं' का उच्चारण कर हम राष्ट्र को अति वैभवसंपन्न बनाने का निश्चय दोहराते हैं। राष्ट्र के वैभव का अर्थ हमारी दृष्टि में केवल कुछ धन-संपत्ति, सत्ता आदि में संतोष मानना नहीं है। अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अनुसार संतोष तब माना जाएगा, जब संपत्ति और प्रगति धर्मानुकूल हो और धर्मरक्षार्थ रहे। धर्मरक्षा में धर्म-परिपालन भी आ जाता है। इसीलिए प्रार्थना में हम कहते हैं– 'विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम्'। धर्म की रक्षा करना सर्वोपरि है, याने धर्म का परिपालन करते हुए परम वैभव की कामना हम करते हैं। इसके बिना वैभव और स्वतंत्रता निरर्थक है। सब प्रकार के वैभव की प्राप्ति में यह बात पूर्वशर्त के रूप में उपस्थित है।

अब यह सत्य है कि 'धर्म' शब्द का उच्चारण करते ही बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। क्योंकि धर्म बहुत व्यापक शब्द है। अनेक अर्थ उसमें सन्निहित हैं। साथ ही इस शब्द के संबंध में जाने और अनजाने अनेक भ्रम आजकल प्रचलित हैं। इन भ्रमों के कारण 'धर्म' शब्द का ठीक बोध होना भी सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन हो बैठा है। अपने प्राचीन महापुरुषों ने धर्म की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। वे सब व्याख्याएँ परस्पर मेल रखती हैं। उन व्याख्याओं में जो सबसे अधिक मान्य और प्रचलित व्याख्या है, वह है 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' (वैशेषिक दर्शन, कणाद, १-२)। यह व्याख्या अपनी प्रार्थना की 'समुत्कर्ष-निःश्रेयस्' वाली एक पंक्ति में आ जाती है, याने 'धर्मात् अर्थश्च' और उसी धर्म के परिपालन का अंतिम श्रेष्ठ पूर्ण फल निःश्रेयस– ऐसी सारांशरूप व्याख्या प्रार्थना में निहित है। राष्ट्र के वैभवसंबंधी इस परिपूर्ण जीवन के चित्र को अपनी आँखों के समक्ष उपस्थित रखने के लिए नित्य प्रार्थना में सम्मिलित होना हमारे लिए आवश्यक है।

अतिरिक्त समय में लोकसंपर्क व लोकसंग्रह

इसी शाखा-कार्य का दूसरा हिस्सा है अतिरिक्त बचे हुए समय का

उपभोग अपने चारों ओर के समाज-बंधुओं के बीच जाने के लिए करना और समाज में से व्यक्ति चुन-चुनकर अपने साथ लाने का प्रयास करना। प्रत्येक को अपने समय का ऐसा उपयोग करना चाहिए। लोगों के साथ निकटतम संपर्क के द्वारा आत्मीयता का वायुमंडल बढ़ानेवाला कार्य चौबीसों घंटे चलते रहना चाहिए। इस प्रकार से हम लोग प्रयत्न करें तो मैं समझता हूँ कि थोड़े ही दिनों में और पर्याप्त मात्रा में ऐसी पवित्र शक्ति के रूप में हम खड़े हो जाएँगे जिसकी आवाज समाज में सब लोग सुनते हैं। देश, राष्ट्र और समाज के हित के लिए यह आवश्यक है।

यह कहने से काम नहीं चलेगा कि मेरे पास समय नहीं है। यदि हम इसकी आवश्यकता को समझकर ठीक प्रकार से प्रयत्न करेंगे, तो पर्याप्त समय निकल सकेगा। अपने चारों ओर इतना विशाल समाज फैला पड़ा है, जिसके बीच हमें प्रयत्न करना है। यदि हम कहें कि हमारे पास समय नहीं, तो यह हमारे लिए शोभा देने वाली बात नहीं, क्योंकि हममें से प्रत्येक, अपने दैनिक जीवन के विभिन्न व्यवहार करते समय समाज के साथ संपर्क स्थापित करता ही है।

हमें इन सब व्यवहारों के बीच अपने कार्य का ध्यान बनाए रखना होगा। कोई डाक्टर है तो उसके पास मरीज आते हैं, शिक्षक है तो विद्यार्थी उसके आसपास हैं, किसानी या बागवानी करनेवाले लोग हैं, तो विभिन्न काम-धंधेवाले उनके समीप आते हैं, विद्यार्थी है तो उनके खेल-कूद, आमोद-प्रमोद के, पढ़ाई आदि के मित्र चारों ओर रहते हैं। दुकानदार है तो ग्राहक उसके पास आते हैं। इन सबसे बातचीत और आत्मीयता बढ़ानी चाहिए तथा इन सब व्यवहारों के बीच समाज-कार्य की आवश्यकता में उनके योगदान के उपयोग का विचार करते रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की जो कुछ गुण-संपदा है, उसका भली प्रकार आकलन कर समाजहित में उसे प्रयुक्त करने की उसे प्रेरणा देनी चाहिए। व्यक्तियों के प्रत्येक व्यवहार में से कुछ न कुछ राष्ट्रहित का विचार निकालते बनना चाहिए। यहाँ तक कि जिन्हें 'अवगुण' कहा जाता है, उनका भी राष्ट्रहित में प्रयोग करने की कला मालूम होनी चाहिए। जो चोर और डाकू हैं, उन्हें भी यह बात समझ में आ सकती है कि अपने ही समाज-बंधुओं को कष्ट देने और भूखा मारने में भला कौन-सा आनंद है। ऐसा करना है तो हमारे राष्ट्र के जो शत्रु हैं, उनके पास से उनकी गुप्त बातें निकालकर लाएँ। इस दुर्गुण को भी राष्ट्र की भलाई में प्रयुक्त करें। यदि हमने अपने जीवन के चौबीसों घंटों पर ठीक

प्रकार से विचार किया और अपने चारों ओर फैले इस विशाल समाज के साथ होनेवाले सभी संपर्क-संबंधों में राष्ट्र संबंधी प्रेरणा जगाने का ध्यान रखा, तो हममें से किसी को भी यह कहने की स्थिति नहीं आएगी कि हमारे पास समय का अभाव है।

इस प्रकार समग्र समाज का हित-चिंतन ही जिनका स्वार्थ बना है, इसके अतिरिक्त जिनका कोई दूसरा स्वार्थ नहीं, जिन्होंने प्रतिष्ठा, मान-सम्मान आदि की सभी व्यक्तिगत अभिलाषाओं को पूरी तरह से हृदय से उखाड़ फेंका है, जो समाज की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा में ही संतोष पानेवाले हैं, ऐसे लोगों की काफी बड़ी संख्या हो; जिन्हें समाज सहज प्रेम और आदर प्रदान करे और शेष समाज-बंधुओं में यह अभिलाषा जगे कि हम भी ऐसे ही बनने का यत्न करेंगे; जिन लोगों की ओर देखकर समाज-बंधुओं को यह अनुभव हो कि ये लोग भलाई करनेवाले हैं; आवश्यकता पड़ने पर ये योग्य मार्गदर्शन करनेवाले हैं, ऐसे शील-संपन्न, चरित्रसंपन्न, पवित्र, धर्मनिष्ठ और समाजहित में संतुष्ट व्यक्ति पर्याप्त मात्रा में खड़े करना और उनका सूत्रबद्ध जीवन होना जरूरी है, ताकि संपूर्ण समाज को प्रेम के आलिंगन में समाविष्ट कर सबके कल्याण के लिए प्रयास पूरा कर सकें– ऐसा दृश्य खड़ा हो। फिर संघ के बारे में और कुछ बोलने की जरूरत नहीं रहेगी।

स्वयं से कार्य प्रारंभ करें

इसके लिए हमें परोपदेश नहीं करना हैं। स्वयं से ही हम लोग प्रारंभ करें। यही अपने कार्य का दूसरा स्वरूप है, अंतरंग स्वरूप। अपने स्वतः के संस्कारों को शुद्ध करते रहना चाहिए। अपने अंदर इस प्रकार का शील विकसित हो, जिससे संपूर्ण समाज से हम तादात्म्य का अनुभव कर सकें। प्रत्येक के सुख में सुखी होने की अपनी क्षमता बढ़ाएँ। प्रत्येक के सुख की वृद्धि में आनंदित हों। दुःख को दूर करने के लिए व्यक्तिशः प्रयत्न करें, साथ ही सामूहिक रूप से योजनाबद्ध होकर करें। ऐसी विशुद्ध भावना से अपने-आपको भरें और अपने जीवन में आनेवाली सब दुर्बलताओं और भिन्न-भिन्न प्रकार की विकृतियों को उखाड़ फेंकने के लिए चाहे जितना कठोर कदम उठाना पड़े, उठाएँ। यही अपने संघकार्य का आंतरिक स्वरूप है। यह स्वरूप प्रकट होने पर कुछ बोलना नहीं पड़ता। राष्ट्र की चेतना, राष्ट्र की पवित्र शक्ति और राष्ट्र के सब प्रकार के दुःखों का निवारण

करनेवाला सामर्थ्य खड़ा करने का यह कार्य है। हर समय अपने चिंतन द्वारा अपने संस्कारों को पवित्र व शुद्ध रखते हुए बहुत ही प्रयत्नपूर्वक अपने शील और चारित्र्य के प्रभाव का विस्तार करना पड़ेगा।

अपना समाज बहुत विशाल है। इसमें कितनी ही जातियाँ हैं। इनकी परस्पर भिन्नताएँ भी लोग बताते हैं, बताने दो। हमें तो यह सोचना है कि हर जाति में अच्छे, कर्तृत्ववान, पवित्र और शुद्ध लोग मिलेंगे। उदाहरण के लिए– वनवासी क्षेत्र में जो काम चलता है, वहाँ ऐसे अच्छे बंधु मिलें हैं कि उनको देखकर शहर के प्रगतिशील कहलाने वाले भी शरमा जाएँ। प्रयत्न करने से सब जाति, उपजाति, पंथ, उपपंथ, ग्रामवासी और नगरवासी– सबमें ऐसे लोग मिलेंगे। ऐसे व्यक्तियों को चुन-चुनकर, राष्ट्रहितार्थ समर्पित शक्ति के रूप में खड़ा करना चाहिए।

समर्पित शक्ति कहने का अर्थ साफ है कि हमें राष्ट्रहित के अतिरिक्त और कोई अभिलाषा नहीं। सत्ता की, मान-सम्मान की, किसी बात की चाह नहीं। अपने राष्ट्र की इस पवित्र शक्ति के उपासक, पवित्र शक्ति को बनाए रखनेवाले और इसी हेतु अभिमान से दूर कि हम कोई बड़े हैं, हमें अहर्निश कार्य में लगे रहना है।

प्रचारक चाहिए

फिर इस कार्य को संपूर्ण देश में दूर-दूर तक फैलाने की बात है। इस संबंध में कार्यकर्ता चाहिए, जिन्हें 'प्रचारक' कहा जाता है। प्रश्न है कि क्या पर्याप्त मात्रा में प्रचारक अनायास मिलेंगे? मुझे नहीं लगता कि चलते-फिरते अनायास मिल जाएँगे। पहले कभी अनायास मिले होंगे। संघ में कई पुराने कार्यकर्ता हैं। अपने निजी पारिवारिक जीवन का विचार सर्वथा त्यागकर वे कार्य में संलग्न हैं। उस समय इनके लिए विशेष प्रयत्न हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सहज उस समय हो गया, परंतु आज की परिस्थिति में यह कार्य इतना सहज होने की संभावना नहीं है। हमें विचार करना होगा कि अब जिन्हें प्रचारक के नाते तैयार करना होगा, उनके लिए प्रयास आवश्यक हैं। प्रत्येक को सब बातें समझाते हुए और परिस्थितियों का लेखा-जोखा कराते हुए तैयार करना होगा। राष्ट्रीय उत्थान के इस कार्य में जो अड़चनें आती हैं, उनसे भली-भाँति परिचित करा देना होगा। जीवन में अनेक प्रकार के आकर्षणों के प्रसंग उपस्थित होते हैं। आपत्तियों में से गुजरना होता है। धक्के लगते हैं, उन्हें सहना पड़ता हैं। सम्मान प्राप्त करने

की इच्छाएँ बलवती होती हैं, उन्हें प्रयत्नपूर्वक दबाना होता है। यश-प्रतिष्ठा, जिसे आजकल की भाषा में 'नेतागिरी के मोह' कहते हैं, उपस्थित होते हैं। उनसे बचना आवश्यक होता है। इतनी और इन जैसी अनेक बाधाओं के होते हुए भी कार्य संपन्न करना आवश्यक है। कार्य के इस आवाहन को प्रयत्नपूर्वक प्रत्येक के हृदय में जागृत करना होगा।

कार्य बहुत विशाल है। साथ ही समाजसेवा के जो अनेक क्षेत्र हैं, वे भी कार्यकर्ताओं की माँग करते हैं। सब कहते हैं कि आदमी चाहिये। अनेक क्षेत्रों में कार्य करने के लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं, वे सब सतत माँग करते हैं कि कार्यकर्ता दीजिए। इसलिए इतनी संख्या में कार्यकर्ता निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील रहनेवाला एक वर्ग निर्माण करना अत्यंत आवश्यक है। ऐसा सोचकर इस ओर ध्यान देना चाहिए।

संघकार्य में अपनी शाखा-पद्धति के अनेक अंग हैं। स्वयंसेवक बंधुओं की शारीरिक और मानसिक– सभी प्रकार की प्रगति के लिए योजनापूर्वक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है। तदनुसार उत्तरदायित्व बाँट लेते हैं। उन सब विविध अंगों के साथ प्रचारक के नाते कार्यकर्ता तैयार करने की जिम्मेवारी भी एक पहलू होना चाहिए। इसके लिए निश्चित अधिकारी हों। अपने जीवन में त्याग का आदर्श प्रस्तुत करते हुए वह क्षेत्र के छोटे-बड़े स्वयंसेवकों से घनिष्ठ संबंध रखनेवाला हो। ये संबंध इतने गहरे और सार्थक हों कि वह कार्यक्षम व्यक्तियों का चयन कर उन्हें निश्चिततापूर्वक कह सके कि अपने जीवन की बाकी बातों का विचार त्याग दो। तुम कार्य में पूरी तरह लग जाओ। ऐसा कह सकने के लिए जितना समय, परिश्रम और दौड़-धूप आवश्यक है, वह लगाते हुए कार्यकर्ताओं को तैयार करने का कार्य करें। यह महत्त्वपूर्ण कार्य है।

संघकार्य के लिए प्रचारक नाम की जो व्यवस्था है, वह अन्य किसी स्थान पर नहीं मिलती। यह एक असामान्य पद्धति अपने यहाँ है। ये प्रचारक कैसे तैयार होते हैं? इसकी 'टेकनिक' किसी को पता नहीं। भगवान की दया से सब चलता है। परंतु थोड़ा बहुत मनुष्य द्वारा कार्य प्रारंभ होने पर ही भगवान की सहायता होती है। इसलिए मैंने प्रश्न पूछा कि ध्यान रखकर, व्यक्ति चुनकर उन्हें अपनी इस असामान्य प्रचारक-पद्धति का अंग बनाने का कोई प्रयत्न चलता है या नहीं? यह चलाने की आवश्यकता है। समाज में चारों ओर विशाल-उत्कृष्ट वर्ग अपने कार्य के प्रभाव के अंतर्गत तैयार हुआ है। इसकी देखभाल करने की आवश्यकता है। इस विशाल

संपर्कित क्षेत्र के बंधुओं के साहस, शील, चारित्र्य और ज्ञान के संरक्षण के लिए भी यह आवश्यक है। समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों में अनेक प्रकार से हितकारी कार्यों में संलग्न इन सब लोगों के बीच आपसी तालमेल तथा सब मिलकर कार्य करने की प्रेरणा देनेवाला प्रचारक-वर्ग जहाँ-तहाँ उपस्थित रहना आवश्यक है। इसलिए यह पूछना आवश्यक हो गया कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य में आगे बढ़ने के लिए अनेक लोगों के मन में इच्छा जगाने का योजनाबद्ध कार्य होता है या नहीं?

यह भी ध्यान रहे कि इस प्रकार हमें प्रचारक नाम की जाति या कोई वर्ग खड़ा करना है, सो बात नहीं। ऐसी किसी भावना का हमें स्पर्श भी नहीं होना चाहिए कि प्रचारक अन्य कार्यकर्ताओं से कुछ भिन्न हैं।

हम सभी कार्यकर्ता हैं, परंतु कार्य की आवश्यकता के अनुरूप जो अपने संघकार्य के अतिरिक्त जीवन में और कुछ नहीं करता, उपलब्ध सब समय, शक्ति, बुद्धि, भावना केवल संघकार्य के लिए लगानेवाला है, जिसे दूसरा कुछ भी सोचने की इच्छा नहीं, एकाग्रचित्त से संघकार्य करने में संलग्न है, ऐसा प्रचारकरूप कार्यकर्ताओं का बड़ा विभाग जरूरी है, जो स्थान-स्थान पर दौड़-धूप कर सके।

गैरप्रचारक कार्यकर्ताओं का महत्त्व

इनकी सहायता के लिए स्थान-स्थान पर कार्य करनेवाला अपना अधिकारी वर्ग है। संघचालक, कार्यवाह, शिक्षक आदि हैं। ये सब भी गुणों में प्रचारक से किसी प्रकार कम नहीं हैं। ये भी अपने घरद्वार-परिवार आदि सँभालते हुए संघ-कार्य के विस्तार के लिए दिन-रात जुटे हुए हैं। ये लोग दिन-रात कार्य करते हुए अपने प्रचारक बंधुओं को नए-नए स्थानों पर और लोगों के पास पहुँचने के लिए मुक्त रखते हैं।

अपना कार्य शीघ्र पूर्ण करना है। ऐसी बातें हम बोलते रहते हैं। इसके लिए कार्यकर्ताओं के निर्माण और उनके विकास की ओर अधिक ध्यान दें। अच्छी योग्यता से काम करनेवाले, शुद्ध-चरित्र, ध्येयनिष्ठ, कर्तृत्ववान व्यक्ति सब स्थानों पर मिलेंगे। किसी विशिष्ट मनुष्य-समुदाय मात्र की यह बपौती नहीं है। सबदूर ऐसे लोग मिलेंगे। देशभर उनको खोजना है, खोजकर कार्य के लिए खड़ा करना है। व्यक्तिगत जीवन पर नियंत्रण लाकर संघकार्य में अधिकाधिक समर्पण करनेवाले लोगों को काफी बड़ी संख्या में

खोज निकालकर काम में लगाना है। यदि समाज में इस प्रकार के श्रेष्ठ गुणसंपन्न, त्यागी और कार्य पर शक्ति केंद्रित करनेवाले कार्यकर्ता हम खड़े नहीं कर पाते, तो बाकी की लंबी-चौड़ी बातें करने से कोई लाभ नहीं होगा। इस बात को हम सब सोचें।

५. प्रश्नोत्तर

(२ नवंबर १९७२)

प्रश्न : 'हिंदू' शब्द से क्या बोध लेना चाहिए? क्योंकि हिंदू शब्द भूमि से संबद्ध है– हिंदूभूमि। 'हिंदू' शब्द से संस्कृति का भी बोध होता है और हिंदू नाम का धर्म या 'यूनिवर्सल लॉज़्' (वैश्विक नियम) भी हैं। इनमें से हमें क्या अभिप्रेत है?

उत्तर: यह कहना बड़ा कठिन है। 'हिंदू' शब्द ही इतना व्यापक है कि उसे शब्दों में बाँधना सरल नहीं है। अब 'वैश्विक नियम' की बात आती है।

'प्रिजर्वेशन ऑफ सेल्फ एंड स्पेसीज़्' (स्व और स्वजाति का सरंक्षण)– यह एक वैश्विक नियम है। इसे तो सभी मानते हैं। इसमें हिंदू की कोई विशेषता नहीं। उस प्रकार आत्मा की अमरता की बात भी ईसाई, मुसलमान, यहूदी आदि सब मानते हैं। कुछ मात्रा में बौद्ध नहीं मानते, तो इसमें भी हिंदू की विशेषता नहीं। यह कर्म-सिद्धांत भी यहूदी, ईसाई व इस्लाम-मतों में विद्यमान है कि अच्छे कर्म करोगे तो स्वर्ग मिलेगा, अन्यथा नरक में जाओगे। तो इसे भी हिंदू की विशेषता नहीं कह सकते।

यदि अद्वैत का सिद्धांत सामने रखा तो अनेक लोग उसे नहीं मानते। एक आर्यसमाजी ने मुझसे विवाद करना चाहा कि 'तुम कौन-सा सिद्धांत मानते हो?' खाने-पीने का सामान सामने रखा था। मैंने कहा कि 'अभी तो हम सब मिल-जुलकर साथ-साथ खाएँ– यही सिद्धांत ठीक रहेगा। बाकी का बाद में देखेंगे।' पूछनेवाले वृद्ध सज्जन ने समझ लिया कि मैं विवाद करना नहीं चाहता। बाद में मैंने उन्हें कहा कि "मैं जानता हूँ कि आर्यसमाज 'त्रैत' मानता है– ईश्वर, यह जगत् और जीव। इसे मैं भी मानता हूँ और सभी किसी न किसी रूप में मानते हैं। इसमें झगड़ा करने की कोई बात कहाँ है?

यह सब होते हुए भी क्या मिल-जुलकर चलने का कोई आधार है? यही हम खोजते हुए चले हैं।" तब उन्होंने कहा- 'तुम ठीक कहते हो, इसमें झगड़े की कोई बात नहीं है। चलने दो तुम्हारा संघकार्य।' उसी प्रकार स्याद्वाद की भी कई ने टीका की है कि इसमें दृढ़विश्वास नहीं। ऐसी स्थिति में जब हम कहते हैं कि- हमारी ऐतिहासिक परंपरा, महापुरुष एवं जीवनादर्शों को माननेवाला हिंदू है, तो इन जीवनादर्शों से हमें क्या अभिप्रेत है? यह प्रश्न उठता है।

हम देखते है कि 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' यह विचार केवल हिंदू में ही मिलता है।

दूसरा विचार, जो हमारे यहाँ कहा गया कि जगत् के ऐहिक सुखोपभोग का निषेध न करते हुए श्रेय का विचार करो। अन्यों ने 'प्रेय', याने ऐहिक सुखोपभोग का विचार करते हुए सुख के लिए स्वयं के बाहर खोज की, वे बहिर्मुखी हुए। हमारे यहाँ कहा कि सुख बाहर नहीं, अपने अंदर ही है और इसीलिए अंतर्मुख होने के लिए कहा गया। इसी अंतर्मुखता को 'श्रेय' कहा। ईसा मसीह में थोड़ी-बहुत मात्रा में अंतर्मुखता है, किंतु ईसाइयों ने इसका विचार नहीं किया। यह अंतर्मुखता की बात एक 'कारोलरी' (अनुमान) है, पर इसको एक प्रकार की वैश्विकता प्राप्त होती है।

अब जब हम समाज-रचना का विचार करते हैं तो यह बात आती है कि श्रेयस् की प्राप्ति सबको हो। सबको श्रेयस् प्राप्त कराने की बात का प्रेरणा-स्रोत क्या है? उसका सैद्धांतिक अधिष्ठान स्पष्ट रूप से हमारे यहाँ बताया गया है। वह अधिष्ठान है आत्मा का एकत्व, उसकी अनुभूति। बाकी लोगों का अनेकात्मवाद है। उनकी रचना को सैद्धांतिक अधिष्ठान नहीं। वैसे, उन्होंने भी एक पिता और बाकी उसके पुत्र- यह बात मानी, पर हमारे यहाँ इस विचार को भी पूर्णत्व तक पहुँचाते हुए कहा गया कि पिता ही पुत्र के रूप में जन्म लेता है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता १८-६१)। इतनी एकात्मता की बात अन्यत्र कहीं नहीं कही गई। सब प्रकार समाज की भलाई के विचार में जो सिद्धांत अनुस्यूत है, वह है आत्मा के एकत्व का।

किंतु हमारे यहाँ इसके अनुसार व्यवहार नहीं हुआ। अन्य

लोगों ने यह सिद्धांत नहीं माना, किंतु व्यवहार उन्होंने इसी के आधार पर किया। हजारों मील दूर से मिशनरी आकर जंगलों में जाते हैं और अनेक प्रकार के कष्ट सहन करके भी वहाँ के दीन-दुःखी निवासियों का कष्ट-निवारण करने का प्रयत्न करते हैं। हम अपने घर से बाहर २५ मील दूर के एक गाँव में भी जा नहीं सकते। यदि हमने केवल सिद्धांत बोले और उन्हें व्यवहार में नहीं लाया, तो हम केवल हँसी के पात्र बनेंगे।

प्रश्न : हमारे सिद्धांत उच्च होते हुए भी हमारा व्यवहार निकृष्ट क्यों है? और दूसरों के सिद्धांत श्रेष्ठ न होते हुए भी उनका आचरण ऊँचा क्यों है?

उत्तरः इस प्रश्न का उत्तर देना जरा कठिन है। हमारे यहाँ कर्म सिद्धांत को गलत समझ लेने के कारण इस प्रकार का विचार चल पड़ा कि यदि किसी को निकृष्ट जीवन प्राप्त हुआ है, तो यह उसके पिछले जन्मों का परिणाम है, इसीलिए हम उसकी चिंता क्यों करें? इसी के परिणामस्वरूप, हर एक को उसके भाग्य पर छोड़ देने की बात आ गई, किंतु वे यह भूल गए कि उनके सामने ऐसे दीन-दुःखी और पतित-जीवन व्यक्ति होते हुए भी उनके प्रति अपने कर्तव्य की अवहेलना कर वे पापकर्म कर रहे हैं।

प्रश्न : इसी आधार पर लोग कहते हैं कि कर्म-सिद्धांत यदि समझ में नहीं आता और उसे न समझने से ऐसे परिणाम होते हैं तो फिर अपनाया ही क्यों जाए? क्यों न अन्यों के सिद्धांतों का पालन किया जाए, जिनके परिणाम अच्छे निकलते हैं?

उत्तरः वे सिद्धांत अपूर्ण होने के कारण आगे चलकर सारे संघर्षों को टाल नहीं सके। यदि परिपूर्ण सुखमय जीवन निर्माण करना है तो हमारे सिद्धांतों को ही अपनाना होगा, किंतु हमें अपना व्यवहार ठीक करना होगा और अन्यों को अपने सिद्धांत बदलने होंगे, फिर सब एक हो जाएगा। कोई भेद नहीं रहेगा।

प्रश्न : अपने सिद्धांतों के अनुरूप आर्थिक रचना का विचार क्या होगा?

उत्तरः अब जहाँ आर्थिक पुनर्रचना की बात आती है, क्या किसी भी प्रकार की कल्याणकारी आर्थिक रचना हमारे उपर्युक्त सिद्धांतों के साथ नहीं बैठ सकती? रूस की कम्युनिस्ट अर्थरचना को ही लें। क्या हमारे

यहाँ नहीं कहा गया कि संपत्ति सब भगवान की है? रूस में यह व्यवस्था चलाई गई 'नो वर्क, नो ब्रेड', पहले काम करो, काम करने के बाद एक चिट मिलेगी, उसको दिखाकर भोजन प्राप्त कर लो, भोजन पेट भर खा सकते थे, किंतु दुसरे दिन के लिए बचाना मना था। किंतु धीर-धीरे असुविधाजनक होने के कारण इसे छोड़ देना पड़ा। ईसा ने भी कहा 'हमें आगामी कल की चिंता नहीं करनी चाहिए। पक्षी चिंता नहीं करते। अतः कठोर परिश्रम के पश्चात् पेटभर भोजन से अधिक आपका और कोई अधिकार नहीं।' हमारे यहाँ भी कहा गया है कि पेट भरने के लिए जितना लगता है, उसपर तुम्हारा पूरा अधिकार है; उससे अधिक पर नहीं। अपने यहाँ यह बात अमल में नहीं आई। पहले कभी आई होगी तो पता नहीं। अस्तु। किसी भी प्रकार की कल्याणकर अर्थरचना अपने वैश्विक सिद्धांतों के साथ बैठ सकती है।

अब हम यह सोचें कि कर्म करने की स्वतंत्रता और कर्म के आधार पर अपना विकास करने की स्वतंत्रता कुछ मात्रा में स्वीकार करनी पड़ेगी या नहीं? यह बात हमारे यहाँ स्वीकार की गई है। इहलोक और परलोक में विकास करने का सबका अधिकार माना गया है, किंतु इसमें एक ही नियंत्रण है कि ऐसा विकास समाज के संपूर्ण सुख में बाधक न बने। इन दोनों का सामंजस्य बिठाकर चलनेवाली अर्थरचना की पद्धति स्वीकार करनी चाहिए, हम इतना ही कह सकते हैं। इसके विवरण में जाने का कार्य उनका है, जो प्रत्यक्ष इस क्षेत्र में कार्य करते हैं। यह जटिल है, कठिन है, इसमें संदेह नहीं। आजकल औद्योगीकरण के कारण अनेक समस्याएँ हैं, ऐसा कहा जाता है। पहले भी औद्योगीकरण किसी न किसी मात्रा में था ही, उसका स्वरूप भिन्न होगा, पर औद्योगीकरण था। तो अर्थनीति जाननेवाले उपर्युक्त सिद्धांतों को आधार बना कर सोचें।

परंतु इन सब बातों का विचार करते हुए भी हमें विशेष ध्यान देना होगा। जो अपना जीवनदर्शन है, उसके आधारपर व्यक्ति-व्यक्ति में सद्गुणों का विकास करने की व्यवस्था करनी होगी। इसके लिए उपर्युक्त शिक्षा-पद्धति और उसके भिन्न-भिन्न उपायों का एवं साधनों का विचार करना होगा। जिसे 'श्राव्य-दृश्य' पद्धति कहते हैं, उस सबका भी उपयोग किया जा सकता है। यह करना भी

सरल नहीं, जटिल है, पर इसे करना होगा।

अब अपना भी दिन-प्रतिदिन का संघकार्य चलता है। उसमें भी क्या उस गुणसंपदा के विकास की ओर ध्यान नहीं देना पड़ेगा? अपने सिद्धांतों में आस्था निर्माण करना, उनके आधार पर सद्गुण निर्माण करने का प्रयत्न करना और इसके लिए उपयुक्त उदाहरण सामने रखना आवश्यक है। स्वयंसेवकों के मन पर ये संस्कार करने होंगे। केवल राजनीतिक और आर्थिक सिद्धांत बताने से काम नहीं होगा। ये सिद्धांत तो 'अमुख्य' होंगे, 'मुख्य' बात प्रत्येक स्वयंसेवक पर संस्कार करने की है।

जीवन के मूल सिद्धांतों के आधार पर स्वयंसेवकों में गुणसंपदा का विकास हो इसके लिए कितना मजबूत आधार चाहिए, इस ओर ध्यान देना होगा।

प्रश्न : देश के पुनर्जागरण की दिशा क्या हो?

उत्तर: अपने कार्य को 'हिंदू पुनर्जागरण' कहा है। यह बीच-बीच में होता रहा है। पुनर्जागरण के प्रयास भिन्न-भिन्न स्तरों पर होते रहे। धर्म के आधार पर सौ वर्ष पहले से पुनर्जागरण प्रारंभ हो गया। राममोहन राय, दयानंद, केशवचंद्र, विवेकानंद, अरविंद आदि धर्मजागरण, संस्कृति-जागरण करनेवाले महापुरुष बहुत बड़ी संख्या में हुए, जिन्होंने कहा कि धर्म ही राष्ट्रजीवन का सार है, उसी के आधार पर राष्ट्र आगे बढ़ेगा।

इसका दूसरा पहलू है। अंग्रेजों का राज्य यहाँ से चला गया। अब आगे राष्ट्र का सम्मानित, सशक्त, सुखी जीवन खड़ा हो- इसके लिए संघ के रूप में अपना प्रयत्न चल रहा है। वैसे यह आकांक्षा सभी की है, चाहे वे किसी भी दल के हों। सबके मन में यह इच्छा रहना स्वाभाविक है। पुनर्जागरण की प्रक्रिया में यह भाग पूरा करना सभी के लिए अभिलषित है।

पर विचार की बात है कि किसके सम्मानित, सुखी और सबल जीवन के लिए हम प्रयत्न करते हैं? हम तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हम हिंदू के लिए ऐसा प्रयत्न करते हैं, किंतु बाकी लोगों में यह बात अस्पष्ट है। संदेह, भय, आशंका आदि के कारण बाकी के लोग अस्पष्ट हैं। असंदिग्ध रूप से हमने ही कहा कि हम हिंदू

का इस प्रकार का विचार करते हैं।

हिंदू नाम से पहचाना जानेवाला समुदाय इस भू-प्रदेश से चिरंजीव नाता जोड़कर खड़ा है। उसका पुनर्जीवन और पुनर्जागरण उचित है या नहीं? कुछ का कहना है कि केवल हिंदू का ही क्यों, सबका क्यों नहीं? ऐसा कहने पर हिंदू का कोई अस्तित्व नहीं रहता। यदि हमने कहा कि हिंदू नाम का कोई जीवन नहीं, उसके आधार पर कोई अर्थनीति, समाजनीति, शिक्षानीति नहीं तो फिर हिंदू-जीवन के अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं रहता।

प्रश्न : कुछ लोगों का कहना है कि ये हिंदू आदि की बातें आज कोई उपयोगी नहीं, हम पूरी 'क्रांति' चाहते हैं। पुरानी सब चीजों को समाप्त कर देना चाहते हैं।

उत्तर: संसार में 'क्रांति' हुई हैं, परंतु परंपरा का सूत्र नहीं टूटा। 'कन्टीन्युअस आर रिवोल्युशनरी इवोल्यूशनस्' हुए हैं। जहाँ-जहाँ परंपरा का सूत्र टूटा, वहाँ-वहाँ उनका अपना समाज-जीवन समाप्त हो गया।

प्रश्न : चीन के बारे में आपका क्या कहना है?

उत्तर: चीन ने अपना सूत्र नहीं छोड़ा। वे बड़े पक्के लोग हैं। कुछ दिन और जाने दो। उनकी पूरी परंपरा प्रकट हो जाएगी। चारों ओर अपना प्रभाव फैलाने की उनकी जो योजना है, वह उनके पुराने सम्राटों की ही परंपरा है।

प्रश्न : 'बौद्ध चीन' के बारे में आपका क्या विचार है?

उत्तर: बौद्धमत वहाँ कभी गहराई में नहीं उतरा। उन्होंने केवल चोले के नाते उसे पहना। वह उनकी 'जीवनपद्धति' नहीं बनी। एक विद्वान ने मुझे बताया कि चीन तो कन्फ्युशियस का ही चीन है। कन्फ्युशियस के भी कुछ मोटे-मोटे सिद्धांत ही उन्होंने लिए हैं, बाकी तो सब उनके सम्राटों के सिद्धांत ही रहे हैं। कम्युनिज्म तो एक 'अस्थायी कालखंड' है। उनका जीवन इतना भ्रष्ट हो गया था कि इस प्रकार की कठोर शस्त्र-क्रांति के अतिरिक्त दूसरा चारा नहीं था। यह उनके लिए ठीक ही हुआ।

वनस्पतीय और पाशविक जीवन में स्थिति भेद इसी प्रकार होता है। अपने यहाँ धर्म-क्रांति हुई। अनेक पुरानी बातें पूरी तरह

बदल दी गईं। गीता के समय यज्ञ आदि कर्मकांड पूरी तरह समाप्त कर उसकी जगह द्रव्य-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ आदि की बात रखकर 'क्रांति' ही की गई। किंतु पंचयज्ञ के नाम पर पुराना सूत्र कायम रखा गया। आज जिस प्रकार सर्वभ्रष्ट मानव हम खड़ा कर रहे हैं, उससे तो यहाँ भी उथल-पुथल हो सकती है। उस समय कौन इसमें से मुख्य जीवन-सूत्र खंडित न करते हुए, पुनर्जीवन का निर्माण करेगा, यह देखना है। वह व्यक्ति भी हो सकता है या व्यक्ति-समूह भी। यह अपने ऊपर निर्भर है। कुछ का कहना है कि यदि उथल-पुथल होगी ही तो इसे बलात् तुरंत क्यों न किया जाए? किंतु कच्चे फोड़े को काटने पर वेदना अधिक होती है। उसे पकने दो। उथल-पुथल की अवस्था में हमारी भी कोई भूमिका हो सकती है या नहीं, यह सोचना चाहिए। चीन में पकने की स्थिति अमरीका के प्रभुत्व के कारण आई। अपने यहाँ अभी पकने की स्थिति बनी हुई है। सूत्र खंडित न करते हुए चलना पड़ता है। हमारा हिंदू राष्ट्र है, उसकी जीवन-प्रणाली है, परंपरा है। इस परंपरा के सूत्र को खंडित न करते हुए इस हिंदू राष्ट्र को स्वस्थ, सबल और सुखी बनाना है।

प्रश्न: यह हिंदू राष्ट्र है। इस सिद्धांत पर जो आपत्ति करते हैं, वे ऐसा समझते हैं कि हिंदू राष्ट्र में मुसलमानों और ईसाइयों को दबाया जाएगा तथा जो पुराने जमाने में जाति और वर्ण-व्यवस्था थी, उसी को लाकर उसके आधार पर छुआ-छूत बढ़ाकर ब्राह्मणों का वर्चस्व स्थापित किया जाएगा। ऐसे विकृत और विपरीत अर्थ का वे हम पर आरोप करते हैं और कहते हैं कि ये विचार देश के लिए घातक हैं, संकटकारी हैं।

उत्तर: अब संकुचितता का, सांप्रदायिकता का हम पर आरोप होता है। कोई एक भी उदाहरण तो दिखा दे, जब अन्य मतावलंबी को हमने कभी कष्ट दिया। हमने उनका सम्मान किया, उन्हें स्थान दिए, उनके प्रार्थना-मंदिर बनवाए। इन उदाहरणों के बाद भी यदि कोई कहता है, तो वह दुष्टबुद्धि से कहता है।

ईसाई, मुसलमान, हिंदू सब साथ रहने चाहिए– यह भी केवल हिंदू ही कहता है, मुसलमान या ईसाई नहीं। हमारा किसी उपासना-पद्धति से द्वेष नहीं, परंतु राष्ट्र के विरोध में जो भी खड़ा

होगा, फिर वह प्रत्यक्ष अपना पुत्र ही क्यों न हो, तो अहल्याबाई या छत्रपति शिवाजी महाराज के समान व्यवहार का आदर्श हमारे यहाँ है। तब राष्ट्रविरोधी यदि अन्य मतावलंबी हुआ तो उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार करेंगे– यह कहने में हमें हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। आज तो बात उल्टी हो रही है। शत्रु होने पर भी देशभक्ति का चोला पहननेवालों को मित्र बनाते हैं और जो दिनरात अपने देश की हितचिंतना करते हैं, उन अपनों का ही निषेध करते हैं।

अब आगे की बात। अपने यहाँ कहा है कि यह कलियुग है, इसमें सब वर्ण समाप्त होकर एक ही वर्ण रहेगा। ४ लाख २७ हजार वर्ष तक एक ही वर्ण रहेगा। इसको मानो। अपने मन में वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था का नाम सुनते ही बड़ी हिचकिचाहट उत्पन्न हो जाती है। हम 'ॲपोलोजेटिक' हो जाते हैं।

हम दृढ़तापूर्वक कहें कि एक समय ऐसी व्यवस्था थी। उसने समाज का बड़ा उपकार किया। आज उपकार दिखता नहीं, तो हम उसको छोड़कर नई व्यवस्था बनाएँगे।

जीवशास्त्र में जो विकास है, वह बिल्कुल सादी रचना से जटिलता की ओर होता है। जीव की सबसे प्राथमिक अवस्था में हाथ, पैर कुछ नहीं होते। माँस का लोथ रहता है। उसी से सब काम– खाना, पीना, निकालना– सब वह करता है। जैसे-जैसे उसका विकास होता है, वैसे-वैसे 'फंक्शनल ऑरगन्स' (कर्मेंद्रियाँ) प्रकट होने लगते हैं, यह 'इवोल्युशनरी प्रोसेस' (उत्क्रांत प्रक्रिया) सामाजिक जीवन में है। जिनमें ऐसा विकास नहीं है, वे 'प्रिमिटिव सोसायटीज' (आदिम समाज) हैं। केवल मारक अस्त्र आदि बना लेना विकास नहीं है। स्वामी विवेकानंद ने समाज के अनेक दोषों की बुराई करते हुए भी चातुर्वर्ण्य को ही सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था माना है। अस्तु। हम तो समाज को ही भगवान मानते हैं, दूसरा हम जानते नहीं। समष्टिरूप भगवान की सेवा करेंगे। उसका कोई अंग अछूत नहीं, कोई हेय नहीं। एक-एक अंग पवित्र है, यह हमारी धारणा है। इसमें तर-तम भाव अंगों के बारे में उत्पन्न नहीं हो सकता। हम इस धारणा के आधार पर समाज बनाएँगे। भूतकाल के बारे में क्षमाप्रार्थी होने की कोई बात नहीं। दूसरों से कहें कि तुम क्या हो? मानव सभ्यता के शताब्दियों लंबे कालखंड में तुम्हारा योगदान कितना

रहा? आज भी तुम्हारे प्रयोगों में मानव-कल्याण की गारंटी नहीं। तुम हमें क्या उपदेश देते हो? यह हमारा समाज है। अपना समाज हम एकरस बनाएँगे। उसका अनेक प्रकार का कर्तृत्व, उसकी बुद्धिमत्ता सामने लाएँगे, उसका विकास करेंगे।

प्रश्न : संघ में हम अस्पृश्यता नहीं मानते। परंतु समाज में से उसका निवारण करने के लिए और भी कोई कार्यक्रम लेने की हम सोच सकते हैं क्या?

उत्तर: अब अस्पृश्यता-निवारण की बात कही गई है। उसका कोई कार्यक्रम लेने से काम बनेगा क्या? महात्मा जी ने अस्पृश्यता-निवारण को कांग्रेस के कार्यक्रमों में सम्मिलित कराया और उसके लिए बड़े प्रयत्न किए। उसका परिणाम क्या हुआ? हरिजन दूर गए। अलग नाम देने से पृथकता की भावना बढ़ी। गाँधी जी ने तो यह नाम इसलिए दिया था कि पुराने नामों के साथ जो संबंध हैं, उनके कारण जो भाव मन में उत्पन्न होते हैं, वे इस 'हरिजन' नाम के साथ उत्पन्न नहीं होंगे। उन्होंने सोचा तो ठीक था, पर वह भाव दूर नहीं हुआ।

एक हरिजन नेता से डाक्टर हेडगेवार जी और मेरा– दोनों का संबंध था। वे कहते थे कि संघकार्य बहुत अच्छा है, पर संघ हमारा सच्चा शत्रु है, क्योंकि बाकी सब हमारा पृथक अस्तित्व स्वीकार करते हैं, हमारे पृथक अधिकार आदि की बातें करते हैं। पर संघ में जाकर तो हमारी पृथकता ही समाप्त हो जाएगी और हम केवल हिंदू रह जाएँगे। फिर विशेषाधिकार आदि कैसे मिलेंगे। पृथकता का भाव उनमें कटुता तक पहुँच गया था। इसमें मुझे कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि जो लोग उनके पास मुकदमे ले कर जाते थे, वे दूर से फाइल फेंक देते थे। इससे उनके मन में बड़ी चिढ़ उत्पन्न हुई। इसी कटुता, पृथकता के भाव के कारण उनके मन में यह विचार आया कि हिंदू समाज में डूब गए तो हमारा क्या होगा?

सन् १९४१ में एक महार लड़का मुझसे मिलने आया। उसने पूछा कि संघ में आने से हमें क्या लाभ होगा? मैंने कहा कि तुम अपने को पृथक मानते हो और दूसरे तुमको पृथक मानते हैं– यह पृथकता की दीवार ढह जाएगी। यह लाभ है या नहीं? लड़के ने तो माना, पर साथवालों ने नहीं माना, क्योंकि उनके विचार में उससे अधिकार, राजनैतिक लाभ आदि बातें समाप्त हो जाएँगी।

पृथकता का पोषण न करते हुए उनकी व्यथाएँ दूर होंगी– ऐसा कुछ कर सकते हैं क्या? यह सोचना होगा। अन्यथा समस्याएँ ही खड़ी होंगी।

छुआछूत का भाव बहुत गहरे तक पहुँचा हुआ है। ब्राह्मणों में भी छोटी-बड़ी जातियाँ है, जिनमें कई एक-दूसरे के हाथ का पानी नहीं पीते थे। अब तो सब ठीक हो गया है, पर पहले ऐसा होता था। हरिजनों में भी एक-दूसरों की छाया सहन न करनेवाले लोग हैं। समस्या भयानक है। अस्पृश्यता केवल ब्राह्मण आदि ही मानते हैं, इतना कहना पर्याप्त नहीं है। इसमें बहुत परिश्रम करना पड़ेगा। बहुत शिक्षा देनी होगी। पुराने संस्कार धोने होंगे, नए देने होंगे। बहुत वर्षों से अंदर घुसी हुई ऐसी विचित्र भावनाएँ हैं, जिन्हें बलपूर्वक दूर करने से काम नहीं चलेगा। इससे पृथकताएँ बढ़ेंगी। इस संबंध में बहुत सोचना पड़ेगा।

१६. समारोप

(३ नवंबर १९७२)

हम लोगों ने यहाँ संघ का विचार और चिंतन किया। अपने यहाँ महापुरुषों ने ऐसा कहा है कि जिसे हम जानते हैं, उसी का पुनर्विचार और चिंतन करो। उससे अपना विचार पक्का होता है। मनुष्य में अनेक गुणों के साथ विस्मरण का अवगुण रहता है। विस्मरण से कार्य के विषय में अपनी धारणा विपरीत न बने, कार्य का ज्ञान सुस्पष्ट और असंदिग्ध रूप से रहे, इसलिए समय-समय पर काम का विचार और चिंतन आवश्यक रहता है।

धर्मरक्षण अति महत्त्वपूर्ण

अपना यह कार्य संघशाखा के रूप में चलता है। शाखा में हम एक-दूसरे से मिलते हैं, अपने समाज की संस्कृति और परंपरा का स्मरण कर मातृभूमि का वंदन करते हैं, और अपने राष्ट्रजीवन की धारणा का स्मरण कर निश्चय करते हैं कि अपने इस राष्ट्र को हम श्रेष्ठ, अति वैभवसंपन्न बनाएँगे। वैभव की अपनी कल्पना में हमने केवल धन-संपत्ति

और सत्ता-प्राप्ति में संतोष नहीं माना। वह संपत्ति और सत्ता धर्मानुकूल, धर्मरक्षणार्थ और धर्मपालनार्थ रहने से ही हम संतोष मानेंगे। धर्म की रक्षा का हमने सबसे अधिक महत्त्व माना है, और वह करते हुए राष्ट्र को परम वैभव प्राप्त करा देंगे– ऐसा अपनी प्रार्थना की अंतिम दो पंक्तियों में कहा है। ध्वज के सम्मुख प्रार्थना करते हुए अपने अंतःकरण का यह पवित्र निश्चय हम अभिव्यक्त करते हैं धर्म-रक्षण के बिना स्वतंत्रता और वैभव हमारे लिए निरर्थक है, ऐसी अपनी प्रारंभ से ही निश्चित धारणा है।

'धर्म' शब्द बहुत व्यापक है, परंतु उसकी व्याख्या अपनी प्रार्थना में आ जाती है। जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस– दोनों प्राप्त होते हैं वह धर्म है। धर्म के परिपालन का अंतिम श्रेष्ठतम फल निःश्रेयस है, यह व्याख्या अपनी प्रार्थना में है। मनुष्य-जीवन का परिपूर्ण स्वरूप हमने अपने सामने रखा है। जब शरीर धारण कर हम लोग विचरण करते हैं तो शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ेगी। परंतु शरीर और मन की आवश्यकताओं की पूर्ति में हमें डूबना नहीं है। मनुष्य-जीवन के श्रेष्ठतम लक्ष्य का विचार कर उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना है। प्रत्येक मनुष्य अक्षय सुख, याने अमरत्व चाहता है। उसकी इच्छा करता है। जिसका परिचय ही नहीं, उसे पाने की अपने मन में कभी इच्छा उत्पन्न नहीं होती। यह अमरत्व और अक्षय सुख अपने अंदर विद्यमान है, हमसे अति परिचित हैं, इसलिए उसकी चाह भी उत्पन्न होती है। इसकी पूर्ति मनुष्य किस प्रकार करे?

अक्षय सुख

इंद्रियजन्य सुख जितने हैं, सब दुःखांत हैं। इसलिए विचारशील पुरुष सोचता है कि मेरे अंदर ही यदि यह अमरत्व विद्यमान है और उसके कारण प्राप्त होनेवाला सुख अक्षय है, तो उसे अपने अंदर ही खोजना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करते-करते उसे यह अनुभव होता है कि अपना जो वास्तविक अस्तित्व है, सच्चा है और जिसके कारण हमारी चेतना है, यह अतीव सुखमय है। 'सत् चित् सुखम्'।

अब इसे प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष आचरण कैसा रहे? शरीर और मन की उपभोग-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हुए बाकी बातों का विस्मरण हो जाता है। इसलिए अपनी निरतिशय सुखमय चेतना की अनुभूति हेतु कई नियम बनाने पड़ते हैं। अपने यहाँ महापुरुषों ने कुछ

नियम बनाए हैं। प्रतिदिन अपने स्वतः का चिंतन करें, ऐसा कहा है। अपने स्वतः का चिंतन करना, सामान्य मनुष्य के लिए बहुत कठिन है। भगवद्‌गीता के बारहवें अध्याय का प्रारंभ ही अर्जुन के इस प्रश्न से होता है कि जो अव्यक्त, कहीं न दिखनेवाला है, उसका हम चिंतन करें या किसी व्यक्त रूप का? भगवान ने उसका उत्तर बहुत स्पष्ट दिया है। वे कहते हैं कि चाहे अव्यक्त का चिंतन करो या उसके किसी इष्ट रूप का, अंततोगत्वा तुम मेरे पास ही आओगे।

सूर्योपासना

इष्ट के बारे में कोई नियम नहीं। कोई भी इष्ट रखो, उसे रूप दो और उसको अपने संपूर्ण मन का केंद्र बनाकर तथा वहीं अपने स्वतः के सुखपूर्ण जीवन का सही रूप में केंद्र है– ऐसा समझकर कुछ चिंतन करो। यह अपने यहाँ की पद्धति है। अपने यहाँ परमेश्वर के विविध स्वरूप सामने रखे गए हैं। उनमें से सब लोगों के लिए चिरपरिचित है सूर्य भगवान का स्वरूप। सबसे प्रसिद्ध मंत्र गायत्री छंद में है। यह है सावित्रिमंत्र, जो सविता से, याने सूर्य से संबंधित है।

सर्वसामान्य मनुष्य के लिए सूर्य का ही स्वरूप चिंतन करने योग्य है, ऐसा विचार अपने यहाँ महापुरुषों ने क्यों रखा? इस विषय में कहते हैं कि अपनी ग्रहमालिका वगैरह उसी से उत्पन्न हुई, उसी से नियंत्रित है, उसके ही चारों ओर चक्कर काट रही है और उसी से अपना पोषण पाती है। यदि सूर्य उनका पोषण बंद कर दे तो सब नष्ट हो जाएगा। सब चराचर सृष्टि अनंत आकाश में और शून्य में विलीन होकर कुछ भी शेष नहीं रहेगा। समग्र सृष्टि का निर्माण करनेवाला, याने प्रसविता सविता ही है। इसलिए उसका प्रतिदिन चिंतन करना चाहिए– ऐसा अपने यहाँ कहा गया है। भारत से निर्माण हुए सभी पंथ-संप्रदायों में, सूर्य भगवान की उपासना भिन्न-भिन्न रूप में है। सूर्य भगवान का एक रूप आदित्य भी है, और ये सब श्रीविष्णु के रूप हैं। कहा है–

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।

(गीता १०-२१)

आदित्य तेजोमय है। मनुष्य के सर्वसामान्य व्यवहार, पृथ्वी और अप् (जल)– इन दो तत्त्वों के आधार पर होते हैं, परंतु सामान्य स्थिति के ऊपर का अपना जो व्यवहार होता है, उसमें प्रथम तत्त्व है तेज। तेज और

उष्णता का अपने को अनुभव होता है। तेज और उष्णता अग्नि के गुण हैं। इसलिए अपने यहाँ जो वेद के ज्ञान-भंडार है का पहला शब्द है 'अग्नि', और 'मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ'– यह है पहला मंत्र। अपनी संपूर्ण शिवोपासना का स्वरूप अग्नि की ही उपासना है। प्राचीन काल में बताया गया कि यज्ञ की, याने अग्नि की ही उपासना प्रत्येक व्यक्ति को करनी चाहिए। स्थूल दृष्टि से सबको बताया गया कि यदि अग्नि की उपासना नहीं करोगे तो जठराग्नि तुम्हारा अन्न हजम नहीं करेगी। अतः कम से कम जठराग्नि की उपासना तो प्रत्येक को करनी ही पड़ेगी। कोई भी रूप हो, वह एक ही चेतना का, एक ही सत्य का द्योतक है। वह समग्र सृष्टि में व्याप्त है। उस सृष्टि को नियंत्रण करनेवाले तत्त्व का सबके अनुभव में आनेवाला स्थूल स्वरूप सूर्य का है। इसलिए सूर्य का कुछ न कुछ चिंतन अवश्य करना चाहिए। हम लोग यह कितना कर पाएँगे, यह हर एक के ऊपर निर्भर है।

समाज-जीवन का आधार

आजकल भिन्न-भिन्न प्रकार के आर्थिक और राजनैतिक वाद चारों ओर चल रहे हैं, परंतु उनमें पिछड़े हुए और दरिद्र लोगों की चिंता करने का बहाना बनाकर अपनी सत्ता की अभिलाषा पूर्ण करने का ही प्रयास दिखाई देता है। सत्ता-प्राप्ति के संघर्ष में पीड़ित लोगों को साधन बनाकर बलि के बकरे जैसा उनका उपयोग हो रहा है। इन आर्थिक और राजनैतिक वादों से पीड़ित लोगों के प्रति अपने हृदय में निरपेक्ष प्रेम निर्माण नहीं होता।

ऐसी अवस्था में अपना तत्त्वज्ञान ही सही मार्ग बताता है। अपने यहाँ कहा है कि संपूर्ण सृष्टि भगवान का स्वरूप है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'। इस सृष्टि में जो कुछ भी है, भगवान ही है और वह सबमें व्याप्त है। हम दूसरों के प्रति प्रेमभाव और भलाई की इच्छा इसलिए रखते हैं कि जो तत्त्व (भगवान) उसके अंदर है, वह हमारे अंदर भी विद्यमान है। उनके अंदर जो है, वह यदि भूखा है, तो उसका कष्ट हमें भी होता है, क्योंकि दोनों में कष्ट का अनुभव करनेवाला एक ही है। इसलिए उस कष्ट को दूर करने का प्रयत्न स्वाभाविक है। आजकल अपना व्यक्तिगत स्वार्थ अत्यधिक मात्रा में बढ़ जाने के कारण, इस स्वाभाविक अवस्था का अनुभव हमें नहीं होता, परंतु सबमें वही आत्मा, एक ही

सत्‌तत्त्व है, और वही अपने अंदर है, इसलिए अपने को अत्यंत प्रिय है। पश्चिमी देशों की भाँति 'थ्योरी ऑफ कॉन्ट्रैक्ट' के आधार पर अपने यहाँ परस्पर प्रेम की कल्पना नहीं है। सबमें एक ही सत्‌तत्त्व विद्यमान है, इसलिए सबके संतोष में स्वयं संतोष अनुभव करना ही भारतीय परंपरा में समाज-जीवन का आधार रहा है। समय-समय पर आवश्यकताओं के अनुसार, समाज-जीवन की रचना इस ठोस आधार पर अपने यहाँ रही है।

पाश्चात्य समाज-रचना

अन्य देशों में सामाजिक जीवन में जो संघर्ष निर्माण हुए, वे प्रतिक्रिया के रूप में हैं। राजा के हाथों में सत्ता आ जाने से सामंतशाही आई। सामंत दुष्ट बन गए और उन्हीं दिनों यंत्रों के आविष्कार से औद्योगिक क्रांति होने के कारण जिन्होंने धनसंचय किया, उन्होंने धन के बलपर अपनी सत्ता प्रस्थापित कर ली। फिर लोगों ने व्यक्ति स्वातंत्र्य आदि मीठे शब्दों का उपयोग करके क्रांति की। 'लिबर्टी, फ्रेटर्निटी एंड ईक्वैलिटी' शब्दों का उपयोग कर फ्रांस में क्रांति हुई। इन शब्दों का आजकल बहुत बोलबाला है और ये शब्द लोगों को बहुत प्रिय भी हैं। परंतु इन शब्दों से जो अर्थबोध होता है, उस विषय मे यदि हम गहराई से सोचें, तो हम समझ सकते हैं कि वास्तविक रीति से 'लिबर्टी' पूर्णतः कभी रह नहीं सकती, क्योंकि एक व्यक्ति की लिबर्टी, दूसरे की लिबर्टी से मर्यादित रहती है। समाज के बंधनों का स्वीकार करना यदि लिबर्टी माना जाए तब तो ठीक है, अन्यथा जब व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त होगा, वह जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाएगा, तभी उसे सच्ची लिबर्टी प्राप्त होगी, इसलिए यह पहला सिद्धांत गलत है।

वैसे ही 'फ्रेटर्निटी', याने बंधुता की कल्पना भी थोथी है। हम तो कहते हैं कि हम एकात्म हैं। अपने और समाज के प्रत्येक व्यक्ति के अंदर एक ही सत्‌तत्त्व विद्यमान है, इसका उनको अनुभव ही नहीं। इसलिए दूसरा सिद्धांत भी उनके लिए निरर्थक है।

'इक्वैलिटी' भी दुनिया में कहीं नहीं है। एक ही प्रकार के बीज बोने पर भी उनसे निकलनेवाले पौधे और वृक्ष समान आकार, ऊँचाई और फल देनेवाले नहीं मिलते। एक ही माता-पिता के कन्या-पुत्रों का रूप एक जैसा नहीं रहता। जुड़वाँ बच्चों में भी कुछ दिनों तक ही समानता दिखती है। बाद में वे बदल जाते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति समान नहीं रहते। कुछ लोग

अधिक बुद्धिमान, चतुर और कर्तृत्ववान रहते है। इस तरह इक्वैलिटी भी पूर्ण सत्य नहीं।

इक्वैलिटी, फ्रेटर्निटी आदि शब्दों के आधार पर जो क्रांति हुई वह सामंतशाही की प्रतिक्रिया थी। परिणामस्वरूप कतिपय अधिक बुद्धिमान और कर्तृत्ववान लोगों के हाथ में संपत्ति और सत्ता आ गई। संपत्ति और सत्ता का जोड़ समाज में सबसे कठिन अवस्था निर्माण करता है। भारतीय परंपरा में संपत्तिवान को सत्ता नहीं थी। जिनके पास सत्ता थी उनको संपत्ति तो मिलती थी, परंतु उसका प्रतिवर्ष वितरण करने के लिए उन्हें कहा गया है। बुद्धिमानों को कहा गया कि झोंपड़ी में रहो, खाने-पीने की वस्तुओं का संग्रह करने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसा अपने यहाँ समाज-जीवन का चित्र था। परंतु पश्चिमी देशों में जब संपत्ति के कारण सत्ता आई और उसके दुष्परिणाम के विद्रोहस्वरूप अनेक प्रकार की विचार-प्रणालियों का एक सामुदायिक शब्द 'समाजवाद' एक प्रतिक्रिया के रूप में सामने आया।

इस समाजवाद की प्रक्रिया के रूप में सब प्रकार की सत्ता समाप्त होकर समग्र मानव-समाज किसी भी प्रकार के नियंत्रण के बिना बड़े सुख और आनंद से रहेगा- ऐसा कहा जाता है। 'एनार्किज्म,' 'विदरिंग अवे ऑफ दि स्टेट' इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है। इस विचारधारा के प्रणेता 'प्रिंस क्रोपाट्किन' की पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद मैंने देखा है। उस विषय में बातचीत करते समय मैंने एक से पूछा- एनार्किज्म' की अवस्था में सब लोग एक-दूसरे को न खाते हुए, न मारते हुए, 'लॉ ऑफ दि जंगल' का पालन न करते हुए कैसे रहेंगे? इसके लिए आधार क्या है? क्या आप सृष्टि के नियंता हैं कि आपके कहने मात्र से लोग सुचारु रूप से रहने लगेंगे? इसका कोई उत्तर उनके पास नहीं था। हमारे श्रेष्ठ पुरुषों ने कहा कि जब मनुष्य उन्नत होता है, तो राजसत्ता की आवश्यकता न रहे- ऐसी अवस्था आती है। फिर दंड-सत्ता की आवश्यकता नहीं रहती। धर्म सब लोगों को सूत्रबद्ध रखता है। धर्म की अपनी यह कल्पना बहुत व्यापक है। समझने में कठिन अवश्य है, पर समाजद्रष्टा महापुरुषों ने कहा कि इसे समझने का प्रयास करना चाहिए।

धर्म के आधार पर समाज-रचना

धर्म के आधार पर समाज, राजनीति, अर्थनीति सबकी व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे हम समाज के व्यक्ति-व्यक्ति से तादात्म्य की अनुभूति

कर, समाज के सब प्रकार के कल्याण के लिए प्रयत्नशील हो सकें। यह कल्पना रहने के कारण, उसके अनुसार अपना व्यवहार भी बनाना पड़ेगा। उपकार या दया करने की भावना से नहीं, तो समाज के व्यक्ति-व्यक्ति से तादात्म्य के कारण सबसे दुःख में सहभागी बनने की भावना अपने प्रत्यक्ष व्यवहार में आनी चाहिए। दया करने की भावना का हमें स्पर्श भी न हो। रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद कहते थे– 'उपकार या दया करनेवाला तू कौन है? इतनी बड़ी अखंड मंडलाकार सृष्टि में रजकण से छोटी यह पृथ्वी, और उस पृथ्वी पर कीटक से छोटा तू कहता है कि मैं दया और उपकार करता हूँ– यह कहाँ का वृथा अभिमान?' वे कहते थे– 'समाज के प्रत्येक व्यक्ति को भगवान का रूप समझकर उसकी पूजा करने की भावना से काम करो। सबकी अंतरात्मा संतुष्ट हो– इसलिए प्रयत्न करो।' क्षुधार्त को खाना, तृषार्त को पानी, निराश्रित को आश्रय, विवस्त्र को वस्त्र– ये सब प्रयत्न करने के लिए अपने यहाँ कहा है। समाज की सुव्यवस्था कैसी होगी, उसके लिए राज्य-व्यवस्था कैसी उचित होगी, अर्थनीति में नियंत्रण किस प्रकार रहेंगे, किस प्रकार नियम रहेंगे, यह सब आप लोग अवश्य विचार करें।

समाज सद्‌गुणसंपन्न बने

एक बात हम स्पष्ट रूप से समझें कि केवल नियमों के आधार पर तो समाज-धारणा आज तक हुई नहीं। उन नियमों का पालन करने की धर्मश्रद्धा, नियमों का पालन करने में कष्ट होने पर भी उनके पालन का आग्रह रखने की स्वार्थरहितता, श्रेष्ठ चारित्र्य आदि गुणों से संपन्न लोगों के द्वारा ही कोई भी व्यवस्था सफल हो सकती है। 'सभी मनुष्यों की समानता का विचार करके हर व्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार उसे खाना-पीना मिलेगा, उसकी क्षमता के अनुसार उसे काम दिया जाएगा'– ये समाजवाद के सिद्धांत तो बहुत अच्छे हैं, पर ये सिद्धांत बोलकर जो काम हुए, उनमें से तानाशाही निकली। यह सब दुनिया में हुआ। कारण, मनुष्य-जीवन के संपूर्ण स्वार्थों का नियंत्रण करनेवाला, उसके अंदर के सच्चे सुख की उसे अनुभूति करवाकर चारों ओर की भोग प्रवृत्ति की अभिलाषा से उसे परावृत्त करनेवाला धर्म वहाँ नहीं है। समग्र समाज में एक ही सत्‌तत्त्व भरा हुआ है इस अनुभूति के आधार पर समाज को बाँधनेवाला धर्म यदि रहा, तो ही सुचारु रूप से समाज के सब व्यवहार चलते हैं।

इसलिए ऐसी व्यवस्था का विचार करो, जिसमें अपने सिद्धांतों से प्रेरित होकर हम लोग कार्य कर सकें। इसके लिए चारित्र्यसंपन्न याने धर्मनिष्ठ; स्वार्थशून्य, याने समग्र समाज का हित ही जिनका स्वार्थ है, दूसरा कोई नहीं; सत्ता, प्रतिष्ठा, मानसम्मान इत्यादि अभिलाषाओं को अपने हृदय से उखाड़ फेंकनेवाले और समाज के श्रेष्ठत्व और उसकी प्रतिष्ठा मे परिपूर्ण संतोष माननेवाले स्वयंसेवकों की काफी बड़ी संख्या हमें चाहिए। राष्ट्र की चेतना, सब प्रकार के दुःखों का निवारण करनेवाली पवित्र शक्ति, सभी प्रकार के संकटों के सामने दीवार जैसी खड़ी रहकर राष्ट्र को सुरक्षित रखनेवाली सामर्थ्यसंपन्न शक्ति– ऐसा संघ का स्वरूप हमें समाज के सम्मुख रखना है। ऐसा अपना स्वरूप हम चाहते हैं। इसलिए सब प्रकार से प्रयत्न करते हुए समाज के साथ एकरूप बनकर व्यक्ति-व्यक्ति को चुनकर उनको सुसंस्कारित करते हुए, हर समय चिंतन द्वारा अपने संस्कारों को पवित्र और शुद्ध रखते हुए, बहुत ही प्रयत्नपूर्वक हमें अपने कार्य का विस्तार करना पड़ेगा। अपना विशाल समाज कई जातियों से बना हुआ है। सभी जाति, उपजाति, पंथ-उपपंथों में तथा ग्रामवासी, वनवासी, नगरवासी सबमें हमें अच्छे युवक मिलेंगे। हम उन्हें चुनकर अपने संस्कारों से शुद्ध, चारित्र्यवान, राष्ट्रहितार्थ समर्पित, सत्ता की कोई अभिलाषा नहीं– ऐसी शक्ति के रूप में उन्हें खड़ा करें। इस शक्ति के उपासक के नाते समाज में सभी को प्रेरणा देनेवाले, सबका ठीक प्रकार से मार्गदर्शन करने की क्षमता रखनेवाले, परंतु सब गुण होने पर भी बड़प्पन के अभिमान से सर्वथा मुक्त ऐसे हम लोग, इस शक्ति की उपासना में अहोरात्र लगे रहें।

समर्पण-भाव

अपने व्यक्तिगत जीवन में अनेक प्रकार के निजी कामों का दायित्व सँभालते हुए समाज-कार्य, राष्ट्र-कार्य और धर्म-कार्य के लिए अपनी शक्ति और समय का प्रत्येक कार्यकर्ता अधिक से अधिक उपयोग करे। अपने समय का अधिकतम उपयोग अपने पवित्र कार्य के लिए हो, इसकी ओर हमारा ध्यान रहे। मनुष्य यदि उचित ढंग से सोचेगा, तो वह पर्याप्त मात्रा में समय निकाल सकता है। अपना समर्पण-भाव प्रतिवर्ष बढ़ते रहना चाहिए। परिणामस्वरूप श्रीगुरुदक्षिणोत्सव में अपनी दक्षिणा बढ़ाना अपने लिए आवश्यक हो जाएगा।

अपने दैनंदिन व्यवहार में भी संघकार्य का ध्यान रखा जाना

चाहिए। उदाहरणार्थ– जो वकील है, उसके पास सलाह लेने चोर और डाकू भी आ सकते हैं। अतः उन्हें समझाया जाए कि चोरी करना सामान्य बात नहीं। हर एक वह नहीं कर सकता। इसलिए इन गुणों का उपयोग कर, परराष्ट्रों की गुप्त बातों की चोरी करो। अपने ही यहाँ चोरी कर, अपने भाइयों को भूखा रखने में तुमको क्या आनंद? इस प्रकार अपने पास आनेवाले चाहे ग्राहक हों या मरीज, सभी से संघ के विषय मे बातचीत करो।

अपने कार्य के दो स्वरूप हैं। एक तो है दैनंदिन शाखा। अपने दिनभर के काम का हिसाब-किताब करने का, अनुशासन सीखने का, एक-दूसरे के साथ कंधा रगड़कर समग्र समाज के संबंध में अपने हृदय में अभेद वृत्ति विकसित करने का वह स्थान है। अपने ध्येय का, प्रार्थना के रूप में, ध्वज के दर्शन के रूप में स्मरण करने का स्थान है अपनी शाखा। दैनंदिन शाखा पर होनेवाले कार्यक्रम सुचारु रूप से करने से संघस्थान पर होनेवाला अपना कार्य परिपुष्ट होगा।

इस एक घंटे को छोड़कर बाकी बचे हुए समय का उपयोग समग्र समाज से व्यक्ति-व्यक्ति चुनकर उन्हें अपने साथ लाने के प्रयास हममें से प्रत्येक को करना चाहिए। स्वतः के संस्कारों को शुद्ध करते रहना संघकार्य का अंतरंग है। वह भी चौबीसों घंटे चलते रहना चाहिए। अपने संघ का शाखा के रूप में चलनेवाला कार्य, उसका बहिरंग है। उसमें लोगों के साथ निकटतम संपर्क के द्वारा आत्मीयता का वायुमंडल बढ़ाने का काम भी चौबीसों घंटे चलते रहना चाहिए। इस प्रकार यदि हम लोग प्रयत्न करेंगे, तो थोड़े ही दिनों में समाज के अंदर सब लोग जिसकी आवाज सुनते हैं और मानते हैं, ऐसी शक्ति के रूप में हम खड़े हो सकेंगे। अपने समाज, देश और राष्ट्र के लिए आज यह बहुत आवश्यक है।

हम लोग कहते हैं कि समाज के सुसंस्कारित बनने में, उसके धर्म के रक्षण में समग्र मानव का कल्याण है। यह सिद्ध करने के लिए हमें अपने व्यक्तिगत जीवन में अपने अंतःकरण के संस्कार शुद्ध करने की दृष्टि से और कार्य का बहिरंग स्वरूप परिपुष्ट करने की दृष्टि से प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता है।

जिसमें संघकार्य का आत्मविश्वास है, वह सारी दुनिया को ठोकर मारकर यश प्राप्त कर लेता है। जब वह कहता है 'आय विल सक्सीड',

तो उसके अंदर का भगवान बोलता है। फिर उसे यश कैसे नहीं मिलेगा? अपने अंदर ऐसा भाव रखकर, हिम्मत से काम में लगना चाहिए। ईश्वर की कृपा से आपको कार्य की पूरी प्रेरणा मिलेगी, ऐसा मुझे विश्वास है।

नैतिकता निःसंदेह अच्छी है और अनैतिकता निःसंशय बुरी। किंतु बुरी होते हुये भी अनैतिकता में एक अच्छाई यह है कि अनीति के कारण नीति–मूल्य ध्यान में आते हैं – कम से कम इसका अनुभव होता है कि हम नीति से फिसल रहे हैं। परन्तु नीति–निरपेक्षता निश्चित रूप से एक भयानक संकट है। क्योंकि उसमें नीति और अनीति दोनों के विषय में एक निर्मम उदासीनता बनी रहती है। जो अनीतिमान या पापी है, वह कभी न कभी अपने जीवन का नया पृष्ठ पलट सकता है। परन्तु नीति–निरपेक्ष व्यक्ति अच्छे–बुरे की समस्त अवधारणाओं को खूँटी पर टाँग देता है। अतः उसके रोग का मानो उपाय ही नहीं हो सकता। ऐसे लोग समाज–सुधार की दृष्टि से अत्यन्त भयानक हुआ करते हैं।

– श्री गुरुजी

शब्द संकेत : खंड २

फ फ फ

खंड ७ : पत्राचार

संतवृंद, विदेशस्थ बंधु, नेतागण, अन्य मतानुयायी, माता, भगिनि, प्रबुद्ध जन तथा सामाजिक संस्थाओं के कार्यकर्ताओं को लिखे पत्र।

खंड ८ : पत्र-संवाद

स्वयंसेवकों व कार्यकर्ताओं को लिखे पत्र।

खंड ९ : भेंटवार्ता

प्रश्नोत्तर, वार्तालाप, प्रमुख लोगों से वार्तालाप। पत्रकारों के सम्मुख भाषण। महत्त्वपूर्ण भेंट तथा अनौपचारिक चर्चाएँ।

खंड १० : संघर्ष के प्रवाह में

प्रतिबंध के समय सरकार से हुआ पत्राचार। उस समय दिये गए वक्तव्य। आभार प्रदर्शन। बाद के अभिनंदन समारोह। भारत–चीन व भारत–पाकिस्तान युद्ध के समय की जनसभाएँ, बैठकें, शिविर, पत्रकार वार्ता तथा वक्तव्य।

खंड ११ : चिंतन-सुधा

संपादित विचार नवनीत

खंड १२ : स्मरणांजलि

श्री गुरुजी के बारे में महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, संसद व विधानसभा तथा समाचार–पत्रों द्वारा श्रद्धांजलि।

डा. हेडगेवार स्मारक समिति, नागपुर